गृह-विज्ञान

उत्तर-प्रदेश की इंटर परीक्षा के गृह-विज्ञान विषय के
पाठ्य-क्रम के आधार पर लिखित

लेखिका

डा० कंचनलता सब्बरवाल

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रिंसिपल, महिला विद्यालय, लखनऊ।
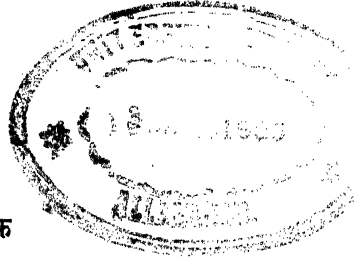
प्रकाशक

हिन्दी-भवन

इलाहाबाद

१५५]

[मूल्य ६)

प्रकाशक—

इन्द्रचन्द्र नारंग

हिन्दी भवन

३१२ रानी मंडी,

इलाहाबाद ३

मुद्रक—

इन्द्रचन्द्र नारंग

कमल मुद्रणालय

३१२ रानी मंडी

इलाहाबाद ३.

दो शब्द

हिन्दी में गृहविज्ञान की उपयुक्त पुस्तकों की कमी तो है ही। इंटर की परीक्षा के लिए निश्चित गृह अर्थशास्त्र अथवा गृह-विज्ञान के पाठ्यानुसार लिखी गई कोई भी पुस्तक न होने के कारण पिछले कुछ वर्षों से मेरी सहकर्मी बहिनों और छात्राओं ने मुझे इस प्रकार की पुस्तक लिखने के लिए प्रायः विवश ही कर दिया था। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं की प्रेरणा का फल है। इसमें प्रयत्न तो यही किया गया है कि गृह-विज्ञान के समस्त आवश्यक पहलुओं पर दृष्टि डाली जाए।

श्रीमती प्रेमलता लाल, श्रीमती जनकनन्दिनी श्रीवास्तव और डाक्टर अमृत कोहली से मुझे इस कार्य में सहायता मिली है। वे अपनी ही हैं अतः उन्हें धन्यवाद कैसे दूँ?

लखनऊ १८-३-५५ कंचनलता सब्बरवाल

विषय-सूची

विषय-परिचय

भाग १—शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान

शरीर-विज्ञान

भाग २—समाज-शास्त्र और शिशु-पालन

विषय-परिचय

सुखी गृहस्थ

सुख के लिए कुशल गृह-प्रबन्ध की आवश्यकता—मानव एक समाजप्रिय जीव है। जन्म से ले कर मरण पर्यन्त हम किसी न किसी समाज में रहते हैं, उसका अंग होते हैं। बाल्यकाल से लेकर जीवन के अन्तिम क्षणों तक कोई न कोई सामाजिक वातावरण हमें चारों ओर से घेरे रखता है और उसका हमारे जीवन पर पूर्णरूपेण प्रभाव भी पड़ता है। भोजन, वस्त्र और सुरक्षा इन तीन मानवीय माँगों के अतिरिक्त जिन्हें कि हम शारीरिक माँगें कहते हैं, मानव को सुखी होने के लिए कुछ ऐसी माँगों को पूर्ति की भी आवश्यकता होती है जिन्हें कि हम मानसिक माँगें कह सकते हैं, जैसे कि मानसिक शान्ति, परस्पर विश्वास आदि। यूँ तो गम्भीरतापूर्वक मनन तथा विश्लेषण किया जाए तो सम्भवतः मानसिक माँगों की तह में भी हमें शारीरिक माँगें ही दिखाई देंगी फिर भी मानसिक माँगों का भी अत्यधिक महत्त्व है ही, अन्यथा हमें वे व्यक्ति दुःखी दिखाई ही नहीं देते जिन्हें भरपेट स्वादिष्ट भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और सुरक्षा के सब ही साधन सहज प्राप्य होते हैं। वस्तुतः सुख के साधारणतया दो पक्ष होते हैं, शारीरिक सुख और मानसिक शान्ति। एकाकी मानव तो सुख का उपयोग सम्भवतः कर ही नहीं पायेगा अथवा यूँ कहना चाहिए कि आज के विश्व में, मानव-सभ्यता का विकास जितना हो चुका है उसे देखते हुए एकाकी मानव की कल्पना करना भी व्यर्थ सा ही है। अतः मानव को समाज में रहना पड़ता है और समाज ही उसे एक ऐसा वातावरण देता है जिससे कि वह प्रभावित होता भी है और जिसे कि वह प्रभावित करता भी है। इस वातावरण में कुछ लौकिक तथ्य होते हैं और कुछ रीति-व्यवहार सम्बन्धी नियम एवं परम्पराएँ तथा कुछ अन्य इसी प्रकार के सांस्कृतिक तथ्य

भी होते ही हैं। इन सब से प्रभावित होते हुए ही बालक अपने चरित्र का निर्माण करता है। यही नहीं, इन्हीं प्रभावों को लिये-दिये वह अपने आपको सुखी अथवा दुःखी मानता है। सब ही परिवारों में सारी लौकिक सुविधाएँ सुलभ हों हो, ऐसी बात भी नहीं है और केवल मात्र लौकिक सुविधाओं की सहज प्राप्ति मानव को सदा-सर्वदा सुखी भी नहीं बना पाती है। अतः यह कहना किसी एक सीमा तक सत्य है कि 'सुख', भौतिक एवं शारीरिक सुख भी केवल मात्र सब ही सुविधाओं की प्राप्ति से ही नहीं मिल जाता है वरन् जिस समय जिस सुविधा की आवश्यकता है उसकी उचित मात्रा में प्राप्ति ही सुख का कारण हो सकती है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि सुखी जीवन के लिए कुशल प्रबन्ध की भी आवश्यकता है। सब ही वस्तुएँ होते हुए भी यदि उनका उपयोग ठीक ढंग से और ठीक समय पर न किया जाए तो वह सुखदायक नहीं होगी। गृहस्थ जीवन में तो गृह-प्रबन्ध सम्बन्धी कुशलता की और भी अधिक आवश्यकता है। समाजशास्त्र सम्बन्धी अन्वेषणों एवं परीक्षणों ने यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि दुःखी गृहस्थ जीवन में पलने वाले बालक विकृत चरित्र और व्यक्तित्व ले कर ही बड़े होते हैं। अतः 'बालकों को अपने विकार-रहित एवं अच्छे चरित्र एवं व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर सुखी गृहस्थ जीवन में ही दिया जा सकता है और गृहस्थ जीवन तब ही सुखी हो सकता है जब कि गृह-प्रबन्ध कुशलता-पूर्वक किया जाए। पति-पत्नी के निरन्तर होने वाले झगड़े, बालकों को झिड़कना, पीटना आदि नन्हें भावी नागरिकों का जीवन नष्ट ही कर देते हैं अतः गृहिणी, माता अथवा स्त्री का सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि वह अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाए। सम्भवतः विश्व की कोई भी नारी यह इच्छा नहीं करती होगी कि उसका गृहस्थ जीवन सुखी न हो। फिर भी अधिकांश घरों में सुख कहीं दिखाई भी नहीं पड़ता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सुख भौतिक और मानसिक दोनों ही पक्षों को ले कर चलता है। मानसिक पक्ष की चर्चा तो हम यथास्थान करेंगे ही, यहाँ तो इतना ही कह देना आवश्यक है कि लौकिक सुख-सामग्री को ऐसे ढंग से उपस्थित करना जिससे कि जो भी कुछ सहज प्राप्य हो उसका ही ठीक और

आवश्यकतानुसार यथा-अवसर उपयोग किया जा सके, सुख का कारण हो सकता है और यह गृहिणी की गृह-प्रबन्ध-कुशलता पर ही निर्भर रहता है। गृहस्थी के अधिकांश झगड़ों का कारण वस्तुओं का अभाव न होकर होता है उनका समय पर प्राप्त न होना, अथवा इस ढंग से उपस्थित किया जाना जो कि परिवार के सदस्यों में झुँझलाहट और क्षोभ उत्पन्न करे। अतः प्रत्येक महिला के लिए गृह-प्रबन्ध करना सीखना अत्यन्त आवश्यक है।

गृह-प्रबन्ध के अंग—घर में प्रायः सब ही प्रकार की उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है जो कि मानव के लिए क्षुधा-शान्ति, सुरक्षा और अन्य इसी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से उपयोगी हैं। इस प्रकार की वस्तुओं को एकत्रित करना गृहस्थ-जीवन में आवश्यक होता है। प्रायः वस्तुएँ धन से क्रय की जा सकती हैं अतः जीविकोपार्जन सर्वप्रथम आवश्यक है। परिवार की सृष्टि स्त्री और पुरुष के विवाह अर्थात् एकत्रित रहने से होती है। साधारणतया पुरुष का उत्तरदायित्व वस्तुओं को एकत्रित करना होता है। वह अर्थोपार्जन करता है और उस उपर्जित अर्थ द्वारा वस्तुएँ क्रय की जाती हैं। ये वस्तुएँ भोजन, वस्त्र, घर उसकी सजावट आदि से सम्बन्ध रखती हैं। इनकी माँग की सीमाएँ स्त्री और पुरुष की माँग से कुछ आगे बढ़ कर उनकी सन्तान की माँग तक भी चली जाती हैं। प्रायः पुरुष द्वारा उपार्जित धन का उपयोग स्त्री करती है। धन उपार्जन करने का कोई एक विशेष मापदण्ड सदा-सर्वदा सब ही देशों और समाजों में स्थिर नहीं किया जा सकता है। कुछ लोग अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अर्थ न्यून मात्रा में अर्जित कर पाते हैं और कुछ अधिक मात्रा में। इस प्रकार के न्यूनाधिक अर्जन के कारणों और तत्सम्बन्धी सामाजिक व्यवस्था पर हम इस स्थान पर प्रकाश नहीं डाल पायेंगे किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-स्तर उसकी अर्थोपार्जन शक्ति से सम्बन्धित होता है और प्रत्येक व्यक्ति की अर्थोपार्जन-शक्ति दूसरे व्यक्तियों की शक्ति से भिन्न होती है। यही नहीं, अर्थोपार्जन का सम्बन्ध केवल मात्र व्यक्ति की अर्थोपार्जन-शक्ति से ही नहीं है वरन् अनुकूल अवसर प्राप्ति का प्रभाव भी उस पर यथेष्ट रूप से पड़ता है। कारण कुछ भी हों, यह तो

सत्य ही है कि व्यक्तियों द्वारा उपार्जित अर्थ की मात्रा में प्रायः सब ही देशों एवं समाजों में पर्याप्त भिन्नता रहती है और उसी भिन्नता के कारण उनके जीवन-स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रायः समाज में विवाह सम्बन्ध समान जीवन स्तर वाले परिवारों के स्त्री पुरुषों में ही होते हैं किन्तु यह भी सत्य है कि सदा-सर्वदा ही ऐसा नहीं हो पाता है। अतः स्त्री में सबसे बड़ा गुण तो यह होना चाहिए कि वह अपनी परिस्थितियों को समझ सके और उनसे आनुकूल्य, समीकरण स्थापित कर सके। गृह-प्रबन्ध तब ही ठीक ढंग से चल सकता है जब कि गृहिणी में परिवार के सब ही सदस्यों की आवश्यकताओं को समझ कर उनकी पूर्ति के लिए उपलब्ध साधनों को ही पर्याप्त बना सकने की योग्यता हो तथा ऐसा करते हुए उसे न तो मानसिक कष्ट ही हो और न खीझ ही। यदि किसी भी बालिका में परिस्थितियों को समझने और उनसे समझौता करके समीकरण करने की योग्यता होगी तो वह कुशल गृहिणी बन सकेगी। यद्यपि यह ठीक ही है कि जिस घर परिवार में वह पली और बड़ी हुई है उसकी एक गहरी छाप उसके मन एवं चरित्र पर पड़ी होगी किन्तु उसमें यह भी योग्यता होनी चाहिए कि वह उस वातावरण एवं उन परिस्थितियों से भिन्न वातावरण और परिस्थितियों में भी अपने आपको दुःखी किये बिना ठीक ढंग से रह सके तथा उन्हीं का सर्वाधिक सुन्दर उपयोग कर सके।

मितव्ययिता और कृपणता इन दोनों में बहुत अन्तर है। कृपणता का अर्थ है अपनी और अपने परिवार की आवश्यक माँगों की पूर्ति करने के लिए आवश्यक धन का व्यय करने में भी संकोच करना और मितव्ययिता का अर्थ है आवश्यक से अधिक अथवा व्यर्थ ही व्यय होने वाले धन की बचत करना अथवा जहाँ बिना किसी प्रकार की हानि उठाए अथवा कष्ट किये धन की बचत की जा सकती है वहीं बचत करना? सुगृहिणी को कृपण नहीं होना चाहिए किन्तु दूसरी ओर व्यर्थ की शान में आ कर फिजूलखर्च भी नहीं होना चाहिए तथा अपनी मूर्खता से एक के स्थान पर चार पैसे व्यय करनेवाली भी नहीं होना चाहिए वरन् मितव्ययी होना चाहिए अर्थात् उचित मात्रा में उचित अवसर पर उचित ढंग से ही व्यय करना चाहिए और वह भी इस प्रकार से

जिससे कि वस्तुओं का अधिकाधिक उपयोग हो सके। जहाँ कि कृपणता जीवन के आनन्द को नष्ट कर देती है वहीं फिजूलखर्ची मनुष्य को ऋणग्रस्त करके अनेकानेक चिन्ताओं में फँसा देती है। चिन्ता के चंगुल में फँस कर मनुष्य दुःखी, चिड़चिड़ा और क्रोधी स्वभाव का हो जाता है। अतः मितव्ययिता एक बहुत बड़ा गुण है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का मितव्ययी होना अधिक आवश्यक है क्योंकि स्त्री ही वास्तव में गृहस्थी की गाड़ी को सुचारु रूप से चला सकती है। यूँ तो पुरुष और स्त्री दोनों मिल जुल कर ही गृहस्थी का काम चलाते हैं किन्तु मितव्ययी स्त्री न केवल पुरुष की अर्थ सम्बन्धी चिन्ताओं में ही कमी करती है वरन् अपने आपत्ति काल के लिए भी कुछ न कुछ धन बचा लेती है जिससे उसका और उसके परिवार का जीवन बहुत कुछ निश्चिन्त हो सकता है।

परिवार के सदस्यों का स्वस्थ रहना परिवार में सुख की वृद्धि करता है। गृहपति यदि अस्वस्थ होंगे तो गृहिणी न केवल उनके स्वास्थ्य के ही लिए चिन्तित होगी वरन अर्थ की ओर से भी चिन्ताग्रस्त हो जायेगी क्यों कि एक तो अस्वस्थ होना औषध आदि का व्यय अपने साथ लाता ही है और दूसरी ओर अर्थोपार्जन में भी बाधा डालता है। फलस्वरूप अर्थ-सम्बन्धी चिन्ताओं का अन्त नहीं रहता। गृहिणी यदि स्वयं अस्वस्थ रहती है तो वह शरीर से न तो घर-गृहस्थी के काम काज की देखभाल ही समुचित ढंग से कर सकेगी और न पति को प्रसन्न ही रख सकेगी। व्यय तो बढ़ ही जायेगा अतः गृहस्थ जीवन सुखी नहीं रह सकेगा। बच्चों के रोगी रहने से पति-पत्नी दुःखी भी होंगे और अर्थ-चिन्ता भी बढ़ ही जायेगी। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि परिवार के सब ही सदस्यों का स्वास्थ्य उत्तम रहना चाहिए। शरीर तो एक यन्त्र है। उसे जितने भी अधिक सुचारु ढंग से रखा और चलाया जायेगा वह उतना ही ठीक रहेगा। यदि भोजन ठीक और पुष्टिकर हो, भौतिक वातावरण स्वास्थ्यवर्द्धक हो और व्यायाम आदि स्वास्थ्य के सब ही नियमों का ठीक-ठीक पालन किया जाए तो कोई कारण नहीं हैं कि शरीर स्वस्थ न रहे। सुगृहिणी इस ओर भी ध्यान दे सकती है। वस्तुतः स्वास्थ्य तो सब ही सुखों का मुख्य कारण है और उस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

केवल मात्र पुष्टिकर भोजन और पर्याप्त विश्राम से ही मनुष्य स्वस्थ नहीं रहता है। स्वास्थ्य के अन्य नियमों का यथोचित पालन करना जब तक किसी व्यक्ति के स्वभाव में ही सम्मिलित नहीं हो जाता है तब तक वह सुखी नहीं रह पाता है। अतः बाल्यकाल से ही बालकों में स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा अन्य अच्छी आदतों को डालना भी गृहिणी का कर्तव्य है।

यही नहीं, घर में कुछ नौकर भी होते ही हैं। कभी-कभी दिन भर के और कभी-कभी कुछ ही देर के लिए कार्य करने वाले कर्मचारी भी होते हैं। गृहिणी को इन सब से कार्य लेना होता है अतः उसे इतना चतुर होना चाहिए कि इन सब से ठीक समय पर कार्य करवाया जा सके। वस्तुतः गृहस्थी के आधे झगड़े तो ठीक समय पर काम करने और करवाने से ही समाप्त हो सकते हैं। नौकरों के प्रशिक्षण की भी अत्यधिक आवश्यकता है और इस प्रकार का शिक्षण-प्रबन्ध गृहस्थों के घर में गृहिणी द्वारा ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—यदि घर में बर्तन माँजने के लिए महरी आती है तो यह आवश्यक है कि जिस समय वह आती है उस समय तक भोजन हो चुके। यदि उसे आकर भी यही सुनना पड़ता है कि "ज़रा ठहरो अभी तो बच्चों ने खाना नहीं खाया है" अथवा "अभी तो मैं खाना नहीं खा पाई हूँ" अथवा "अभी चौका खाली नहीं है" तो वह समय से आया भी नहीं करेगी। इस प्रकार उसका समय भी नष्ट होता है और घर में भी दूसरे समय के भोजन की व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं हो पाती है। अतः समयानुसार कार्य करना गृह-व्यवस्था का आवश्यक अंग है।

व्यवस्थित घर सुखदायी होता है। जिस घर में सब ही वस्तुएँ यथास्थान रखी रहती हैं, यहाँ तक कि नौकर और नन्हें बालक भी वस्तुओं को इधर-उधर नहीं करते हैं वहाँ समय पर किसी वस्तु के मिलने में कठिनाई नहीं होती है अतः झुँझलाहट और व्यर्थ समय नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार की व्यवस्था सुखदायी होती है।

निष्कर्ष—संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने के लिए गृहिणी में हर प्रकार के वातावरण से समीकरण स्थापित करने तथा किसी भी प्रकार की परिस्थितियों से उचित आनुकूल्य स्थापित

करने की क्षमता होनी चाहिए। किसी भी अवस्था में उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह प्राप्त वस्तुओं का अधिकाधिक सुन्दर उपयोग कर सके। इस गुण विशेष के आधार पर उसे परिवार के व्यक्तियों के स्वास्थ्य की ओर यथेष्ठ ध्यान देना चाहिए। उसकी गृह-व्यवस्था सुचारु और नियमानुकूल होनी चाहिए। गृहिणी का मितव्ययी होना आवश्यक है किन्तु उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि उसकी मितव्ययिता न तो कृपणता की सीमा तक पहुँच जाए और न फ़िज़ूलखर्ची की ही। इन दोनों के मध्य में किस केन्द्र-बिन्दु पर उसकी योजना-स्थिति रहे यह प्रत्येक चतुर गृहिणी स्वयं ही समझ सकती है। बच्चों को अच्छी आदतें डलवाना और अच्छी शिक्षा देना तथा नौकरों आदि के साथ उनकी और अपनी दोनों की ही सुविधाएँ देखते हुए ठीक-ठीक व्यवहार करना और उनसे ठीक समय पर ठीक कार्य करवाना भी गृहिणी का ही कार्य है। यह सब कुछ करके ही गृहिणी घर में सुख शान्ति बनाए रख सकती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुखी गृहस्थ जीवन बनाने का भार पूर्णतया गृहिणी पर ही है और उसे अपने कर्तव्यों को ठीक ढंग से समझना भी चाहिए। मानव के जीवन के दो भाग होते हैं। मानव-शरीर और मानव-मन इन दोनों को मिला कर ही किसी भी मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है। यदि शरीर सुखी एवं स्वस्थ हो किन्तु मन चिन्तित एवं दुःखी हो तो मानव सुखी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि सब ही प्रकार के मानसिक सुख होते हुए भी शरीर अस्वस्थ रहता हो तो मन सुखी रह ही नहीं सकता है अतः सुख-प्राप्ति के लिए न केवल अपना ही वरन परिवार के सब ही सदस्यों के शरीर स्वस्थ होने चाहिए। परिवार के किसी भी व्यक्ति का शरीर रोगी होने पर सारे परिवार पर चिन्ता की छाया पड़ जाती है अतः गृहिणी का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह परिवार के सब ही सदस्यों के भोजन-पान का पूरा-पूरा ध्यान रखे ताकि सब ही व्यक्ति स्वस्थ रह सकें। ऐसा कर पाने के लिए उसे भोजन-विज्ञान तथा पाक-क्रिया दोनों का ही भली प्रकार ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। यही नहीं, स्वयं गर्भवती होने पर उसे अपनी भावी सन्तान के स्वास्थ के लिए जो कुछ करना उचित है वह भी जानना चाहिए तथा मातृ-विज्ञान का भी जानना उसके लिए

आवश्यक है जिससे कि वह तनिक सी भी अपनी अज्ञानता अथवा असावधानी वश अपनी भावी सन्तान तथा परिवार की सुख-शान्ति नष्ट करने का कारण न बन जाए । अपने परिवार के लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा केवल मात्र उन्हें अच्छा भोजन दे कर अथवा अपने घर में स्वच्छता रख कर अथवा अन्य स्वास्थ्य के नियमों का पालन करके ही नहीं की जा सकती है। परिवार तो किसी न किसी समाज का ही अंग है। उसे किसी न किसी गली मोहल्ले में तो रहना ही पड़ता है अतः आस पास की अस्वच्छता का भी तो उस परिवार के सदस्यों के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ ही सकता है। अतः गृहिणी के लिए न केवल स्वास्थ्य के नियमों एवं भोजन-विज्ञान का ही जानना आवश्यक है वरन उसे सार्वजनिक स्वास्थ्य के सिद्धान्तों को भी जानना और समझना चाहिए जिससे कि उसका स्वार्थ भी सिद्ध होगा और परार्थ भी। अपना घर स्वच्छ करके गली में कूड़ा फेंक देने से भी तो वातावरण एवं मोहल्ले की स्वच्छता पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उसका परिणाम अपने परिवार के सदस्यों का अस्वस्थ होना भी तो हो सकता है। मोहल्ले के घरों की गन्दगी हटाने का, बरसात आदि के पानी के निकलने का भी कुछ उचित सार्वजनिक प्रबन्ध न होना उस क्षेत्र के सब ही व्यक्तियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाल सकता है अतः गृहिणी को सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा के भी नियमों का ज्ञान होना चाहिए।

अच्छे भोजन का सम्बन्ध व्यय से भी तो है ही और यह आवश्यक नहीं है कि अधिक धन दे कर ही अच्छा भोजन प्राप्त किया जा सके। भोजन, वस्त्र तथा अन्य गृहस्थी सम्बन्धी व्यवस्थाओं पर भी धन का व्यय करना और उचित ढंग से व्यय करना सीखना अत्यन्त आवश्यक है अतः सुगृहिणी के लिए अर्थ शास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तु का उपयोग और उसके लिए व्यय किये जाने वाले धन का उचित अनुपात गृह-व्यवस्था को सुचारु एवं सुव्यवस्थित बना सकता है। घर की सजावट, स्वच्छता एवं सुविधाजनक प्रबन्ध परिवार के सदस्यों के लिए सुखदायी होता है किन्तु यह सब करते हुए चतुर गृहिणी को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि गृहस्वामी की मानसिक चिन्ता में वृद्धि न हो। यदि गृहिणी अधिक खर्च कर देती है तो गृहस्वामी स्वस्थ शरीर, पुष्टि-

कर भोजन, आनन्दप्रद घर पा कर भी अर्थ-चिन्ता में ग्रस्त रहने के कारण दुःखी हो सकता है। शारीरिक सुख की तो आवश्यकता है ही किन्तु मानसिक सुख की भी तो उतनी ही आवश्यकता है और चिन्ताग्रस्त मन कभी भी सुखी नहीं हो सकता है अतः गृह-स्वामिनी को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे कि गृहस्वामी कभी भी अर्थाभाव-जन्य चिन्ता एवं दुःख ग्रस्त न हो।

अनेकों मानसिक दुःखों की उत्पत्ति मानव के एक दूसरे को न समझ पाने से ही होती है। पति-पत्नी में एक दूसरे को समझने की शक्ति, एक दूसरे की भावनाओं का आदर करने की योग्यता होना आवश्यक है। स्त्री स्वभाव से ही अधिक सहनशील होती है अतः उसे ही पति एवं बच्चों को समझ पाने का प्रयत्न करना चाहिए। यही नहीं जिस समाज के वे अंग हैं उसमें अपना उचित स्थान बनाना भी तो गृहिणी का ही कार्य है अतः उसे मनोविज्ञान, बालमनोविज्ञान और समाजशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए। बालक के जीवन का निर्माण तो माता ही करती है और उसकी तनिक सी भी त्रुटि एवं असावधानी बालक के सारे जीवन को नष्ट कर सकती है अतः उसे बालकों का लालन-पालन, उनका चरित्र-निर्माण अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में हम इन्हीं में से कुछ विषयों की चर्चा करेंगे। पुस्तक के प्रथम भाग में शरीर एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों की चर्चा रहेगी और दूसरे भाग में समाजशास्त्र एवं शिशु-पालन पर प्रकाश डाला जायेगा। यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से इन सब विषयों को पृथक् पृथक् देखा जा रहा है किन्तु गृहस्थ जीवन में इन सब का ज्ञान और प्रयोग गृहिणी को सम्पूर्ण रूप से ही करना चाहिए।

भाग १

शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान

शरीर-विज्ञान

अध्याय १

मानव-शरीर

शरीर का संगठन—यदि हम अपने शरीर की रचना को देखें तो हमको सबसे पहले त्वचा दिखाई पड़ती है। अब यदि त्वचा अथवा खाल को हटा कर देखें तो उसके नीचे मांस, चर्बी, रक्त नलिकाएँ, स्नायु-सूत्र और अस्थियाँ दिखाई पड़ेंगी। इनके नीचे अस्थि-निर्मित विविध गह्वरों और पिंजरों में शरीर के कोमल अंग सुरक्षित हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह शरीर के विविध अंग व अवयव किस वस्तु से बने हैं। शरीर की विविध चीज़ें जैसे त्वचा, मांस, रक्त, अस्थि, स्नायु इत्यादि एक पदार्थ से अथवा कई ऐसे पदार्थों के सम्मिश्रण से बने हैं। इस पदार्थ को तन्तु (Tissue) कहते हैं। तंतु (Tissue) हमारे शरीर में कई प्रकार के हैं और भिन्न-भिन्न वस्तुओं के तंतु भिन्न-भिन्न हैं और उनके भिन्न-भिन्न गुण हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) मांस तन्तु (Muscular Tissue) से हमारे शरीर की मांस-पेशियाँ बनी हैं। इनके सिकुड़ने और फैलने के गुण के कारण ही शरीर में गति उत्पन्न होती हैं। इसी से हमारे अंग अपना कार्य करते हैं। हृदय, फेफड़े, आमाशय, हाथ, पैर सब मांस-पेशियों से ही बने हुए हैं।

(२) स्नायु तन्तु (Nervous Tissue) से हमारा स्नायु-संस्थान अर्थात् मस्तिष्क, सुषुम्ना और स्नायु बने हैं—इनका कार्य शरीर को प्रेरणाएँ भेजना और शरीर का समाचार मालूम करना है; इस प्रकार ज्ञान सम्बन्धी सारे कार्य जैसे सोचना समझना, निर्णय करना सब इसी विभाग द्वारा होते हैं।

(३) जोड़ने वाले अथवा बंधक तन्तु (Connective Tissue) का कार्य है एक अंग को दूसरे अंग से जोड़ना। मांस-पेशियाँ इसी तंतु

के द्वारा त्वचा से जुड़ी हैं। शरीर में पाया जाने वाला कार्टीलेज भी एक प्रकार का बंधक तन्तु है क्योंकि वह एक हड्डी को दूसरी हड्डी से जोड़ता है। पसलियाँ छाती की हड्डी से Cartilege के ही द्वारा जुड़ी हैं। रक्त भी एक प्रकार का बंधक तन्तु है क्योंकि यह एक अंग से दूसरे अंग में जाता है और आक्सीजन तथा पोषक पदार्थ पहुँचाता है। अस्थि भी बंधक तंतु में आ जाती है क्योंकि शरीर के भागों को सीधा रखती है।

(४) त्वचा अथवा शरीर को ढकने वाला तंतु (Epithelial Tissue)—त्वचा भी इसी तंतु से बनी है। त्वचा हमारे सारे शरीर को ढके हुए हैं। श्लैष्मिक झिल्ली भी जो हमारे मुँह के अन्दर और आमाशय की भीतरी दीवार इत्यादि पर चढ़ी हुई है इसी तंतु से बनी है।

अब प्रश्न उठता है कि विविध तंतु किस पदार्थ से बने हैं। यदि किसी एक तंतु का खुर्दबीन (Microscope) की सहायता से निरीक्षण किया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि तंतु बहुत ही सूक्ष्म कणों का एक संगठन है। जिस प्रकार मिट्टी जिससे कि खिलौना बनाते हैं बारीक-बारीक असंख्य कणों का संगठन है उसी प्रकार तंतु भी बारीक-बारीक असंख्य कणों का जिन्हें सेल (cell) कहते हैं, एक संगठन है। प्रत्येक तंतु का सेल आकार और गुण में भिन्न होता है।

सेल (cell)

सेल जीव से बनता है और एक सेल से असंख्य सेल बनते हैं। जिस प्रकार रोग के एक जीवाणु से असंख्य जीवाणु उत्पन्न होते जाते हैं उसी प्रकार सेल भी एक से अनेक बनते हैं। एक सेल नर और मादा सेल के सम्मिश्रण से बनता है। इसी को बीज सेल (Germ cell) कहते हैं। बीज सेल बार-बार कई भागों में बँटता है। इस प्रकार एक बीज सेल के दो भाग होते हैं; दो के चार और चार के आठ, यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि असंख्यों सेल नहीं बन जाते हैं। फिर इन सेलों के अलग-अलग समूह बन जाते हैं और उनसे भिन्न भिन्न तंतु बनते हैं जिनके आकार और गुण भी भिन्न-भिन्न होते जाते हैं। इन तंतुओं के समूहों से ही शरीर के अंग व अवयव बनते हैं। शरीर के विविध

तंतु बनाने वाले सेल इस प्रकार हैं :—

(१) मांस-पेशियों के सेल (Muscle cells)—मांसपेशी को बनाने वाले सेल दो प्रकार के होते हैं; एक प्रकार के सेल तो धारीधार मांसपेशी (Striped muscle) को बनाते हैं और दूसरे प्रकार के सादा मांस पेशी का निर्माण करते हैं (Unstriped muscle cell) । खुर्दबीन के नीचे धारीदार मांसपेशी के सेल आकार में लम्बे और खिंचे हुए से दिखाई पड़ते हैं। इनको मांस सूत्र (muscle fibres) कहते हैं। यह अधिकतर शरीर के उन अंगों में पाये जाते हैं जो कि हमारी इच्छा के अधीन हैं जैसे हाथ पैर इत्यादि। यह दिल की मांसपेशी को भी बनाते हैं यद्यपि वह स्वाधीन है। सादी मांसपेशी के सेल छोटे-छोटे सूत्रों से बने हैं और उनके दोनों सिरे पतले और नोकदार होते हैं। यह अधिकतर स्वाधीन अंगों में पाई जाती है ; जैसे, आमाशय, भोजन की नली, आँतों इत्यादि में।

मांस-पेशियों के सेलों का गुण सिकुड़ना और फैलना है। इसी क्रिया के द्वारा ये शरीर के अंगों और अवयवों में गति उत्पन्न करते हैं।

(२) स्नायु के बनाने वाले सेल (Nerve cell)—इन सेलों से मस्तिष्क, सुषुम्ना और स्नायु बने हैं। ये सेल बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके बीच में जीवोज़ (Protoplasm) होता है और उसके बीच में भी एक गोल गाढ़ा पदार्थ है जिसको मीगी (Necleus) कहते हैं। जीवोज़ के चारों ओर शाखाएँ निकली रहती हैं और उन शाखाओं में से बहुत-सी प्रशाखाएँ भी निकली होती हैं। इन स्नायु सेलों में एक शाखा ऐसी होती है जिसमें दूसरी कोई प्रशाखा निकली नहीं रहती है। यह शाखा लम्बी होती है और इसपर एक चर्बीदार खोल-सा चढ़ा रहता है। यह स्नायु सूत्र है। इन सबको मिला कर न्यूरोन (Neuron) कहते हैं। इस प्रकार एक स्नायु सेल में दो चीज़ें होती हैं—स्नायु सेल और स्नायु सूत्र। मस्तिष्क में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं, श्वेत और धूसर। धूसर पदार्थ स्नायु सेलों के समूह से बनता है और श्वेत पदार्थ स्नायु सूत्रों से।

स्नायु सेलों का एक दूसरे से सम्बन्ध केवल शाखा-प्रशाखाओं के

उलझे रहने से ही होता है। इनका काम सोचना, विचारना, समझना और ज्ञान प्राप्त करना होता है। शरीर में मस्तिष्क से प्रेरणाएँ भेजना और संवेदना की अनुभूति करना इन्हीं सेलों का काम है।

(३) बंधक तन्तु के सेल (Connective tissue)—इस सेल से, अस्थियाँ, रक्त, कार्टीलेज, इत्यादि बने हैं।

अस्थियों के सेल एक आकार के नहीं होते हैं। यह सेल छोटे और बेढंगे आकार के होते हैं तथा खून की नलियों के पास-पास नलियों के चारों ओर यह एक घेरे में रहते हैं। ये पतली रक्त की दिवारों में से पोषक पदार्थ लेते रहते हैं। ये सेल अपने को चारों ओर से चूने की दीवारों से घेर लेते हैं और इस प्रकार शरीर का ढाँचा बनाते हैं।

रक्त भी इन्हीं सेलों से बनता है। इसमें दो प्रकार के सेल रहते हैं, श्वेत और लाल। ये एक प्रकार के तरल पदार्थ में तैरते रहते हैं। लाल सेलों का असली रंग हल्का पीला होता है परन्तु संख्या में अधिक होने के कारण रक्त का रंग लाल दिखाई देता है। लाल सेलों का काम फेफड़े में आई हुई आक्सीजन गैस को ग्रहण करना और शरीर में दौरा करते समय शरीर के दूसरे सेलों को वह आक्सीजन दे कर कार्बन डाइ आक्साइड ले लेना होता है। यह आकार में गोल होते हैं।

श्वेत सेलों का कोई खास आकार नहीं होता है बल्कि एक पानी के जीव अमीबा (Amoeba) की शक्ल के समान होता है। ये लाल सेलों से संख्या में कम होते हैं। ये अपना आकार बदलते रहते हैं और पतली-पतली रक्त की केशिकाओं की दीवारों में से दब कर निकल जाते हैं। यह शरीर के रक्षक हैं। ये शरीर में बाहर से आये हुए जीवाणुओं के चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं और उनको नष्ट कर देते हैं। इनकी शक्ति के ऊपर ही शरीर की रोग-नाशक शक्ति निर्भर रहती है।

(४) बाहरी शरीर को ढकने वाले सेल (Epithelial Cell)—यह सेल त्वचा, और श्लैष्मिक झिल्ली को बनाते हैं। इस प्रकार यह हमारे शरीर के बाहरी हिस्से को ढके हुए है। आमाशय के भीतरी भाग में, आँतों में,

मुँह के अन्दर इन सेलों से बनी श्लैष्मिक झिल्ली रहती है।

सेलों के चैतन्य होने के प्रमाण—सेल सजीव पदार्थ है इस तथ्य को नीचे लिखे पाँचों लक्षणों के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है:—

(१) जीवित मनुष्य के अंग हिलते-डुलते है, अर्थात् बाहरी संवेदनाओं से प्रभावित होकर गति उत्पन्न करते हैं।

(२) जो भी भोजन हम करते हैं उसको पचा कर अपने शरीर के योग्य कर लेते हैं और उससे शरीर में शक्ति और गर्मी उत्पन्न हो जाती है।

(३) शरीर बढ़ता है । बच्चे के उत्पन्न होने से लेकर शरीर बराबर बढ़ता रहता है।

(४) प्रत्येक जीव चाहे जड़ हो अथवा चेतन अपने ही प्रकार का जीव उत्पन्न करता है। वृक्ष में फल लगते हैं। और उनके बीजों से वैसे ही वृक्ष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पशु, पक्षी, सब अपने जैसे ही जीव उत्पन्न करते हैं।

(५) शरीर के विकार भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर के बाहर निकाले जाते हैं।

ऊपर लिखी बातें जीवित प्राणी ही कर सकते हैं। मरने के बाद यह सब बातें समाप्त हो जाती हैं। इस कारण से हमारे जीवित शरीर के सेलों में भी जीवन है यह मानना ही पड़ता है। सेलों की चेतनता से ही उनसे बने अंगों में चेतनता रहती है। सेलों के स्वास्थ्य पर ही शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है। रोगी दशा में शरीर का प्रत्येक सेल रोगी हो जाता है। सेल का स्वास्थ्य तभी ठीक रह सकता है जब कि हम उचितढंग का तथा उचित मात्रा में भोजन करें जिससे खून पोषक पदार्थों से युक्त रहे और सेल अपना भोजन ले सकें एवं शरीर के विकारों को नियमपूर्वक शरीर से बाहर निकालते रहें और शरीर को आक्सीजन गैस भी मिलती रहे।

सेल की बनावट (Structure of the Cell)—यदि खुर्दबीन की सहायता से हम सेल का निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि सेल को बनाने वाला एक पदार्थ होता है जिसको जीवोज (Protoplasm) कहते हैं। इसके बीच में एक गोलाई में गाढ़ा पदार्थ होता है जो मींगी (Nucleus) कहलाता है, यह मींगी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सेल का जीवन इसी में रहता है। इस

मींगी के अन्दर भी एक विन्दु सा दिखाई पड़ता है जिसको अनुमींगी कहते हैं। इसके अतिरिक्त सेल में और भी बहुत सी वस्तुएँ पाई जाती हैं।

शरीर का रासायनिक संगठन (Chemical Composition of the body)—हमारे शरीर के अंग व अवयव विविध तन्तुओं से बने हैं और तंतु सेलों के समूह से बने हैं परन्तु हमारे शरीर में बहुत से रासायनिक पदार्थों का सम्मिश्रण भी रहता है अर्थात् हमारे शरीर के सेल रासायनिक पदार्थों से मिल कर बने हैं जैसे आक्सीजन (Oxygen) नाइट्रोजन (Nitrogen) हाइड्रोजन (Hydrogen) कार्बन (Carbon) कैलशियम (Calcium) फासफोरस (Phosphorus) गंधक (Sulphur) क्लोरीन (Chlorine) पोटेशियम (Potassium) सोडियम (Sodium) मैगनीशियम (Magnesium) तथा लोहा (Iron)। ये रासायनिक पदार्थ शरीर में भिन्न-भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं। इनमें से कुछ पदार्थ ठोस और कुछ गैस रूप में पाये जाते हैं। ये पदार्थ आपस में मिल जुल कर खास-खास पदार्थ बनाते हैं। यह पदार्थ हमें भोजन से प्राप्त होते हैं। ये शरीर में रासायनिक क्रिया उत्पन्न करते हैं जैसे गर्मी और शक्ति का उत्पन्न करना।

अस्थि पंजर (The Skeleton System)—यह तो हम देख ही चुके हैं कि हमारे शरीर में बहुत सी वस्तुएँ पाई जाती है जैसे त्वचा, मांस, कार्टीलेज, रक्त और अस्थि इत्यादि। हमारा शरीर अस्थियों से बना हुआ एक ऐसा पंजर है जिसके ऊपर मांस चढ़ा हुआ है और मांस के ऊपर खाल चढ़ी हुई है। इस हड्डियों के ढाँचे के होने से हमको कई लाभ हैं जैसे—

१. यह शरीर को आकृति और पुष्टि देता है।

२. शरीर के कोमल अंग जैसे दिमाग, दिल, फेफड़े इत्यादि को सुरक्षित रखता है।

३. मांस-पेशियाँ इनके साथ चिपकी रहती है।

हमारे इस हड्डियों के ढाँचे में २०० से अधिक हड्डियाँ पाई जाती हैं। इनके आपस में जुड़ने से शरीर में बहुत से और कई प्रकार के जोड़ (Joints) बनते हैं जिनके कारण हम अपने अंगों को हिला-डुला सकते हैं। यदि हमारा

शरीर केवल एक ही हड्डी से बना होता तो बिल्कुल एक लकड़ी के तख्ते की तरह से होता और हम अपने शरीर के अंगों को जैसे हाथ, पैर, सिर इत्यादि को घुमा फिरा न सकते और न चल-फिर ही सकते।

हमारे शरीर में कई प्रकार की अस्थियाँ पाई जाती हैं, कुछ तो चपटी हड्डियाँ (Flat bones) हैं, कुछ लम्बी (Long) हैं कुछ छोटी (Short-bones) हैं, और कुछ बेढंगी (Irregular bones) सी होती हैं। हमारे शरीर की कुछ हड्डियाँ सख्त भी हैं और कुछ कोमल भी होती हैं।

हम अपने शरीर के ढाँचे को तीन भागों में बाँटते हैं। (१) खोपड़ी (Skull) (२) धड़ (Trunk) (३) ऊपर और नीचे की शाखाएँ (Upper and lower Limbs)।

खोपड़ी (Skull) को हम दो भागों में बाँटते हैं ; सिर और चेहरा।

सिर (Head) में आठ चपटी हड्डियाँ (flat bones) पाई जाती हैं जो कि आपस में जुड़ कर एक बक्स बनाती हैं जिसमें कि शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। सिर की हड्डियों के किनारे आरे की तरह के होते हैं जिससे एक हड्डी दूसरी हड्डी में फँसी रहती है। इस प्रकार के जोड़ बहुत मजबूत होते हैं और दाँतदार जोड़ (Sutures) कहलाते हैं।

सिर की हड्डियाँ इस प्रकार हैं :—

१. एक सामने की या माथे की हड्डी (The Frontal bone)। उसीसे हमारा माथा बनता है।

२. दो पार्श्वास्थियाँ (Parietal bones) यह दो हड्डियाँ हैं जो कि सिर की छत में एक दाहिनी और दूसरी बाईं ओर पाई जाती है। ये सिर के अगल-बगल में स्थित है और सिर की गोलाई के अनुसार मुड़ी हुई हैं।

३. दो कनपटी की हड्डियाँ (Temporal bones)। यह पार्श्वास्थियों (parietal bones) के नीचे है और कनपटी को बनाती है। दोनों ओर की इन हड्डियों में एक पतली सी नली होती है जो मध्य कान (middle ear) तक जाती है और (auditory Canal) कहलाती है। कान के छेद के पीछे यह हड्डियाँ कुछ आगे को निकली हुई हैं जिसमें नीचे के जबड़े के दोनों तरफ

के सिरे हिलने-जुलने वाले जोड़ों से जुड़े हुए हैं। इसी हड्डी के भीतर के हिस्से में त्रिकोण की शक्ल का उठा हुआ भाग होता है जिससे कान का भीतरी भाग (Internal Ear) बनता है और कान के अंग सुरक्षित रहते हैं।

४. एक ओक्सिपिटल अस्थि (Occeipital bone) सिर के पीछे के भाग में स्थित है। ऊपर की ओर यह दोनों तरफ से दूसरी अस्थियों (parietal bones) से जुड़ी रहती है। इसके नीचे के हिस्से में एक छेद होता है जिसको महाछिद्र (Foramen magnum) कहते हैं। इसी में से मस्तिष्क का स्नायविक भाग निकल कर रीढ़ की नली में जाता है और सुषुम्ना कहलाता है। स्नायविक महाछिद्र (Foramen magnum) के दोनों तरफ दो कीलें सी निकली रहती हैं जो Condyles कहलाती है और रीढ़ की हड्डी के सबसे पहले मोहरे पर जो कि Atlas कहलाता है, रक्खी हुई है। इनकी ही वजह से हम सिर को आगे और पीछे की ओर घुमा सकते हैं।

५. स्फीनोइड अस्थि (Sphenoid bone)—यह तितली की शक्ल की हड्डी है और सिर के नीचे का और अगल-बगल का कुछ हिस्सा बनाती है। पीछे की तरफ ओक्सिपिटल अस्थि से और अगल-बगल टेम्पोरल अस्थि (Temporal Bones) से तथा सिर की अन्य हड्डियों से जुड़ी हुई है।

६. ऐथमोइड अस्थि (Ethmoid Bone)—इस हड्डी में बहुत से छेद रहते हैं। यह स्फीनोइड अस्थि (Sphenoid bone) से जुड़ी रहती है। यह नाक की छत, और नाक के गढ़ों की दीवार का कुछ हिस्सा बनाती है। इसके छेदों में से स्नायु सूत्र निकल कर नाक में जाते हैं।

चेहरा (Face)—चेहरा १४ हड्डियों से मिल कर बना है। इसके लगभग सब ही जोड़ पक्के हैं, केवल नीचे के जबड़े के जोड़ हिलने-डुलने वाले हैं। इसकी हड्डियाँ इस प्रकार हैं—

१ नीचे के जबड़े की हड्डी (Inferior Maxillary)

२ ऊपर के जबड़े की हड्डी (Supeior Maxillary)

२ तालू की हड्डियाँ (Palate,Bones) यह तालू का पिछला हिस्सा बनाती हैं।

२ नाक की हड्डियाँ (Nasal Bones)—दोनों नथुनों की बाहरी दीवार बनाती हैं। बाकी का भाग कार्टीलेज का बना हुआ होता है।

२ गाल की हड्डियाँ (Malar or cheek bones)—यह गालों का उभरा हुआ भाग बनाती हैं।

२ नाक के अंदर की स्पंज हड्डियाँ (Spongy bones)—यह सीपी के आकार की और स्पंज की तरह मुलायम होती हैं। इन पर एक गुलाबी रंग की झिल्ली चढ़ी हुई होती है।

२ आँसू की हड्डियाँ (Lachrymal Bones)—ये अस्थियाँ आँख के गड्ढे (orbit) की भीतरी दीवार में नाक की ओर लगी हुई हैं। इनमें छेद होता है। आँसू इस छेद में हो कर आँख से नाक में चला जाता है।

१ दोनों नथुनों के बीच की हड्डी (Vomer bone)—ये हड्डी दोनों नथुनों के बीच का पर्दा है जो कि नाक को दोनों नथुनों में बाँटता है।

ऊपर के जबड़े की दोनों हड्डियाँ (Superior maxillary)—ये हड्डियाँ मुँह की ऊपरी छत का कुछ भाग बनाती हैं। प्रत्येक हड्डी के निचले हिस्से में १६ गड्ढे होते हैं जिनमें दाँत फँसे रहते हैं।

नीचे के जबड़े की हड्डी (Inferior Maxillary)—यह हड्डी ठोडी बनाती है। इसके ऊपरी किनारे में १६ दाँतों के लिए गड्ढे होते हैं। यह चेहरे की सबसे मजबूत हड्डी है। खोपड़ी की जितनी भी हड्डियाँ हैं उनमें केवल इसी का जोड़ हिलने-डुलने वाला है जिसके कारण जबड़ा उपर नीचे और इधर-उधर घूम सकता है और भोजन भी चबाया जाता है।

धड़ की हड्डियाँ (Bones of the Trnuk)—धड़ रीढ़ की हड्डियों (Vertebral Column), पसलियों (Ribs), और छाती की हड्डी (Sternum) से मिल कर बना है।

रीढ़ (Vertebral Column)—यह ३३ बेढंगी (Irregular) हड्डियों से मिल कर बना है। यह हड्डियाँ मोहरे (Vertebrae) कहलाते हैं। मोहरे एक के ऊपर एक रक्खे हुए हैं और एक दूसरे से बन्धक तन्तुओं (Connective Tissues) से बँधे हुए हैं। रीढ़ के सहारे ही हमारा शरीर टिका हुआ है। यह

गर्दन से शुरू हो कर कमर के अंतिम भाग तक चली जाती है। इन हड्डियों में से २४ मोहरों से गर्दन, पीठ और कमर का भाग बनता है। गर्दन में ७ मोहरे होते हैं जो कि गर्दन के मोहरे (Cervical Vertebrae) कहलाते हैं। पीठ में बारह मोहरे (Dorsal Vertebrae) होते हैं और कमर में पाँच मोहरे (Lumber Vertebrae) पाये जाते हैं। बाकी के ६ मोहरों में से ५ मोहरे एक साथ जुड़ जाते हैं जो कि त्रिक (Sacrum) कहलाता है। आखिरी ४ मोहरे आपस में जुड़ कर पूँछ (Coccyx या tail bone) बनाते हैं। बाल्यावस्था में यह मोहरे अलग-अलग होते हैं परन्तु बड़े होने पर पाँच एक साथ और चार एक साथ जुड़ कर (Sacrum) और (Coccyx) हड्डी बनाते हैं।

त्रिक (Sacrum) के दोनों तरफ दो बड़ी-बड़ी हड्डियाँ जुड़ी हुई हैं जो सामने की तरफ आ कर मिल जाती हैं। यह कूल्हे की हड्डी (Hip bone) कहलाती है। त्रिक और दोनों कूल्हे की हड्डियों के मिलने से एक कटोरे के आकार का घेरा बन जाता है वह वास्ति गह्वर (Pelvis) कहलाता है।

रीढ़ के सब मोहरों की बनावट करीब-करीब एक-सी है केवल पहला और दूसरा मोहरा बनावट में भिन्न है।

रीढ़ के मोहरे की बनावट (Structure of the Verbetrae)— मोहरे का आकार नगदार अँगूठी के समान होता है। नग की तरह के मोटे भाग को गात्र (Disc) कहते हैं और घेरे वाला भाग न्यूरल आर्च (Neural Arch) कहलाता है। सब मोहरों के घेरे एक के ऊपर एक रक्खे हुए हैं जिससे कि एक लम्बी नली बन जाती है जो कि रीढ़ की नली (Spinal or Vertebral Canal) कहलाती है। इसमें से ही मस्तिष्क से सुषुम्ना (Spinal Cord) जाती है। मोहरे के घेरे (Neural Arch) में से तीन शाखाएँ या उभार (projections or processes) निकलते हैं। अगल बगल की शाखा को ट्रान्सवर्स प्रोसस (Transverse Proeess) कहते हैं और पीछे की तरफ की निकली हुई शाखा, जो कि कुछ नीचे की तरफ झुकी रहती है स्पाइनस प्रोसस (Spinous Process) कहलाती है। इस शाखा को पीठ पर छूने से अनुभव किया जा सकता है। इन शाखाओं (Projections) से बहुत से बंधन (Legaments) लगे रहते हैं जो

कि मोहरों को एक दूसरे से बाँधे रखते हैं। इन मोहरों से मांसपेशियाँ चिपकी हुई है जिनकी सहायता से हम अपनी पीठ को झुका सकते हैं।

सभी मोहरों की बनावट एक-सी है परन्तु नीचे के मोहरे ऊपर के मोहरों से बड़े और भारी होते हैं। इस प्रकार कमर के मोहरे सब से अधिक बड़े और भारी होते हैं और अपेक्षाकृत गर्दन के मोहरे हल्के एवं छोटे होते हैं। प्रकृति ने शरीर की रचना इस प्रकार की है कि शरीर का बोझा कमर पर अधिक होता है और गर्दन पर बहुत ही कम।

गर्दन की रीढ़ के मोहरे के अगल-बगल की शाखाओं (Transverse Processes) में एक-एक छेद होता है जिसमें से होकर खून की नलियाँ निकलती हैं। छाती के मोहरों के पीछे की शाखाएँ (Spinous Pcrocess) नुकीले और लम्बे होते हैं। गात्र (Disc) के दोनों ओर अगल-बगल की शाखाओं के पास चिकनी जगह होती है। यहीं पसलियाँ (Ribs) आकर जुड़ती है।

कमर के मोहरे (Lumber Vertebrae) की शाखाएँ बहुत मोटी और मजबूत होती हैं।

गर्दन का पहला और दूसरा मोहरा रीढ़ के सब मोहरों से भिन्न है। पहले मोहरे को एटलास (Atlas) कहते हैं। इसमें गात्र (Disc) नहीं होता है केवल एक घेरा ही होता है। इसके पीछे की ओर एक शाखा (Spinous prccess) बहुत छोटी होती है। इस मोहरे के ऊपरी भाग में दो चिकने खूँटे से निकले होते हैं जिनके ऊपर खोपड़ी के पीछे की हड्डी (Occipital Bone) के दोनों चिकने उभार जो कोनडाइलस (Condyles) कहलाते हैं रक्खे हुए हैं और सिर को आगे-पीछे घुमाते हैं।

गर्दन के दूसरे मोहरे (Axis) के ऊपरी भाग में दाँत के आकार की एक शाखा निकली रहती है इसको (Odontoid Process) कहते हैं। इन दाँतों के कारण पहला मोहरा इसमें अच्छी प्रकार से जम जाता है और दाँतों की सहायता से खोपड़ी इधर-उधर भली प्रकार घूम सकती है। यह बंधनों (Legaments) द्वारा अपनी जगह पर स्थिर है। सिर को इधर उधर घुमाते समय एटलास मोहरा एक्सिस मोहरे के दाँतों के इधर उधर घूमता है।

रीढ़ (Vertebral Column) बिल्कुल सीधा नहीं है। इसमें कुछ हिस्से आगे को निकले हुए हैं कुछ पीछे की ओर धँसे हुए हैं। गर्दन का कुछ भाग पीछे की ओर और कुछ आगे की ओर झुका हुआ है। पीठ का कुछ भाग अन्दर की ओर झुका हुआ है। कमर का कुछ भाग बाहर की ओर उभरा हुआ है। त्रिक की हड्डी मुड़ी हुई है और बाहर की तरफ उभरी रहती है।

वक्ष की हड्डियाँ (Thorax or chest)—छाती की हड्डियों में १२ रीढ़ के मोहरे, २४ पसलियाँ और छाती की हड्डी (Sternum) आती हैं। यह सब मिल कर एक पिंजरा सा बनाती है। इस पिंजरे में शरीर के बहुत से महत्त्वपूर्ण अंग रक्खे हुए हैं जैसे हृदय (Heart) फेफड़े (Lungs), भोजन की नली (Gullet or food pipe), श्वास की नली (Treachea or wind pipe)। वक्ष के नीचे के भाग में जिगर (Liver), आमाशय (Stomach), तिल्ली (Spleen), और गुर्दे (Kidney) रक्खे हैं।

पसलियों के १२ जोड़े पीठ की रीढ़ के १२ मोहरों (Dorsal vertebrae) से दाहिनी और बाईं ओर को जुड़े हुए हैं। सामने आकर पहली सात पसलियाँ छाती की हड्डी से कार्टीलेज (Costal cartilege) के द्वारा जुड़ी हुई हैं। यह सच्ची पसलियाँ (True ribs) कहलाती है। इसके बाद के तीन पसलियों के जोड़े पहले एक दूसरे से आपस में जुड़ते है और फिर सातवीं पसली से जाकर जुड़ जाते हैं। यह झूठी पसलियाँ (False Ribs) कहलाती है। अंतिम दो पसलियों के जोड़े छोटे होते हैं और छाती की हड्डी से जुड़ते नहीं हैं। इसी कारण इन्हें तैरनेवाली पसलियाँ (Floating ribs) कहते हैं।

पसलियाँ जुड़ी हुई गोल हड्डियाँ होती हैं और उनका आगे का हिस्सा नीचे की तरफ को झुका हुआ होता है। पसलियों के बीच में जो जगह खाली रहती है उसे इन्टर कौस्टल स्थान (Inter costal Spaee) कहते हैं और यह स्थान मांस-पेशियों से ढका रहता है। यह मांस-पेशियाँ इन्टरकोस्टल मांसपेशियों (Intercostal muscles) कहलाती हैं। मांसपेशियाँ जो कि अन्दर की तरफ से पसलियों से चिपकी हैं भीतरी मांस-पेशी की तह (Internal Intercostal muscle) और बाहर की बाहरी मांस-पेशी की तह (External Inter costal

muscle) कहलाती है। श्वास-क्रिया के समय बाहर की मांस-पेशी सिकुड़ती है तो पसलियाँ ऊपर की ओर उठती हैं और जब अन्दर की मांस-पेशी की तह सिकुड़ती है तो पसलियाँ अपनी जगह पर आ जाती है। इस प्रकार यह पेशियाँ श्वास-क्रिया में सहायता देती हैं और फेफड़ों को हवा से भरने के लिए स्थान बनाती हैं।

छाती की हड्डी (Sternum or chest bone)—यह हड्डी ६-७ इंच लम्बी है। इसका ऊपर का हिस्सा चौड़ा और नीचे का पतला होता चला गया है। इस हड्डी को तीन भागों में बाँटते हैं। ऊपर के भाग में हसुली (Coller bone) की हड्डियाँ दाहिनी ओर बाईं ओर से आ कर जुड़ी हुई हैं। मध्य भाग में सात पसलियों के जोड़े आकर जुड़ते हैं। छाती की हड्डी का निचला भाग कार्टीलेज का बना हुआ है।

हमारे धड़ को एक बड़ी मांस-पेशी जिसको महाप्रचीरा मांश-पेशी (Diaphragm) कहते हैं, दो भागों में बाँटती है। ऊपर का भाग छाती (Chest) कहलाता है और नीचे का भाग पेट (Abdomen) कहलाता है। गर्दन के भाग में से हो कर भोजन की नली, श्वास की नली, खून की नलियाँ, स्नायु सूत्र आते हैं और महाप्रचीरा पेशी (Diaphragm) में से निकल कर नीचे उदर में जाते हैं।

शरीर के ऊपर की शाखाओं या अंगों की हड्डियाँ—(Upper limb) ऊपरी शाखा में निम्न लिखित हड्डियाँ पाई जाती हैं।

(१) कंधे की हड्डी (Scapula or Shoulder Blade)
(२) हसली की हड्डी (Clavicle or coller Bone)
(३) ऊपरी बाँह की हड्डी (Humerus)
(४) २ नीचे की बाँह की हड्डियाँ (Ulna and Radius)
(५) कलाई की आठ हड्डियाँ (Carpal Bones)
(६) हथेली की पाँच हड्डियाँ (Meta carpal Bones)
(७) ऊँगली की चौदह हड्डियाँ (Phalangeal Bones)

हसुली की हड्डी (Clavicle or Coller bones)—यह एक टेढ़ी

हड्डी है जो कि छाती के सबसे ऊपरी भाग में दाहिनी और बाईं तरफ रहती है। इसका एक सिरा छाती की हड्डी के ऊपरी भाग से जुड़ा रहता है तथा दूसरा सिरा कंधे की हड्डी से जुड़ कर एक प्याला नुमा गड्ढा (Glanoid Cavity) बनाता है।

कंधे की हड्डी (Scapula or Shoulder Blade)—इस हड्डी का आकार चपटा और तिकोना है। यह पीठ के ऊपर की तरफ सबसे पहली पसली के ऊपर है। इसका पीछे का भाग एक उभरी हुई लाइन से दो भागों में बटा हुआ है परन्तु यह दोनों भाग बराबर नहीं हैं। बाहरी भाग थोड़ा बाहर की तरफ को निकला हुआ है जिसके साथ हसुली की हड्डी (Clavicle) जुड़ी हुई है। हसुली की हड्डी के साथ कंधे की हड्डी मिल कर बाहर के कोने में एक गोल गड्ढा (Glanoid Cavity) बनाती है। इसमें ऊपरी बाँह की हड्डी (Humerus) का सिरा जो गोल होता है फँसा रहता है। यह कंधे का जोड़ बनाता है। इन हड्डियों के सिरे पर एक चिकनी कार्टीलेज की तह चढ़ी होती है और उसके ऊपर एक बारीक झिल्ली (Synovial membrane) रहती है। इसमें से एक तरह का चिकना पदार्थ निकलता है जो कि जोड़ों को चिकना रखता है और गति करने में सहायता देता है। इन जोड़ों को स्थिर रखने के लिए इनके ऊपर सौत्रिक तंतुओं की बनी हुई एक थैली चढ़ी रहती है और बाहर की तरफ मांस-पेशियाँ लगी रहती है। इस प्रकार यह जोड़ दृढ़ बने रहते हैं और गति भी करते रहते हैं। कन्धे का जोड़ गेंद गड्ढा जोड़ (Ball & Socket Joint) के ढंग का होता है।

ऊपरी बाँह की हड्डी (Humerus)—इस हड्डी का आकार लम्बा होता है। इसका ऊपरी सिरा गोल होता है और ग्लैनोयड कैविटी (Glanoid Cavity) में फँस कर कंधे का जोड़ बनाता है। इसके नीचे के सिरे से बाँह की दो हड्डियाँ (Ulna और Radius) जुड़ती हैं और इस प्रकार कोहनी का जोड़ बनाती है।

नीचे की बाँह की हड्डियाँ (Ulna and Radius)—ये दो हड्डियाँ (Ulna और Radis) होती है और दोनों लम्बाई में बराबर होती हैं।

(Radius) हड्डी अँगूठे की तरफ रहती है। इसका ऊपरी सिरा छोटा और गोल होता है परन्तु नीचे का सिरा चौड़ा होता है।

दूसरी हड्डी (Radius) छोटी उँगली की तरफ रहती है। इसका ऊपरी सिरा चौड़ा और नीचे का पतला होता है। यह हड्डियाँ ऊपरी बाँह की हड्डी (Humerus) के निचले सिरे से जुड़ती है और कोहनी का जोड़ बनाती है। इनके जोड़ का प्रकार चूलदार जोड़ (Hinge Joint) कहलाता है। यदि हम अपनी हथेली को ऊपर की तरफ फैलावें तो Radius और ulna दोनों बराबर बराबर आ जाती है परन्तु अगर अँगूठे को अन्दर की तरफ घुमावें तो Raduis हड्डी Ulna के ऊपर घूम जाती है। पर दोनों नीचे कलाई की हड्डियों से जुड़ी हुई हैं।

कलाई की हड्डियाँ (Carpal Bones)—ये छोटी-छोटी आठ हड्डियाँ होती हैं और चार-चार करके दो लाइनों में लगी हुई होती हैं और आपस में बंधनों के द्वारा मजबूती से बँधी हुई होती हैं। इन्हीं की बनावट के कारण कलाई में लचीलापन होता है और वह दोनों तरफ अच्छी तरह से घूम सकती है। यहाँ के जोड़ फिसलने वाले (Sliding Joints) होते हैं।

हथेली की हड्डियाँ (Meta Carpals)—हथेली में छोटी-छोटी लंबी ५ हड्डियाँ होती है जो ऊपर की तरफ तो कलाई की Carpal हड्डियों से जुड़ी रहती हैं और नीचे की ओर अंगुलियों की हड्डियों से जुड़ी रहती हैं।

अंगुलियों की हड्डियाँ (Phalangeal bones)—यह चौदह हड्डियाँ होती हैं। इनमें से अँगूठे में दो और प्रत्येक उँगली में तीन-तीन होती हैं। इनके जोड़ भी चूलदार होते हैं जो कि एक ओर को मुड़ सकते हैं।

नीचे की शाखा की हड्डियाँ (Bones of the Lower Limb)—भी करीब करीब ऊपर की शाखा की हड्डियों की ही तरह हैं। केवल थोड़ा सा अन्तर है। ये हड्डियाँ निम्नलिखित हैं:—

१. कूल्हे की हड्डी (Hip bone)

२. जाँघ की हड्डी (Femur or theigh bone)

३. घुटने की हड्डी (Patella or Knee bone)

४. नीचे की टाँग की हड्डियाँ (Tibia and Fibula)
५. टखने की हड्डियाँ (Tarsal bones)
६. पैर के पंजे की हड्डियाँ (Meta Tarsal bones)
७. अँगुलियों की हड्डियाँ (Phalangeal bones)

कूल्हे की हड्डी (Hip bone)—यह बड़ी, चौड़ी और बेढंगे आकार की बनी हुई हड्डी है। गिनती में ये दो हैं जो कि त्रिक (Sacrum) के दाहिनी और बाईं ओर जुड़ती हैं। सामने आ कर दोनों कूल्हे की हड्डियाँ आपस में एक सीधी लाइन से जुड़ी हुई हैं। दोनों कूल्हे की हड्डियाँ, त्रिक (Sacrum) और नीचे पूँछ की हड्डी (Coccyx) मिल कर एक कटोरा सा बनाती हैं। इसको वस्तिगह्वर (Pelvis) कहते हैं। इस भाग में पुरुषों के अंग मूत्राशय, शुक्राशय और मलाशय स्थित हैं और स्त्रियों में इन अंगों के साथ-साथ गर्भाशय भी रहता है। स्त्रियों का वस्तिगह्वर पुरुषों से अधिक चौड़ा और बड़ा होता है परन्तु गहरा कम होता है।

कूल्हे की हड्डी के तीन भाग होते हैं जो बाल्यावस्था में छूने से अनुभव किये जा सकते हैं परन्तु बड़ी अवस्था में दृढ़ता से आपस में जुड़ जाते हैं। इस हड्डी का ऊपरी हिस्सा चौड़ा होता है और इसे कूल्हे की हड्डी (Illium) कहते हैं। नीचे के भाग (Ischium) के सहारे ही हम बैठते हैं। आगे का हिस्सा (Pubis) दूसरी ओर के हिस्से से जुड़ा रहता है। इन तीनों हड्डियों के जुड़ने से एक बड़ा गड्ढा (acetabulum) बनता है। इसमें जाँघ की हड्डी का ऊपरी गोल सिरा फँसा रहता है। यह जोड़ भी गेंद गड्ढा जोड़ (Ball and Socket Joint) के प्रकार का बनता है।

जाँघ की हड्डी (Femur or Theigh bone)—यह हमारे शरीर की सबसे लम्बी, मजबूत और मोटी हड्डी है। इसका ऊपरी सिरा गोल होता है और कूल्हे के गढे (acctabulum) में फँसा रहता है। इसका निचला हिस्सा चौड़ा है और नीचे की टाँग की तिबिया (Tibia) नाम की हड्डी से जुड़ा रहता है।

घुटने की हड्डी (Patella or knee bone):—घुटने का जोड़ बहुत दृढ़ जोड़ है। इसके ऊपर एक तिकोनी हड्डी लगी रहती है जिसे घुटने की

हड्डी (Patella or knee bone) कहते हैं। इसको हाथ से छूने से मालूम किया जा सकता है। यह जाँघ की हड्डी के निचले सिरे पर जहाँ तिबिया (Tibia) और (Fibula) जुड़ती है रक्खी हुई है और बंधनों के द्वारा जुड़ी हुई है।

निचली टाँग की हड्डी (Tibia and Fibula)—निचली टाँग में दो हड्डियाँ पाई जाती हैं। इनमें तिबिया (Tibia) नाम की हड्डी अँगूठे की तरफ टाँग के बाहरी भाग में रहती है। यह लम्बी, मजबूत और मोटी होती है। इसका ऊपरी सिरा बड़ा होता है जो कि घुटने पर जाँघ की हड्डी से जुड़ा रहता है। इसका किनारा जिसे शिन (Shin) कहते हैं बाहर की ओर निकला रहता है। इसी कारण से इसेशिन अस्थि (Shin bone) कहते हैं। इसका निचला सिरा छोटा होता है और टखने की हड्डी (Ankle bone) से जुड़ा रहता है और टखने की भीतरी गाँठ को बनाता है।

निचले पैर की दूसरी हड्डी (Fibula) लम्बी पतली और नाजुक होती है। इसका ऊपरी सिरा तिबिया (Tibia) से जुड़ा रहता है और निचला सिरा टखने की एक दूसरी हड्डी से जुड़ कर टखने की बाहरी गाँठ बनाता है।

टखना (Ankle)—इसमें सात हड्डियाँ होती हैं जो कि टारसल अस्थियाँ (Tarsal bones) कहलाती हैं। इनमें से केवल एक बड़ी हड्डी होती है बाकी छः छोटी छोटी होती हैं। यह बड़ी वाली हड्डी (Astragulus) नीचे की टाँग की हड्डी (Tibia) के साथ जुड़ कर टखने की भीतरी गाँठ बनाती है। दूसरी हड्डी से एड़ी बनती है और बाकी की पाँच हड्डियाँ पैर के पीछे के भाग में रहती है। टाँग की पेशियों के बंधन (Tendons) इनसे आ कर जुड़ते हैं।

पैर के पंजे की हड्डियाँ (Meta Tarsal bones)—ये भी हथेली की तरह सात हैं और अंगुलियों की हड्डियों से जुड़ी हुई हैं।

अंगुलियों की हड्डियाँ (Phalangeal bones)—ये हड्डियाँ भी हाथों की अंगुलियाँ की तरह ही अँगूठे में दो और प्रत्येक उँगली में तीन-तीन हैं।

मांश-पेशियाँ (Muscles)

हमारे शरीर के अस्थिपजंर के ऊपर मांस चढ़ा हुआ है। इन मांस-पेशियों के सिकुड़ने और फैलने के गुण के कारण ही हमारे शरीर में गति होती है और विविध अंग और अवयव अपना-अपना काम करते हैं जैसे हमारे हाथ लिखते हैं, काम करते हैं, दौड़ते हैं, चलते हैं, आँखें देखती हैं, मुँह से बातें करते हैं, भोजन चबाते हैं इत्यादि। मांस-पेशियाँ अस्थि-पजंर के बाहर भी है और अन्दर भी हैं।

मांस पेशियाँ दो प्रकार की होती हैं।

(१) इच्छाधीन (Voluntary muscles),

(२) स्वाधीन (Involuntary muscles),

इच्छाधीन (Voluntary muscles) ये हमारे ऐसे अंगों में पाई जाती है जिनसे हम अपनी इच्छा के अनुसार काम ले सकते—जैसे हाथ, पैर, नाक, मुँह, आँख इत्यादि। इनका आकार अंगों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है जैसे बाजुओं तथा टाँगों की मांस-पेशियों के सिरे पतले होते हैं और ये बीच में से मोटी होती है एवं इनके सिरों पर सफेद रंग की सौत्रिक तंतुओं से बनी हुई एक प्रकार की डोरियाँ जिनको कंडर (Tendons) कहते हैं, लगी रहती हैं। इन्हीं के द्वारा मांस-पेशियाँ हड्डियों के साथ जुड़ती हैं। किसी किसी पेशी के एक सिरे में दो कंडर भी (Tendons) लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में एक सिरा एक हड्डी से और दूसरा सिरा दूसरी हड्डी से जुड़ा रहता है। इस तरह की पेशी जब किसी हड्डी के जोड़ के बाद से जुड़ती है तो पेशी के सिकुड़ने से एक हड्डी दूसरी के पास उठ आती है। इस प्रकार की पेशी दोहरी (बाइसेप, Bicep muscle) कहलाती है। इस हड्डी में ऊपरी सिरे के ऊपरी दो कंडर कंधे से जुड़े रहते हैं और नीचे के सिरे का एक कंडर आगे की बाँह की रेडिअस (Radius) हड्डी से जुड़ता है। जब यह पेशी सिकुड़ती है तो आगे की बाँह ऊपर को उठती है। पेशो का एक सिरा जो कि स्थिर रहता है जैसे कि ऊपरी बाहु की पेशी के ऊपरी सिरे के दो कंडर कंधे से जुड़ते हैं और स्थिर हैं। यह

जड़ (Origin) कहलाते हैं और दूसरा सिरा जो गति या उठने वाली हड्डी से जैसे अग्रबाहु की रेडिअस (Radius) हड्डी से जुड़ता है प्रवेश (Insertion) कहलाता है । पेशी जब सिकुड़ती है तो उसकी लम्बाई कम पड़ जाती है और बीच का हिस्सा मोटा हो जाता है । जिस पेशी में एक सिरे में तीन कंडर लगे हों वह तिहरी (Tricep muscle) कहलाती है । ऐसी पेशी बाँह के पीछे लगी हुई हैं । जब यह पेशी सिकुड़ती है तो बाँह सीधी हो जाती है ।

स्वाधीन मांसपेशी—(Involuntary muscle) ये चौड़ी और पतली होती है और उन भीतरी अंगों में पाई जाती है जो कि हमारी इच्छा के अधीन नहीं है जैसे दिल, फेफड़े, आमाशय, खून की नलियाँ, गुर्दे इत्यादि । यह अंग बराबर अपना कार्य स्नायु-संस्थान की प्रेरणा से करते रहते हैं और यदि हम इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहें तो भी नहीं कर सकते हैं ।

मांस पेशियों को कार्य करने के लिए किसी वस्तु के सहारे की आवश्यकता होती है जैसे पृथ्वी पर से जब कोई भारी वस्तु उठानी होती है तो किसी मोटे डंडे या लोहे की छड़ को जमीन पर टिका कर उसका सहारा लेते हैं। इसी प्रकार जब एक अंग को उठाना होता है तो उस अंग की हड्डी के ऊपर जोड़ के थोड़ी दूर पर टेक लगा कर उठाया जाता है । जैसे जब अग्रबाहु को उठाना होता है तो रेडिअस अस्थि (Radius) पर कोहनी के जोड़ पर टेक लगाते हैं और अग्रबाहु को दोहरी मांसपेशी (Bicep-muscle) उठाती है ।

इसी प्रकार बाहु के पीछे की ओर की तिहरी मांसपेशी (Tricep muscle) अग्रबाहु को फैलाने के लिए कोहनी जोड़ के पास की हड्डी अलना (Ulna) पर टेक लगाती है ।

खड़ा रहना चलना और दौड़ना

यह जानना आवश्यक है कि हमारा शरीर किस प्रकार खड़ा रहता है और किस प्रकार चलता एवं दौड़ता है ।

हमारे शरीर में बहुत सी पेशियाँ एक साथ मिल कर काम करती हैं । इन्हीं के कारण शरीर सधा रहता है । यदि ऐसा न होता तो हमको खड़ा होना भी मुश्किल हो जाता । खड़े रहने में हमारे शरीर को आगे के भाग की

पेशियाँ आगे की ओर खींच कर रखती है और पीछे की ओर की पेशियाँ पीछे की ओर खींच कर रखती हैं। इस प्रकार दोनों ओर बराबर खिंचाव पड़ने से शरीर सधा रहता है। इसी को खड़ा रहना कहते हैं।

शरीर का बोझ पैर के टखने की हड्डियों पर रहता है और उसके खिंचने से पैर आगे को बढ़ता है परन्तु पीछे पिंडली की पेशियाँ उसको पीछे खींच कर रखती हैं। इसी तरह घुटने के आगे और पीछे की पेशियाँ घुटने को सधा कर रखती हैं। जाँघ में भी आगे की पेशी और पीछे कूल्हे की पेशी से जाँघ सीधी रहती है। इसी प्रकार गर्दन की आगे और पीछे की पेशियाँ धड़ और गर्दन को आगे और पीछे की ओर गिरने नहीं देती है बल्कि साध कर रखती है।

शिशु अवस्था में जब तक कि बच्चा पेशियों की क्रियाओं से अनजान रहता है तो खड़े होने पर गिर-गिर पड़ता है परन्तु जब सीख लेता है तो खड़े होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती है।

पेशियाँ स्नायु-संस्थान के द्वारा संचालित हैं। इसी कारण जब स्नायु-संस्थान में किसी प्रकार की चोट अथवा हानि पहुँचती है तो पेशियों को स्नायुओं के द्वारा प्रेरणा न पहुँचने से मनुष्य गिर पड़ता है क्योंकि उस अवस्था में मस्तिष्क की प्रेरणा न मिलने से पेशी अपना कार्य बन्द कर देती है तथा ढीली पड़ जाती है।

चलना—चलने में एक पैर उठता है और दूसरा पृथ्वी पर टिकता है इस प्रकार जब बायाँ पैर आगे उठता है तो दायाँ जमीन पर टिका रहता है। इस क्रिया में दाहिने पैर की पिंडली की पेशी सिकुड़ती है और दाहिना पैर उठता है। फिर जैसे ही दाहिना पैर जमीन पर टिकता है बायें पैर की पिंडली की पेशी सिकुड़ती है और बायाँ पैर आगे बढ़ता है। चलते समय दोनों बाहु भी पैरों के साथ हिलते हैं।

दौड़ने में भी चलने की क्रिया के समान ही गति होती है परन्तु इसमें पेशियाँ बहुत तेजी से सिकुड़ती-फैलती हैं।

उछलने में दोनों पैरों की पिंडलियों की पेशियाँ एक साथ सिकुड़ती है जिसके कारण दोनों टाँगें एक साथ फैल जाती हैं और साथ-साथ दोनों जाँघों

की पेशियाँ भी सिकुड़ती हैं जिसके कारण दोनों टाँगें एक साथ फैल जाती हैं और शरीर ऊपर को उठ जाता है।

पेशियों का संगठन (Chemical Composition of the muscles)—पेशियाँ तीन पदार्थों से बनती हैं; पानी, प्रोटीन और नमक। पेशियों में $\frac{3}{4}$ भाग पानी का होता है और $\frac{1}{4}$ भाग प्रोटीन तथा साधारण नमक।

पेशियों को स्वस्थ रखने के लिए स्वास्थ्यकर भोजन की आवश्यकता होती है। ऐसे भोजन से जिसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक हो, जैसे दूध, बादाम, अंडा, गोश्त इत्यादि, शरीर की मांस-पेशियाँ पुष्ट होती हैं और उनमें काम करने की शक्ति बढ़ती है तथा गर्मी भी उत्पन्न होती है। पेशियाँ लाल दिखाई पड़ती हैं क्योंकि इनमें खून की नलियाँ रहती हैं। इनमें चर्बी भी पाई जाती है।

पेशियों में एक तरह का गाढ़ा तरल पदार्थ बनता है और जब पेशियाँ कार्य करती हैं तो वह प्रयोग में लाया जाता है परन्तु यदि उपयोग में न आये तो यह पेशियों में इकट्ठा हो जाता है और शरीर भारी हो जाता है। मरने पर यही पदार्थ जम जाने के कारण शरीर को अकड़ा देता है।

जोड़ या संधि (Joints)

हमारे शरीर के अन्दर २०० से अधिक हड्डियाँ हैं जो सब आपस में जुड़ कर शरीर का अस्थिपंजर बनाती हैं। इस प्रकार शरीर में बहुत से जोड़ हैं। यदि शरीर में जोड़ न होते तो शरीर एक तख्ते की तरह होता और न हम उठ-बैठ सकते और न चल फिर ही सकते।

जहाँ दो या दो से अधिक हड्डियाँ आपस में जुड़ती है उसे संधि कहा जाता है।

जोड़ दो प्रकार के होते हैं—स्थिर जोड़ (Fixed Joints) और हिलने-जुलने वाले जोड़ (Movable Joints)। स्थिर जोड़ (Fixed Joints) केवल सिर की हड्डियों में पाये जाते हैं। इन हड्डियों के किनारे आरे की तरह के होते हैं और इस प्रकार एक हड्डी के दाँतें दूसरी हड्डी के दाँतों से जुड़े रहते हैं। यह जोड़ बहुत दृढ़ और स्थिर होते हैं और दाँतेदार (Sutures) कहलाते हैं।

हिलने-जुलने वाले जोड़ (Movable Joints)—चार प्रकार के होते हैं।

(१) प्यालेदार जोड़ (Ball aud Socket Joints)—इस जोड़ में एक लम्बी हड्डी का गोल सिरा दूसरी हड्डियों से बने एक प्याले के आकार के गढ़े में फँसा रहता है। इस तरह का जोड़ चारों ओर को घुमाया जा सकता है। यह जोड़ कूल्हे और कन्धे में पाया जाता है।

(२) चूलदार जोड़ (Hinge Joints)—जिस तरह से सन्दूक में ढकने के लगाने में जोड़ लगता है अथवा दरवाजों में जोड़ होता है यह उसी प्रकार का जोड़ है। इसमें सिर्फ अंग एक ही ओर को उठाया जा सकता है, कोहनी, टखने, घुटने और उँगलियों के जोड़ इसी प्रकार के हैं।

(३) घूमने वाले जोड़ (Pivot Joints)—इन जोड़ों में एक हड्डी कीली का काम करती है और दूसरी हड्डी उसके ऊपर चारों ओर घूमती है। इस प्रकार का जोड़ गर्दन में है जहाँ रीढ़ का सबसे ऊपर का मोहरा (Atlas) कील का काम करता है और उसके ऊपर खोपड़ी रक्खी है जो कि चारों ओर को घूम सकती है।

(४) फिसलने वाले जोड़ (Sliding Joints)—इन जोड़ों में दो हड्डियों के बीच में कार्टीलेज की गद्दी रहती है और इस प्रकार अंग इधर-उधर घूम सकते हैं। इस प्रकार के जोड़ रीढ़ (Verteberal Column) और कलाई में पाये जाते हैं।

मांस-पेशियाँ हड्डियों से एक प्रकार के बंधन से बँधी रहती है और इन्हें कंडर (Tendons) कहते हैं। जोड़ों पर हड्डियाँ भी एक प्रकार के बंधनों से बँधी रहती है। इन्हें बन्धक (Ligaments) कहते हैं। यह श्वेत रंग के होते हैं और जोड़ों पर लगी मांस-पेशियों के हटाने पर देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के जोड़ मजबूती से जुड़े रहते हैं।

जोड़ों की बनावट—जोड़ों पर हड्डियों के सिरों पर कार्टीलेज (Cartilege) की चिकनी तह लगी रहती है और इसके ऊपर एक पतली चमकीली झिल्ली भी लगी रहती है। इसमें से तेल की तरह का एक चिकना

पदार्थ निकलता है और झिल्ली तथा कार्टीलेज को गीला और चिकना रखता है जिससे कि हड्डियों में रगड़ नहीं लगती है। जोड़ों पर एक सौत्रिक तन्तु (Fibrous Tissue) की बनी थैली भी चढ़ी रहती है जिससे जोड़ों की हड्डियाँ अपनी जगह पर स्थिर रहती हैं और जोड़ की थैली (Capsule) कहलाती है। इसके बाहर मांस-पेशियाँ लगी होती हैं और जोड़ों को दृढ़ करती हैं। इस प्रकार जोड़ों की बनावट बहुत मजबूती से होती है जिससे जोड़ खुल न सकें।

कार्टीलेज (Cartilege)—एक प्रकार का लचीला किन्तु सख्त पदार्थ होता है। इसका रंग सफेद और चमकीला होता है और इसके ऊपर खाल चढ़ी रहती है। यह अधिकतर हड्डियों के सिरे पर रहता है और एक हड्डी को दूसरी हड्डी से जोड़ता है जैसे पसलियाँ कार्टीलेज के द्वारा ही छाती की हड्डी से जुड़ी हुई है। हमारे कान का बाहरी हिस्सा और नाक का आगे का भाग भी इसी से बना हुआ है। यह दो हड्डियों के बीच में एक गद्दी के रूप में भी रहता है जिसके कि दोनों हड्डियों में रगड़ न लगे। इसी प्रकार यह रीढ़ के एक मोहरे और दूसरे मोहरे के बीच में रहता है। जोड़ों पर कार्टीलेज अधिकतर प्यालीनुमा (Ball and Socket) के आकार के जोड़ में पाया जाता है और इसकी सहायता से लम्बी हड्डी का गोल सिरा दृढ़ता से प्यालेनुमा गड्ढे में फँसा रहता है। कार्टीलेज हमारे शरीर में बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

अस्थियों का स्वाभाविक विकास—इनका स्वाभाविक विकास तब ही हो सकता है जब कि बालक को उस समय से जब कि वह गर्भावस्था में ही हो उचित मात्रा में और ठीक भोजन मिलना आरम्भ हो जाए तथा उसके शरीर के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने तक मिलता रहे। शरीर के किन अंगों अथवा भागों के विकास के लिए हमें किस प्रकार के भोजन की आवश्यकता है इसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे किन्तु इतना जान लेना तो यहाँ भी आवश्यक है कि सन्तुलित भोजन के न मिलने से शरीर के सब ही अंगों तथा भागों के विकास में बाधा पहुँचती है। खुली वायु, व्यायाम आदि की भी शरीर के पूर्ण विकास के लिए अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अध्याय २

स्वास्थ्य और भोजन

स्वास्थ्य की आवश्यकता— 'स्वास्थ्य' शब्द की परिभाषा को शब्दों में भर कर रखना न तो सरल ही है और न सहज ही। प्रायः सब व्यक्ति स्वास्थ्य का अर्थ भली प्रकार समझते हैं। विशेषतया कुछ दिन रोगी रह चुकने के पश्चात् तो न केवल स्वास्थ्य का अर्थ ही वरन् उसका मूल्य भी भली प्रकार ज्ञात हो जाता है फिर भी केवल मात्र 'नीरोग' कह कर स्वास्थ्य की परिभाषा नहीं की जा सकती है। स्वस्थ शरीर रोग रहित तो होगा ही, इसके अतिरिक्त उसका हृष्ट पुष्ट होना, सशक्त होना भी आवश्यक है। साधारणतया शारीरिक शक्ति की भी सीमाएँ होती हैं फिर भी एक स्वस्थ शरीर में कर्म शक्ति रोगी शरीर से अधिक होती है और एक दुर्बल शरीर से सशक्त शरीर में अधिक होती है। यह भी कहा जा सकता है कि एक सशक्त शरीर शीघ्र ही रोगों के सम्मुख सहज ही परास्त नहीं हो जाता है जब कि दुर्बल शरीर सरलता से ही रोगों का घर बन जाता है। रोगी मनुष्य प्रसन्न भी नहीं रह सकता है अतः सुखी रहने के लिए एक शर्त स्वस्थ रहना भी है और शरीर का सशक्त एवं स्वस्थ होना बहुत कुछ भोजन पर भी आश्रित होता है। पुष्टिकर भोजन शरीर को सशक्त बनाता है, और पुष्टिकर भोजन का अर्थ गरिष्ठ भोजन नहीं होता है। अतः हमें पुष्टिकर खाद्य पदार्थों और भोजन का परस्पर सम्बन्ध जानना ही चाहिए क्योंकि इनका स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब कि गृहिणी पर गृह की स्वामिनी होने के सम्बन्ध से यह उत्तरदायित्व है ही कि वह घर के सब ही सदस्यों को स्वस्थ बने रहने में सहायता दे तो उसके लिए यह जानना भी अत्यावश्यक है कि भोजन कैसा होना चाहिए, क्या होना चाहिए और उसका किस शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के ज्ञान होने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि मानव शरीर को किस प्रकार के भोजन की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य का भोजन से सम्बन्ध—मानव जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार शरीर है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। शरीर के बिना तो किसी प्रकार की भी साधना हो ही नहीं सकती है अतः मानव का ध्यान सभ्यता के उषाकाल से ही भोजन की ओर जाने लगा तथा वह यह जानने के प्रयत्नों में संलग्न हो गया कि मानव शरीर को स्वस्थ और सबल बनाए रखने के लिए कैसे और कितने भोजन की आवश्यकता है। भोजन के सम्बन्ध में यूरुप में सर्व प्रथम ईसा से पूर्व पाँचवी शताब्दी में यूनानी विद्वान हिपोक्रीटस ने आवाज़ उठाई किन्तु उसके भी बहुत वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा के लगभग १००, १५० वर्ष पश्चात् तक भोजन सम्बन्धी परीक्षणों की रीति प्रचलित नहीं हो पाई थी। १३० से २०० ई० के बीच गालेन ने अपने परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि भोजन पेट में जा कर छोटे छोटे कणों में विभक्त हो कर फिर शरीर के विभिन्न तत्त्वों के साथ मिल पाता है। गालेन ने औषधि विज्ञान के अध्ययन में भोजन सम्बन्धी परीक्षणों का महत्त्वपूर्ण स्थान निश्चित किया। यद्यपि उनके पश्चात् एक शताब्दी तक इस दिशा में कुछ भी उन्नति नहीं हो पाई किन्तु उसके पश्चात् ल्योनार्डो दा विन्सी तथा अठारहवीं शताब्दी में लाखोयसीयर तथा उन्नीसवीं शताब्दी में लीबिग, वोएत, रुबनेर आदि ने भोजन और शरीर के सम्बन्ध में अध्ययन तथा परीक्षणादि किए। आधुनिक काल में तो लस्क, चितन्देन, मेन्डेल मेक कालम, म्यूरलिन, बेनडिक्ट, शेरमेन, रोज़ आदि ने इस दिशा में हमारी ज्ञानवृद्धि की ही है। प्रायः इस ओर ध्यान भी अधिक दिया जाने लगा है। यह तो अब निर्विवाद सत्य मान लिया गया है कि पुष्टिकर भोजन ही मानव को स्वस्थ एवं सबल बनाए रख सकता है।

भोजन सम्बन्धी अनुसन्धान—आधुनिक युग में औषधि विज्ञान के अतिरिक्त भोजन सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य का महत्त्व भी अत्यधिक हो गया है। प्रायः भोजन से सम्बन्धित सब ही दिशाओं में अनुसन्धान कार्य अत्यन्त तत्परता से किया जा रहा है। प्रायः जितने भी प्रकार के भोजन मानव को ज्ञात हैं उनका रासायनिक विश्लेषण किया जा रहा है जिससे मानव तत्संबंधी ज्ञानद्वारा अच्छे से अच्छे भोजन का प्रयोग कर सके। यही नहीं कीटाणु विज्ञान (Bacterio-

logy) सम्बन्धी अनुसन्धानों द्वारा मानव यह भी जानने का प्रयत्न कर रहा है कि भोजन सम्बन्धी स्वच्छता और स्वास्थ्य वर्धक परिस्थितियाँ किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती हैं। इस प्रकार के अनुसन्धान भी किए जा रहे हैं जिनसे कि विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले अथवा विभिन्न रोगग्रस्त आदि शरीरों की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताएँ जानी जा सकें तथा यह भी जाना जा सके कि हज़म हो चुकने पर भोजन का बँटवारा शरीर में किस प्रकार से होता है। इसी प्रकार के अन्य अनुसन्धान भी किये जा रहे हैं। इस प्रकार के अनुसंधानों की कठिनाइयाँ भी अनेकों ही हैं। प्रायः इस प्रकार के परीक्षणादि पशुओं पर ही किए जाते हैं और उन्हें बार बार दोहराना भी आवश्यक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न भोजन सम्बन्धी अनुसन्धान कर्ताओं ने मानव जाति पर जो उपकार किया है उसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। विभिन्न खाद्य पदार्थों के मूल्य और महत्व का जानना आवश्यक है किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है उन पदार्थों को पचाने का ठीक ठीक ढंग जानना। फ्लोरेन्स नाईटिंगेल के विचारानुसार तो औषधि से कहीं अधिक महत्व है भोजन के विभिन्न प्रकारों और उनके ठीक ढंग से पकाने का। अच्छे से अच्छा अधिकतम स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ भी यदि ठीक ढंग से पकाया नहीं जायेगा तो वह मानव शरीर के लिए उतना हितकर नहीं होगा। अतः भोजन में कौन कौन से खाद्य पदार्थ हों तथा वह किस प्रकार से तैयार किए गये हों इन दोनों ही का अत्यधिक महत्त्व है और सुगृहिणी के लिए तत्सम्बन्धी ज्ञान अत्यावश्यक है। रोगी के लिए विशेष प्रकार से भोजन बनाना आवश्यक है किन्तु स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी तो ठीक ढंग से तैयार किया हुआ भोजन करना अत्यावश्यक है। यदि स्वस्थ व्यक्ति के भोजन में उचित मात्रा में स्वास्थ्यवर्द्धक खाद्य पदार्थ सम्मिलित किए जाएँ और उन्हें ठीक ढंग से पका कर ही खिलाया जाए तो रोग को किसी एक सीमा तक तो दूर रखा ही जा सकता है। अतः औषधि, रोग जनित कष्ट और परिचर्या आदि से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि गृहिणी परिवार के सदस्यों के भोजन पर दृष्टि रखे और उन्हें ठीक ही भोजन दे।

गृहिणी और पारिवारिक भोजन—किसी भी परिवार में गृहिणी ही भोजन के लिए उत्तरदायी होती है । यथासम्भव गृहिणी को भोजन स्वयं तैयार करना तथा परोसना चाहिए । परिवार के सदस्यों के अधिक होने के कारण अथवा धन अधिक होने के कारण यदि गृहिणी भोजन तैयार करने का कार्य नौकरों पर ही छोड़ना चाहे तो भी उसे स्वयं देखभाल अवश्य करनी चाहिए अन्यथा वह परिवार के हित के लिए तत्परता से कार्य भी नहीं कर सकेगी । भोजन सम्बन्धी तीन दिशाओं में सतर्क दृष्टि से देख भाल रखना आवश्यक है । ये दिशाएँ हैं खाद्य पदार्थों का संग्रह, उनका स्वच्छता से पकाना और परोसना, भोजन निश्चित समय पर तथा निश्चित मात्रा में करना ।

प्रायः खाद्य पदार्थों का संग्रह शारीरिक आवश्यकता के अनुसार ही होना चाहिए । बालक के लिए जिन खाद्य पदार्थों का होना आवश्यक है पुरुष के लिए उन पदार्थों का होना उतना आवश्यक नहीं है । अतः आयु और शरीर की अवस्था के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को खाद्य पदार्थ देने चाहिए । शरीर की आवश्यकता और खाद्य वस्तुओं के बीच समीकरण स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है । ऐसा कर पाने पर न केवल व्यक्ति का स्वास्थ्य ही अच्छा बना रहता है वरन् उसकी आयु भी बढ़ जाती है । गत युद्ध के पश्चात् तो प्रायः विश्व भर के वैज्ञानिक इस तथ्य का बड़ा ही ज़ोरदार समर्थन करने लगे हैं । बालक, वृद्ध, गर्भवती तथा दूध पिलाने वाली माता, विभिन्न रोग से पीड़ित व्यक्तियों आदि के लिए गृहिणी को सोच समझ कर खाद्य पदार्थों का संग्रह करना चाहिए । मक्खन और घी अच्छी खाद्य वस्तुएँ हैं किन्तु प्रत्येक शरीर के लिए और प्रत्येक अवस्था में यह लाभप्रद ही हों यह कोई आवश्यक नहीं है । अतः सर्व प्रथम तो सुगृहिणी को वे सब वैज्ञानिक नियमादि जानने चाहिए जिनके आधार पर वह यह जान सके कि शरीर को किस अवस्था में किस प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है और उसे कौन से खाद्य पदार्थ देने चाहिए । इस प्रकार का सैद्धान्तिक ज्ञान आवश्यक है किन्तु उसके साथ ही साथ उसके क्रियात्मक ज्ञान की भी आवश्यकता है अर्थात् उन खाद्य पदार्थों को अवस्था विशेष में किस प्रकार पका कर खाने के लिए प्रस्तुत करना चाहिए । नियमों

का वास्तविक उपयोग तो क्रियात्मक रूप में ही किया जा सकता है। भोजन का पकाना एक विद्या है। भोजन रुचिकर भी होना चाहिए और लाभप्रद भी। केवल लाभप्रद ही होने पर उसे खाना कठिन हो जायेगा और केवल रुचिकर ही होने पर उसे पचाना, उसका पूरा पूरा लाभ उठाना कठिन होता है। अतः सुगृहिणी को न केवल लाभप्रद खाद्य पदार्थ ही चुनने तथा संग्रह करने चाहिए वरन् उन्हें स्वादिष्ट बना कर ऐसे ढंग से परोसना भी आना चाहिए जिससे कि खाने वालों को उन्हें देख कर ही खाने की रुचि हो जाए। पकाने और परोसने में यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि पकाने से न तो खाद्य वस्तु का स्वाभाविक गुण ही नष्ट हो जाने देना चाहिए और न किसी प्रकार की गन्दगी आदि के कारण उसमें रोग कीटाणुओं के ही प्रविष्ट होने की गुंजायश होने देना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भोजन का रुचिकर अथवा अरुचिकर होना, स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट होना बहुत कुछ मानव की सामाजिक रुचि पर निर्भर होता है फिर भी यथासम्भव सामाजिक रुचि एवं सांस्कृतिक सीमाओं तथा प्रभावों को देखते हुए भी गृहिणी को स्वच्छता तथा व्यक्तिगत एवं पारिवारिक रुचि आदि का ध्यान रखते हुए भी प्रयत्न यह करना चाहिए कि खाद्य पदार्थों के स्वाभाविक गुण और लाभ नष्ट न हो जाएँ। परोसना भी एक कला है। आवश्यकता एवं रुचि से अधिक परोसे जाने पर आवश्यकता से अधिक खा कर स्वास्थ्य नष्ट कर लेना होता है अथवा खाद्य पदार्थों को जूठा छोड़ कर नष्ट करना होता है जो कि दोनों ही दशाओं में अनुचित है। भोजन उतना ही परोसना चाहिए जो कि रुचि से खाया भी जाए और कम भी न हो। एक बार समाप्त कर लेने पर रुचि के अनुसार वही वस्तु दुबारा ले लेना अधिक खा जाने अथवा जूठी छोड़ देने की अपेक्षा कहीं अच्छा है। खाने वाले यदि स्वयं अपनी रुचि एवं इच्छा के अनुसार भोजन परोस लें तो अच्छा ही है अन्यथा गृहिणी को यह बात ध्यान में रख कर ही परोसना चाहिए। यदि गृहिणी अथवा कोई अन्य व्यक्ति भोजन परोस रहा हो तो उसे प्रत्येक वस्तु इस प्रकार से थालियों अथवा कटोरियों में परोसनी चाहिए कि कोई भी वस्तु किनारों पर न लगी रहे और न थाली में नीचे गिरी ही रहे। सफाई से तथा रुचिकर ढंग से परोसने पर

भोजन करने की इच्छा बढ़ जाती है।

भोजन का समय निर्धारित कर देना बहुत ही अच्छा रहता है। इससे समय पर ही सब को भूख लगती है और उस समय के अतिरिक्त इधर-उधर खाने की आवश्यकता नहीं होती है। फलस्वरूप अकारण इधर-उधर की वस्तुएँ खाने से पेट खराब नहीं होता है और दूसरे गृहिणी के कार्य में भी अत्यन्त सुविधा हो जाती है। दिन भर भिन्न-भिन्न समय पर परिवार के सदस्यों के भोजन करने से गृहिणी और नौकर तो दिन भर भोजन कार्य में ही लगे रह जाते हैं जब कि परिवार के सब ही सदस्यों के साधारणतया एक साथ बैठ कर भोजन कर लेने से गृहिणी के समय की भी बचत हो जाती है और घर के नौकरों का काम भी हलका पड़ जाता है तथा उन्हें भी कुछ समय विश्रामादि के लिए मिल जाता है। भोजन की मात्रा भी उचित होनी चाहिए। बहुत कम मात्रा में भोजन करने से शरीर दुर्बल हो कर स्वस्थ नहीं रह पाता है और बहुत अधिक मात्रा में भोजन करने से भी शरीर अस्वस्थ हो जाता है।

इन सब बातों के अतिरिक्त खाद्य पदार्थों का अमिश्रित अर्थात् शुद्ध रूप में मिलना भी आवश्यक है। विशेषतया हमारे देश में तो यह एक समस्या ही बन गई है। सुगृहिणी साधारणतया बच्चों को बाज़ार की वस्तुएँ खाने की आदत न डाल पाने के प्रयत्न कर सकती है। यदि सब ही खाने एवं जलपान की वस्तुएँ समय पर घर में ही मिल सकेंगी तो बच्चे बाहर की वस्तुएँ स्वयं ही खाना नहीं चाहेंगे। घर पर भी सब ही खाद्य पदार्थ शुद्ध रूप में मिल ही जाते हों, यह आवश्यक नहीं है फिर भी इस दिशा में सुगृहिणी को प्रयत्न तो अवश्य ही करना चाहिए। इस युग में जितना अधिक भोजन और स्वास्थ्य के परस्पर सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाने लगा है उतनी ही अधिक विभिन्न तत्सम्बन्धी बातें और विज्ञापन आदि जनता के सम्मुख आने लगे हैं। भारतीय जनता को सहज ही तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। साधारणतया निर्धन वर्ग अथवा मज़दूर वर्ग, मध्यवर्ग और धनीवर्ग। प्रायः मज़दूर वर्ग अशिक्षित तो है ही, उसके साधन भी प्रायः अत्यधिक सीमित हैं। अतः भोजन उनके लिए न तो विचारणीय विषय ही है और न वह उसके सम्बन्ध में चयन ही

कर पाते हैं। अपनी सीमित आय में वह जितना और जो कुछ खा पाते हैं वही खाते हैं। इस वर्ग के लोग प्रायः अपुष्टिकर भोजन पाते हैं और उनका स्वास्थ्य भी तदनुकूल ही होता है। मध्यवर्ग में भोजन और स्वास्थ्य सम्बन्धी चेतना तो पाई जाती है किन्तु उनके साधन भी असीम तो होते ही नहीं है फिर भी वह तनिक सावधानी एवं जानकारी से काम लें तो इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ कर ही सकते हैं। धनी वर्ग के पास साधनों की बहुतायत होती है और अधिकतर अन्य कोई विशेष कार्य भी इतना नहीं होता है कि उसी में रत रहें तथा समय की भी बहुतायत होने के कारण यह वर्ग स्वास्थ्य की ओर ध्यान भी अधिक देता है; किन्तु ये लोग प्रायः विज्ञापनों एवं डाक्टरों आदि के सहारे ही चलना चाहते हैं। फलस्वरूप विभिन्न व्यवसायियों के भोजन सम्बन्धी विज्ञापन इन्हें अधिक उलझन में ही डाल देते हैं। अभी तक राज्य सरकारें भी इस सम्बन्ध में जनता को न तो कुछ विशेष सावधान ही कर पाई हैं और न अनुचित एवं झूठे विज्ञापनों पर रोक ही लगा पाई हैं। वनस्पति घी के ही सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत जनता तक पहुँच ही नहीं पाया है। इन सब कठिनाइयों को देखते हुए तो केवल यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक गृहिणी को स्वयं ही भोजन विज्ञान का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए।

पुष्टि का लक्षण—यूँ तो प्रत्येक मानव के जीवन में बाल्यकाल, युवावस्था और वृद्धावस्था आती ही हैं। शरीर बचपन में बढ़ता है। अंग अंग का विकास होता है और युवावस्था तक यह विकास पूर्णता को पहुँच जाता है। युवावस्था में शरीर में भरपूर शक्ति और मन में अदम्य उत्साह होता है। वृद्धावस्था में शरीर ढलता और धीरे-धीरे अशक्त होता जाता है। पुष्टि का अर्थ है अवस्था के अनुसार शरीर का सबल एवं सशक्त होना। बालक का शरीर उतना पुष्ट एवं सशक्त नहीं हो सकता है जितना कि एक युवक का होगा। किन्तु बाल्यावस्था में ही शरीर पनपता है। शरीर का पुष्ट होना और ठीक ढंग से बढ़ना भोजन, जलवायु और वातावरण पर निर्भर होता है; किन्तु इनमें से भी शरीर के पुष्ट एवं स्वस्थ होने का अधिकतर श्रेय भोजन को ही होता है। भोजन अवस्था के अनुसार ही होना चाहिए। बाल्यकाल में भोजन ऐसा होना चाहिए

जो कि शरीर के सब ही अंशों को अर्थात् अस्थि, मज्जा, चर्म आदि को पुष्ट करने एवं बढ़ाने वाला हो। युवक का भोजन ऐसा होना चाहिए जो कि उसकी शक्ति एवं स्वास्थ्य को बनाए रखे। वृद्धावस्था में भोजन हलका और शीघ्र ही पच जाने वाला होना चाहिए। अतः अवस्था के अनुसार ही भोजन पुष्टिकर भोजन कहला सकता है। पौष्टिक भोजन का अर्थ भारी एवं देर में पचने वाला भोजन नहीं होना चाहिए। आधुनिक अनुसन्धान कर्ताओं एवं वैज्ञानिकों का लक्ष्य तो ऐसे खाद्य पदार्थों की खोज करना है जो कि मानव के जीवन को अधिकाधिक लम्बा एवं सुखी बना सकें। और वह तब ही हो सकता है जब कि शरीर को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही भोजन मिले। यदि शरीर को विटामिन की आवश्यकता है किन्तु उसे चर्बी अथवा प्रोटीन अधिक दी जा रही है तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक सम्भावना है। अतः पुष्टिकर भोजन से हमारा तात्पर्य उस भोजन से है जो कि शरीर की आवश्यकताओं को देखते हुए ही तैयार किया गया हो।

पुष्ट एवं अपुष्ट शरीर—किसी भी व्यक्ति के शरीर को देख कर यह कहा जा सकता है कि उसे पुष्टिकर भोजन मिलता है अथवा नहीं। साधारणतया स्वस्थ शरीर तनिक ध्यान से देखने से ही पता लग जाता है। लम्बाई' चौड़ाई और शरीर के विभिन्न अंगों की गठन ठीक होने तथा व्यक्ति की अवस्था के अनुसार बिना थके हुए चलते फिरते रहने, काम करने से यह ज्ञान सहज ही हो जाता है कि वह व्यक्ति स्वस्थ है। दूसरी ओर शरीर की गठन ठीक न होने से जैसे कद छोटा रह जाने से अथवा त्वचा का रंग साधारण से भिन्न होने पर अथवा आँखों में अनावश्यक लाल डोरे आदि रहने से अथवा रिकेट (Rickets) तथा बेरी बेरी (beri beri) अथवा स्कर्वी (Scurvy) आदि रोगों के होने से यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति को भोजन ठीक नहीं मिल रहा है।

वस्तुतः शरीर और भोजन का सम्बन्ध माता के गर्भ में जिस समय बालक रहता है उसी समय से आरम्भ हो जाता है। गर्भवती स्त्री को न केवल अपने ही शरीर को बनाये रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है वरन् उसके भीतर ही जो नन्हा सा मानव शरीर बन रहा होता है उसके गठन के

लिए भी उसे भोजन की और ठीक ठीक भोजन की आवश्यकता होती है। शरीर के विभिन्न अंगों की बनावट के लिए तथा उसकी शक्ति के गठन के लिए भी तो भोजन की आवश्यकता होती है और यह आवश्यकता जन्म से पूर्व ही आरम्भ हो जाती है। उस अवस्था में इस आवश्यकता की पूर्ति माता स्वयं अपने भोजन के द्वारा ही करती है। यही कारण है कि गर्भवती स्त्री के लिए विशेष भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। जन्म लेने के पश्चात् भी शरीर की गठन और उसके बढ़ने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। शरीर के विभिन्न तत्त्वों की वृद्धि एवं गठन के लिए प्रोटीन, स्निग्धता अथवा वसा, कार्बोहाइड्रेट, मिनरल, विटामिन आदि सब ही की तो आवश्यकता होती है। किसी भी एक तत्त्व के उचित मात्रा में न मिल पाने से बालक का शरीर पूर्णतया वृद्धि एवं विकास को प्राप्त नहीं कर पाता है। बाल्यावस्था में भी स्कूल जाने से पूर्व और स्कूल जाने के पश्चात् तथा यौवन प्राप्ति से तनिक पूर्व जो भोजन बालक को दिया जाता है उसमें भी तनिक सा अन्तर हो ही सकता है। किन्तु बढ़ते हुए शरीर को तो पूर्ण, सन्तुलित एवं पुष्टिकर भोजन अवश्य ही मिलना चाहिए अन्यथा बालक के शरीर की गठन और उसका विकास ठीक ढंग से नहीं होगा। शरीर के पूर्ण विकसित होने के अथवा बढ़ जाने के पश्चात् उसकी शक्ति को बनाए रखने के लिए अर्थात् जितनी शक्ति विभिन्न कार्यों में व्यय होती है उसकी पूर्ति करते रहने के लिए भी भोजन की आवश्यकता पड़ती है।

प्रायः देखा जाता है कि बच्चों की अस्थियाँ अथवा उनके दाँतों का गठन एवं विकास ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। यह देख कर माता सहज ही जान सकती है कि बालक में कैलशीयम तथा फासफरस की न्यूनता है अर्थात् उसके भोजन में दूध, अंडा, पनीर, मांस, हरी तरकारी आदि उन पदार्थों की अधिकता होनी चाहिए जिनसे कि उसे कैलशीयम एवं फौसफरस प्राप्त हो सकता है। यदि यह वस्तुएँ उचित मात्रा में नहीं दी जा रही हैं तो दी जानी चाहिए। यही नहीं अस्थियों का नरम होना, पैरों का झुका हुआ सा होना, दाँतों का खराब होना, ढाँचे की गठन का ठीक न होना, जोड़ों की हड्डियों का कड़ा सा होना विटामिन 'डी' और 'सी' की न्यूनता के फल भी हो सकते हैं। अतः

बालक के भोजन में अथवा बालक के माता के दूध पर ही जीवित रहने की अवस्था में माता के भोजन में अंडे की ज़र्दी, मक्खन, मछली का तेल, धूप में पके हुए फल तरकारी आदि, संतरे, नारंगी, हरी मिर्च, स्टाबरी, टमाटर, पत्ता-गोभी आदि का रहना भी आवश्यक है ताकि उसे इन पदार्थों से विटामिन 'डी' एवं 'सी' भी मिल सकें।

भूख कम लगना, पूरा खाना न खा पाना, नज़र कम होना, खेल से घबराना, बैठ न पाना, कम सोना, पाचन क्रिया की गड़बड़ी अथवा रक्त के ठीक न बनने का कारण विटामिन 'बी' जटिल की कमी भी हो सकती है और उस अवस्था में बालक अथवा माता के भोजन का ध्यान पूर्वक विश्लेषण करके यह देखना आवश्यक है कि उसे वह पदार्थ मिलते हैं अथवा नहीं जिनसे कि उसे विटामिन 'बी' जटिल प्राप्त हो सके। यदि बालक स्कूल में सदा पिछला ही बना रहता है, जल्दी रो पड़ता है तो भी माता को समझना चाहिए कि इसके खाने में कुछ कमी अवश्य है।

यदि बालक को जल्दी-जल्दी आँख, कान, आदि के रोग हो जाते हैं अथवा बालक हो या पुरुष यदि उसे रात को ठीक से दिखाई नहीं देता है तो हो सकता है कि उसमें विटामिन 'ए' की न्यूनता हो। अतः उसके भोजन में विटामिन 'ए' जिन पदार्थों में मिल सके, उनकी बहुतायत होनी चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न अंगों के गठन और कार्य को देखते हुए चतुर माता यह ज्ञात कर सकती है कि बालक में आयरन, आइडीन, सोडियम, पोटाशीयम, क्लोरीन, सल्फर, कापर आदि किस मिनरल की न्यूनता है।

यही नहीं, अत्यधिक दुर्बल एवं दुबले शरीर में चर्बी, प्रोटीन आदि की न्यूनता हो सकती है। स्निग्धता, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट शक्तिदायक खाद्य पदार्थ होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को हर समय थकान-सी ही लगती है अथवा कार्य करते हुए थक जाता है अथवा अत्यधिक दुर्बल है तो उसमें इन वस्तुओं की या तो न्यूनता है और या वह इन्हें पचा नहीं पाता है। ऐसी अवस्था में उसका भोजन या तो पुष्टिकर है ही नहीं और या विटामिन 'बी' जटिल की कमी के कारण शरीर भोजन को ठीक से ग्रहण ही नहीं कर पाता है। किसी

भी अवस्था में यह जानना कठिन नहीं है कि कौन-सा शरीर पुष्ट है और कौन-सा अपुष्ट, अस्वस्थ।

शरीर की आवश्यकताएँ—शरीर को विभिन्न कार्यों के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि शरीर के गठन के लिए भोजन की आवश्यकता होती है किन्तु एक बार शरीर के पूर्णतया बन जाने पर भी तो उसे बनाए रखने के लिए, उसके शक्ति के होने वाले व्यय की पूर्ति करने के लिए और नवीन शक्ति की उत्पत्ति के लिए भोजन की आवश्यकता होती ही है। शरीर तो एक यन्त्र की भाँति है। उसकी भीतरी अवस्थाएँ विशेष प्रकार की हैं और उसके भीतर के अंगों की कार्य-प्रणाली तथा व्यवस्था भी कुछ नियमों के अन्तर्गत ही कार्य करती है। भोजन उस कार्य प्रणाली एवं व्यवस्था को बनाए रखने योग्य शक्ति शरीर को देता है अतः शरीर का काम तो भोजन के बिना किसी प्रकार भी नहीं चल सकता है। भोजन तो शरीर के लिए अनिवार्य है किन्तु भोजन का अर्थ खाने योग्य वस्तु मात्र ही तो नहीं है। भोजन में भी तो कुछ आवश्यक तत्त्वों का होना अनिवार्य है।

भोजन के प्रमुख तत्व—प्रायः गत चालीस-पैंतालिस वर्षों में होने वाले भोजन-सम्बन्धी अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछेक पदार्थों का तात्त्विक रूप से प्रत्येक मानव के भोजन में होना अत्यावश्यक है तथा उनके न होने से मानव-शरीर न तो स्वस्थ ही रह सकता है और न वह पूरी तरह बढ़ ही पाता है।

मानव-शरीर के लिए 'प्रोटीन' एक अत्यावश्यक वस्तु है। इसके बिना शरीर को बनाए रखना भी कठिन है किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि इसका सेवन किसी भी मात्रा में किया जा सकता है। वस्तुतः यह मान लेने के पश्चात् कि 'प्रोटीन' मानव-शरीर के लिए अनिवार्य है स्वाभाविक रूप से ही यह प्रश्न उठता है कि कितनी मात्रा में 'प्रोटीन' भोजन में सम्मिलित की जानी चाहिए। वस्तुतः विभिन्न उन खाद्य-पदार्थों में जिनमें कि 'प्रोटीन' पाई जाती है इसकी मात्रा न्यूनाधिक ही पाई जाती है। अतः प्रत्येक शरीर की आवश्यकतानुसार तथा किन पदार्थों में वह ली जा सकती है यह देख कर ही

उसकी मात्रा निर्धारित की जा सकती है। शरीर के बढ़ने और स्वस्थ बने रहने के लिए किसी न किसी मात्रा में 'प्रोटीन' का सेवन करना आवश्यक है। कार्बोहाइड्रेट के दो अंग होते हैं मिठास और स्टार्च। शरीर के लिए यह अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना जाता है।

शरीर को सशक्त एवं स्वस्थ बनाए रखने के लिए मिनरलस (Minral Constituents) की भी आवश्यकता होती है। कैलशियम, आयरन आदि भी शरीर के लिए अनिवार्य हैं।

विटामिन की चर्चा तो हम प्रायः सुनते ही हैं। यदपि विटामिन के संबंध में अभी अनुसन्धान कार्य हो रहे हैं फिर भी इतना तो सिद्ध हो ही गया है कि विटामिन मानव शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि शरीर को सब ही विटामिन उचित मात्रा में मिलें तो बहुत से रोगों से भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

स्निग्धता के बिना भी तो शरीर रहना कठिन है। अतः मानव-शरीर के लिए भोजन की आवश्यकता है और भोजन जिन खाद्य-पदार्थों से मिल कर बने उनमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, मिनरल, विटामिन तथा स्निग्धता अथवा वसा का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह सब ही शरीर के विभिन्न अंगों की पुष्टि करते हैं तथा शरीर के कार्यों में सहायक होते हैं।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि भोजन के ये पाँच प्रमुख अंश तो हैं किन्तु इनका सेवन किस मात्रा में किया जाना चाहिए। वस्तुतः सब ही व्यक्तियों के लिए एक-सी मात्रा निर्धारित नहीं की जा सकती है। आयु, देश अथवा नगर के जलवायु, व्यक्ति के व्यवसाय, कार्य आदि तथा उसके स्त्री अथवा पुरुष, गर्भवती स्त्री आदि होने पर बहुत कुछ भोजन के प्रमुख अंशों की मात्रा का निर्धारित करना निर्भर करता है। अतः किस व्यक्ति को किस मात्रा में कौन-सी खाद्य वस्तु ग्रहण करनी चाहिए यह बिना उसकी पूर्ण स्थिति जाने नहीं कहा जा सकता है। फिर भी हम आगे चल कर यह जानने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। इन प्रमुख भोजन तत्त्वों में से सब ही की शरीर को आवश्यकता है यह तो निर्विवाद सत्य है; किन्तु न केवल इन पदार्थों को

खा लेने की ही आवश्यकता है वरन आवश्यकता तो यह है कि ये शरीर द्वारा पूर्णतया ग्रहण भी कर लिए जाएँ। कोई भी भोजन कितना भी पुष्टिकर एवं पूर्ण क्यों न हो, यदि शरीर उसे पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाता है तो वह शरीर के विभिन्न अंगों के गठनादि और कार्य आदि में सहायक क्यों कर हो सकेगा। केवल जल ही शरीर द्वारा अपने मौलिक रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। अन्य सब ही पदार्थों का रूप परिवर्तन हो कर ही शरीर द्वारा ग्रहण किया जाना अनिवार्य है। यहाँ तक कि जो पदार्थ अपच हैं जैसे कि तरकारियों का सेलीलोस अथवा पके अन्न का ऊपरी छिलका अथवा आटे का छान आदि, उनका भी रूप परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है यदपि वह मल रूप में शरीर से बाहर ही फेंक दिए जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि साधारणतया प्रोटीन, स्निग्धता और कार्बोहाइड्रेट का प्रमुख कार्य शरीर को शक्ति देना अर्थात् कार्यों में होने वाले उसकी शक्ति के व्यय की पूर्ति करना है और इसीलिए शरीर को इनकी आवश्यकता भी है तथा इसके साथ ही शरीर के विभिन्न अंग आदि का निर्माण करना भी बहुत कुछ इनका कार्य है। फिर भी ये उस कार्य को तब तक नहीं कर पायेंगे जब तक कि ये पच कर रक्त में मिल न जाएँ और उस कार्य के लिए शरीर को विटामिन 'बी' जटिल की आवश्यकता है। अतः शरीर को जितनी आवश्यकता पुष्टि एवं शक्ति प्राप्ति के लिए स्निग्धता अथवा वसा, प्रोटीन और कार्बोहाईड्रेट की है उतनी ही उन्हें पचा पाने के लिए विटामिन की भी है। पचाने में न केवल आमाशय और पाचन रस ही कार्य करते हैं वरन् दाँतों का भी पर्याप्त कार्य होता ही है। यदि दाँतों का गठन ठीक नहीं हो पाया है तो खाद्य पदार्थ भली प्रकार चबाये नहीं जा सकेंगे और इसी कारण उनके पचने में भी बाधा पहुँचेगी। इस कार्य के सुचारु रूप से होने के लिए विटामिन 'डी' और 'सी' भी आवश्यक हैं। शरीर के अंगों का जल्दी-जल्दी रोग-कीटाणुओं को पकड़ लेना भी तो हानिकर है। आँखों आदि को रोग से बचाने के लिये विटामिन 'ए' भी आवश्यक है। यही नहीं, रक्त तो शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है और उसके लिए आयरन की आवश्यकता है। थायरड ग्लैन्ड के कार्य बनाये रखने के लिए आइडीन की आवश्यकता है। बालों और नाखूनों

के लिए सल्फर की आवश्यकता है और सम्पूर्ण शरीर के लिए जल की अत्यधिक आवश्यकता है। अतः यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि शरीर को प्रोटीन, चर्बी, कार्बोहाइड्रेट, मिनरल, विटामिन और जल सब ही की अत्यधिक आवश्यकता है और उनके उचित मात्रा में मिलते रहने से ही शरीर स्वस्थ एवं सबल बना रह सकता है। उचित भोजन की मात्रा निश्चित करते हुए हमें प्रत्येक व्यक्ति के लिंग, आयु, उसके वासस्थान के जलवायु और उसके कार्यों पर भी ध्यान देना होगा। यह भी देखना आवश्यक है कि जिस शरीर के लिए भोजन की व्यवस्था की जा रही है वह स्वस्थ है अथवा रोगी, यदि स्त्री है तो गर्भवती अथवा बालक को दूध पिलाने वाली अथवा अन्य ही किसी अवस्था में आदि आदि। इन सब बातों पर विचार किए बिना यह नहीं कहा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति को किस मात्रा में इन तत्त्वों में से कौन सा मिलना चाहिए।

भोजन करना और पचाना—भोजन चाहे जितना स्वादिष्ट और पुष्टिकर हो यदि वह ठीक से पचाया नहीं जा सकेगा तो शरीर को उससे तनिक भी लाभ नहीं पहुँच पायेगा। अतः भोजन का केवल मात्र खा लेना ही आवश्यक नहीं है वरन उसका पचाना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—यही नहीं, अनपचा भोजन शरीर के लिए कष्टकर एवं हानिकर ही सिद्ध होता है। अतः पाचन क्रिया के विषय में इस स्थान पर कुछ संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

शरीर के अंगों में पाचन-संस्थान (digestive tract) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। पाचन-संस्थान के अंगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ अंग तो पाचन प्रणाली से मलद्वार तक के वे अंग होते हैं जिनसे होता हुआ भोजन बाहर जाता है और दूसरी कुछ पाचक ग्रन्थियाँ अथवा पाचन-प्रणाली के बाहर स्थित वे और ग्रन्थियाँ होती हैं जिनमें से पाचन क्रिया के सहायक रस उत्पन्न होते हैं। भोजन मुख से चबा कर निगले जाने पर भोजन-नलिका से आमाशय में जाता है। वहाँ से छोटी आँतों में जाता है; वहाँ भी पाचन तथा शोषण होता है। तत्पश्चात् बड़ी आँत में हो कर बचा हुआ भोजन मलद्वार से बाहर निकल जाता है। पाचन-क्रिया को समझने के लिए

पाचन-संस्थान (digestive tract) की बनावट को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

आहार मार्ग—(alimentary tract) यह एक लम्बा मार्ग है जिससे हो कर भोजन शरीर के भीतर तक पहुँचता है और उसका व्यर्थ भाग फिर शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है। इसमें मुख, गला, भोजन-नली आमाशय, छोटी आँतों तथा बड़ी आँतों को सम्मिलित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त यकृत (liver), पित्ताशय (Gall Bladder) ग्रहणी, क्लोम (Pancreas), प्लीहा अथवा तिल्ली (Spleen) आदि के कार्य भी समझ लेना आवश्यक है।

भोजन का सर्वप्रथम मुख से संयोग होता है। वहाँ वह चबाया जाता है अतः दाँतों का सम्बन्ध भी पाचन-क्रिया से होता है। भोजन जितना ही अधिक चबाया जायेगा उतनी ही आसानी से पच सकेगा। परीक्षणार्थ यदि आप दो टुकड़े नमक के लें और एक को यूँ ही पानी में डाल दें तथा दूसरे को भली प्रकार पीस कर डालें तो यह स्वाभाविक ही है कि पिसा हुआ नमक पानी में अपेक्षाकृत शीघ्र ही घुल जायेगा। अपच का एक कारण भोजन को भली प्रकार न चबाना भी होता है। कुछ कठोर खाद्य-पदार्थ दाँतों को दृढ़ बनाते हैं क्योंकि उन्हें चबाने से दाँतों का व्यायाम होता है तथा मसूढ़े भी अच्छे रहते हैं। जिह्वा भी चबाने में सहायक होती है क्योंकि यह भोजन को आगे पीछे ठेलती रहती है। चबाते समय भोजन में मुख ही में लार भी मिलती जाती है। यह तीन प्रकार की ग्रन्थियों (glands) के जोड़ों से निकलती है। जिह्वा के ऊपर किनारों पर तथा और भागों में भी अनेकों छोटे-छोटे अंकुर होते हैं। इनमें स्वाद की ग्रन्थियाँ होती हैं। इन्हीं की सहायता से हमें स्वाद का ज्ञान होता है। मुख के भीतर के अंग निरन्तर गीले बने रहते हैं। इन्हें एक प्रकार का श्लेष्म अर्थात् चिकना, रसीला पदार्थ जो कि मुख के भीतर की श्लेष्मिक झिल्ली से निकलता है गीला करता रहता है। तीन जोड़ा लार ग्रन्थियों में से सबसे बड़ी लार ग्रन्थि कान के नीचे होती है। दूसरी ऐसी ग्रन्थि जबड़े के नीचे तथा तीसरी जिह्वा के नीचे होती है। इन तीनों

ग्रन्थियों से लार ले जा कर मुख तक पहुँचाने वाली नलिकाओं के छेद मुख में पीछे की ओर जिह्वा के नीचे तथा अन्य स्थानों पर हैं।

कंठ (Pharynx) में श्वास नलिका, भोजन नलिका, तथा कान से आने वाली एक जोड़ी नलिकाओं का मुख है। यहीं पर कंठ ग्रन्थियाँ (tonsils) भी होते हैं। कंठ में स्थित कौआ (मांस का एक टुकड़ा) भोजन को श्वास की नलिका में जाने से रोकता है।

चबाने के पश्चात् भोजन कंठ में ठेल दिया जाता है अर्थात् निगला जाता है। निगल लेने पर यह लगभग १० इंच लम्बी एक नलिका में चला जाता है। यहाँ से यह सीधा आमाशय में जाता है।

आमाशय की बनावट एक ऐसी थैली के समान है जो कि भीतर से चौड़ी है। बाईं ओर से खुले मुख द्वारा आमाशय भोजन अपने भीतर आने देता है और दाईं ओर से यह थैली घूम कर ऊपर की ओर अपेक्षाकृत कम चौड़ी रह जाती है। आमाशय का बायाँ छोर हृदय छोर और दाहिना पक्वाशय छोर कहा जा सकता है। आमाशय भीतर से फैल सकता है। जब भीतर भोजन पहुँच जाता है तो यह फैल जाता है।

आमाशय की दीवार की बनावट एक विशेष प्रकार की होती है। बाहर की ओर से उस पर एक पतली झिल्ली चढ़ी होती है। झिल्ली के भीतर पेशियों की एक मोटी तह होती है। इस तह में पेशियाँ तीन पर्तों में सजी हुई होती हैं। बाहरी पर्त में रेशे लम्बाई में होते हैं, बीच में गोलाई में और भीतर की पर्त में तिरछे होते हैं। इन्हीं पेशियों की पर्तों के फैलने और सिकुड़ने से दीवार भी फैलती अथवा सिकुड़ती है। फलस्वरूप भीतर आमाशय में खाना मथा जाता है। इस प्रकार के मथने की क्रिया में खाने में पाचक रस भली प्रकार मिल जाता है।

श्लेष्मिक झिल्ली की सिकुड़नों के भीतरी पर्त में जठर रस रहता है जो कि भोजन में मिल कर उसके पचने में सहायक होता है। ग्रहणी का द्वार बहुत ही संकुचित होता है अतः उसमें से केवल बारीक भोजन ही निकल सकता है। इस द्वार को निजठर द्वार (Pyloric opening) कहते हैं। इसमें से भोजन

ग्रहणी में जाता है जहाँ कि उसमें पित्त तथा अन्य पाचक रस मिल जाते हैं।

ग्रहणी को छोटी आँत का ही एक भाग कह सकते हैं। छोटी आँत में ही भोजन के शेष भाग का पाचन होता है तथा फिर शोषण होता है। छोटी आँतों की बनावट भी विशेष प्रकार की होती है। छोटी आँतों पर भी बाहर की ओर एक पतली झिल्ली होती है और भीतर पेशियों की एक तह होती है। पेशियों की दो पर्तें होती हैं। बाहरी पर्त में रेशे लम्बाई में होते हैं और भीतरी में गोलाई में। बीच में ढीले रेशे भी होते हैं और सबसे अन्दर श्लेष्मिक पर्त रहती है। इसमें कई तरह की श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ भी रहती हैं। इनसे रस भी निकलते हैं और ये अंकुरों के रूप में भी होती हैं जिनसे शोषण कार्य किया जाता है।

छोटी आँतों से भोजन बड़ी आँत में जाता है। छोटी आँत ही पेट के नीचे की ओर दाहिने कोने पर एक चौड़ी आँत का रूप धारण कर लेती है। जहाँ से छोटी आँत बड़ी आँत (Large intestine-colon) बनती है वहाँ एक छोटी-सी बन्द थैली होती है जिसे आँत पुच्छ (Appendix) कहते हैं। बड़ी आँत पेट के नीचे के भाग से ऊपर की ओर आँतों का घेरा देती हुई बाईं ओर मुड़ कर नीचे की ओर फिर पतली हो कर आ जाती है। अन्तिम पतला भाग गुदा (Rectum) होता है जो कि मलद्वार (Anal opening) द्वारा मल को बाहर फेंकता है।

यकृत (liver) एक बड़ा-सा भूरे से रंग का अंग होता है जो कि दो भागों (lobes) में बँटा हुआ होता है। इसका दाहिना भाग बायें से अपेक्षाकृत बड़ा होता है और दाहिनी ओर आँतों तक फैला होता है। इसका बायाँ भाग आमाशय तक होता है। इसके भीतर से पीलापन लिए हुए गहरे हरे रंग का एक पित्त (bile) नामक रस उत्पन्न होता है जो कि कई नालियों द्वारा पित्ताशय में एकत्रित होता है। यह यकृत के नीचे की ओर होता है। इसमें से एक नली ग्रहणी में जाती है। इसे पित्त नलिका (Bile duct) कहते हैं। पित्त स्वयं भोजन को पचाता नहीं है किन्तु यह भोजन को आँतों से शीघ्र निकलने में तथा क्लोम रस को उसे पचाने में सहायता देता है।

क्लोम (Pancreas) से भी पाचक रस उत्पन्न होता है। यह आमाशय के पीछे और नीचे की ओर होता है। इससे उत्पन्न पाचक रस को क्लोम रस (Pancreatic juice) कहा जा सकता है। वस्तुतः यह रस किसी भी उस पदार्थ को जो कि पचने से रह गया है, पचाने का कार्य करता है।

प्लीहा अथवा तिल्ली आमाशय के बाईं ओर होती है। बालक के प्रायः तिल्ली बढ़ जाने से पेट बढ़ा हुआ दिखाई देता है। तिल्ली बढ़ जाना एक रोग तो है ही इसका पाचन शक्ति पर भी प्रभाव पड़ता ही है।

कोई भी भोजन शरीर के विभिन्न अंगों तक उनके तन्तुओं को पुष्टि देने के लिए तब ही पहुँच सकता है जब कि वह रक्त में मिल जाए और किसी भी खाद्य पदार्थ के रक्त में मिल पाने के योग्य होने के लिए उसे बहुत से रूप परिवर्तित करने पड़ते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के बीच होकर ही होते हैं। वस्तुतः शरीर की ही विभिन्न ग्रन्थियों (glands) से निकलने वाले रस खाद्य पदार्थों के पचने में सहायक होते हैं और उन्हीं के द्वारा विभिन्न रासायनिक क्रियाओं का होना भी सम्भव होता है। खाद्य पदार्थों को उनके मिश्रित और जटिल रूप से साधारण रूप में लाने का श्रेय भी इन्हीं रसों को दिया जाना चाहिए।

प्रायः इन्ज़िमस (Enzymes) अपने भार से ५,००,००० से ले कर ४०,००,००० गुणा अधिक भार वाले खाद्य पदार्थों तक को पचा देते हैं। प्रायः स्टार्च, प्रोटीन, चर्बी आदि सब ही प्रकार के पदार्थों को पचाने के लिए इन्ज़िमस की आवश्यकता होती है और जिस पदार्थ को पचाने के लिए यह कार्य करते हैं उसी के अनुसार इनका नाम भी पड़ जाता है।

भोजन अथवा खाद्य पदार्थों में सर्वप्रथम परिवर्तन मुख में ही चबाने की क्रिया के द्वारा होता है। मुख में खाद्य पदार्थ को चबा चबा कर नरम, पतला और निगलने के योग्य गीला कर दिया जाता है। मुख में एक प्रकार का रस (Saliva) जो कि तीन जोड़े ग्रन्थियों (glands) से निकलता है खाद्य पदार्थों में मिल जाता है। इस प्रकार खाद्य पदार्थ अपने परिवर्तित रूप में निगल लिए जाते हैं। अब ये सब खाद्य पदार्थ पेट में एक स्थान पर एकत्रित

हो जाते हैं। इस स्थान पर ये कुछ देर रहते हैं। प्रायः विभिन्न अनुसन्धान-कर्ताओं के मतानुसार आधे घंटे से ले कर दो घंटे तक रहते हैं। धीरे-धीरे इसमें से थोड़ा-थोड़ा भाग पेट के मध्य भाग की ओर एसिड गैस्ट्रिक जूस से मिलने के पश्चात् चलता जाता है। यहीं पर पाचन-क्रिया का प्रमुख कार्य होता है। गैस्ट्रिक जूस पाचक रस होता है जिसमें हाईड्रोक्लोरिक एसिड तथा गैस्ट्रिक प्रोटीस, प्रेपसिन, रेन्निन तथा गैस्ट्रिक लिपास आदि होते हैं। असाधारण अवस्था में एसिड न्यूनाधिक भी हो जाता है। गैस्ट्रिक जूस के ठीक न होने से पाचन-क्रिया गड़बड़ हो सकती है। छोटी आँतों में भोजन के साथ अन्य रस भी मिल जाते हैं। ये रस भोजन के तीनों ही प्रमुख अंगों अर्थात् कार्बोहाइड्रेट, चर्बी, और प्रोटीन को पचा सकते हैं। ये सब ही रस अल्कलाइन होते हैं तथा हाईड्रोक्लोरिक एसिड के प्रभाव को कम करते हैं।

भोजन न तो चबाते हुए मुख में और न आमाशय में ही ऐसा हो पाता है कि शरीर अथवा रक्त-प्रणाली उसे ग्रहण कर सके। जल तो फिर भी पेट में पहुँचने पर कुछ न कुछ शरीर की रक्त-प्रणाली द्वारा ग्रहण कर भी लिया जाता है किन्तु भोजन तो पूरी तरह पच चुकने के पश्चात् ही शरीर द्वारा ग्रहण किया जाता है। छोटी आँतों से भोजन बड़ी आँतों में जाता है और वहाँ बहुत देर तक रहता है। कभी कभी तो एक अथवा अधिक दिन तक भी रहता है। वह भोजन जो कि नहीं पच पाता है अथवा पचने योग्य ही नहीं होता है कुछ अन्य पाचक रसों आदि सहित मल के रूप में बड़ी आँतों से शरीर के बाहर चला जाता है।

इतना तो निश्चित ही है कि यदि शरीर स्वस्थ हो अर्थात् शरीर के भीतर पाचन-प्रणाली से सम्बन्धित सब ही अंग अपना ठीक कार्य कर रहे हों और भोजन उचित मात्रा में किया जाए तथा सन्तुलित हो तो पाचन-क्रिया ठीक होनी चाहिए। इसका यह तात्पर्य होगा कि भोजन द्वारा शरीर को पुष्टि और बल प्राप्त होता रहेगा।

पाचन क्रिया—प्रायः जब भी कभी हम पाचन क्रिया की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान पाचनक्रिया की पूर्णता की अपेक्षा पाचनक्रिया

के शीघ्र और सरलता से होने की ओर ही अधिक रहता है। अधिकतर तो हमारा ध्यान भोजन के शीघ्र ही पच जाने की ओर ही रहता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होना संभव है कि जो भोजन बिना पचे ही छोटी आँतों में चला जाता है वह भी अन्त में शरीर द्वारा वैसे ही ग्रहण कर लिया जाता है जैसे कि आमाशय में ही पच जाने वाला भोजन ग्रहण कर लिया जाता है। साधारणतया स्वस्थ शरीर द्वारा किया गया भोजन भी किन्हीं कारणों से ठीक से पच नहीं पाता है और गृहिणी को इन कारणों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि भोजन में चयन, पकाने, परोसने, स्वच्छता आदि का महत्त्व तो है किन्तु भोजन कैसे वातावरण में किया जाए यह भी कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है। गृहिणी को घर में भोजन करते समय ऐसा वातावरण उपस्थित करना चाहिए जिससे कि भोजन के पचने में बाधा न पड़े।

स्वभाव एवं रुचि के अनुसार किया जाने वाला भोजन शीघ्र ही पच जाता है। भोजन का प्रकार और उसके पकाने की रीति भी भोजन के शीघ्र पचने में सहायक अथवा बाधक सिद्ध हो सकती है किन्तु इन सब से आवश्यक बात है भोजन करने वाले की मानसिक अवस्था। यदि क्रोध अथवा भय की अवस्था में भोजन किया जाए तो उसके पचने में कठिनाई होती है। दूसरी ओर भोजन करते समय की मानसिक प्रफुल्लता और आनन्द भोजन के शीघ्र ही पचने में सहायक होते हैं। प्रायः स्त्रियाँ पति से भोजन करते समय ही घर-गृहस्थी की सारी बातचीत करती हैं। ऐसी बातों से चिन्ता और कभी कभी क्रोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है जो कि अत्यन्त हानिकर है, अतः चतुर गृहिणी को चिन्ता आदि की बातचीत पति से भोजन करते समय नहीं करनी चाहिए। बालकों को भी भोजन करते समय डाँटना, झिड़कना नहीं चाहिए। यथासम्भव भोजन परिवार के सदस्यों की रुचि के अनुसार तो बनना ही चाहिए, भोजन करते समय का वातावरण भी आनन्ददायक ही होना चाहिए। भोजन के पकाने तथा चबाने में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि भली प्रकार पिसा हुआ भोजन कठिन और कड़े भोजन की अपेक्षा शीघ्र पच जाता है। प्रथम तो खाद्य पदार्थों को पकाते समय ही भली प्रकार गला और कुचल कर बारीक

कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् मुख में भी भली प्रकार चबाना चाहिए। शीघ्रता से किया हुआ भोजन भली प्रकार चबा कर बारीक नहीं किया जा सकता है अतः उसे पचाने में कठिनाई होती है। प्रायः पतला भोजन शीघ्र पच जाता है। रोगी को तो दूध, फलों अथवा सब्जी का रस आदि पतली खाद्य वस्तुएँ ही देना चाहिए ताकि वह शीघ्र ही पच सकें।

एक समय में कितनी मात्रा में भोजन किया जाता है यह भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि भोजन के पचने पर इसका प्रभाव भी पड़ता ही है। वस्तुतः रोगी अथवा न्यून पाचन शक्तिवान् व्यक्तियों को थोड़े-थोड़े समय पश्चात् थोड़ा-थोड़ा भोजन देना चाहिए तथा एक ही बार में अधिक मात्रा में भोजन नहीं देना चाहिए। भोजन में से ऐसे खाद्य पदार्थ जहाँ तक हो सके निकाल ही देने चाहिए जो कि पच नहीं सकते हैं? शरीर के पाचन यन्त्रों पर अनावश्यक भार डालना अनुचित है। अपच एवं भारी खाद्य पदार्थ खाने तथा खाद्य पदार्थों को कम चबा कर खाने अथवा उन्हें भली प्रकार से न पका कर खाने से हमारी पाचन क्रिया पर और पाचन यन्त्रों पर अनावश्यक भार पड़ता है जिससे कि पाचनक्रिया के शीघ्र ही गड़बड़ा जाने का भय रहता है। भूख से अधिक भोजन कर लेना, जल्दी-जल्दी अधिक मात्रा में भोजन करना, बासी और सूखी खाद्य वस्तुओं का भक्षण करना भी पाचन क्रिया पर अत्याचार करना ही है। भोजन का सन्तुलित होना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर को एक ही तत्त्व की आवश्यकता होती हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः शरीर को विभिन्न तत्त्वों की आवश्यकता होती है और भोजन में उन सब ही तत्त्वों का सम्मिलित होना आवश्यक है अतः उन सब ही तत्त्वों को लिये दिये हमारा भोजन सन्तुलित होना चाहिए।

विभिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता शरीर के विभिन्न कार्यों को सुन्दर ढंग से संचालित होने देने के ही लिए है और ये कार्य हैं शरीर के विभिन्न अंगों का गठन और उनका बढ़ना, शरीर में शक्ति बनाये रखना और शरीर के विभिन्न कार्यों को ठीक ढंग से चलते रहना, बनाये रखना।

शक्ति और ताप—शरीर द्वारा जब भी कोई काम किया जाता है

तब शरीर की शक्ति का उपयोग होता है। जानबूझ कर किये गए इच्छित कार्यों में ही शक्ति का उपयोग होता हो, ऐसा नहीं है। शक्ति का उपयोग तो वहाँ भी होता है जहाँ कि शरीर हमारे बिना जाने भी अपने कार्य करता रहता है जैसे—रक्त-संचालन, पाचन-क्रिया, श्वास-क्रिया आदि आदि। शरीर को कार्य तो करना ही पड़ता है अतः शक्ति का ह्रास होता ही है, शरीर के ताप का व्यय भी होता है अतः यह भी तो आवश्यक है कि उस व्यय की पूर्ति की जाए और वह भोजन करने के द्वारा नवीन ताप एवं शक्ति उत्पन्न करके ही किया जा सकता है। वस्तुतः कोई एक शरीर जितना कार्य करता है अर्थात् ताप उत्पन्न करता है तथा जितना भी उसके द्वारा कुल भोजन किया जाता है इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यह भी विचारणीय होता ही है कि वह किस प्रकार का कार्य करता है। शारीरिक परिश्रम करने वाले शरीर के लिए बौद्धिक परिश्रम करने वाले शरीर की अपेक्षा भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। वस्तुतः कोई भी शरीर जितना कि वह भोजन करता है उसकी अपेक्षा अधिक कार्य केवल उसी अवस्था में कर सकता है जब कि वह शरीर की 'संचित शक्ति' से अथवा उस शक्ति से जिसका उपयोग दैनिक कार्यों में नहीं होता है क्यों कि वह आवश्यकता से अधिक होती है, उधार लेता है किन्तु इस प्रकार संचित शक्ति से उधार ले कर भोजन की अपेक्षा अधिक कार्य करना शरीर के लिए अहितकर है क्योंकि उस अवस्था में जब भी कभी वह संचित शक्ति समाप्त हो जायेगी शरीरपात होना आवश्यक हो जायेगा। वस्तुतः प्रत्येक शरीर को उतने भोजन की आवश्यकता है जितना कि उसकी व्यय की गई शक्ति की पूर्ति कर पाने योग्य तो हो ही उससे कुछ अधिक ही हो।

ताप और शक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ताप का माप पिछले अनेकों वर्षों से कैलोरी (Calorie) के द्वारा ही किया जाता है। भोजन की ताप उत्पन्न करने की शक्ति मापने के लिए एक छोटे से यन्त्र का प्रयोग किया जाता है जिसे कि 'बम कैलोरी मीटर' (Bomb Calorimeter) कहा जाता है।

किस व्यक्ति के लिए कितनी कैलोरी प्रतिदिन भोजन द्वारा दी जानी चाहिए यह उस व्यक्ति की आयु, दैनिक कार्य आदि को देख कर ही निश्चित

किया जा सकता है। मानसिक एवं बौद्धिक कार्य का प्रभाव उतना अधिक नहीं होता है जिसे कि कैलोरी मीटर द्वारा ठीक ढंग से मापा जा सके किन्तु शारीरिक परिश्रम का प्रभाव बहुत अधिक होता ही है अतः किसी भी एक व्यक्ति के भोजन में कितनी कैलोरी होनी चाहिए यह उसका पूर्ण अध्ययन किए बिना नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः भोजन की आवश्यकता तो उस शारीरिक शक्ति के व्यय की पूर्ति करने के लिए ही है जो व्यय कि दिन भर में होता है और शारीरिक शक्ति का कार्य द्वारा होने वाला ह्रास भी तो प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक कार्य पर ही निर्भर रहता है। दफ्तर के क्लर्क, सुपरिंटेंडेंट, आफिसर और मकान बनाने वाले राज मज़दूर, पहाड़ पर बोझा ढोने वाले कुली, खेत में दिन भर कार्य करने वाले कृषक आदि के कार्य भिन्न-भिन्न हैं और तदनुसार ही उनके शरीर की शक्ति व्यय होती है एवं उसे देखते हुए ही उनके भोजन की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। गर्भ के बालक, गोद के बालक, नन्हें बच्चे, स्कूल जाने वाले बालक, पुरुष, गर्भवती स्त्री और दूध पिलाने वाली माता आदि की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं का भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि भोजन सम्बन्धी शारीरिक आवश्यकताओं पर व्यक्ति की आयु, उसके दैनिक कार्य, वासस्थान के जलवायु आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यूँ बेन्डिक्ट, होबलर, रोज़ आदि ने इस दिशा में अनुसन्धान किए हैं और उनका महत्त्व भी अत्यधिक है किन्तु यह तो निश्चित ही है कि सब ही व्यक्तियों की भोजन सम्बन्धी शारीरिक आवश्यकताएँ एक सी नहीं हैं और उनकी भिन्नता के मुख्य आधार व्यक्ति की अवस्था और उसका दैनिक कार्य आदि ही हैं। टाइगरस्टेडट (Tigrstedt) ने कुछ एक व्यवसायों के लोगों की शारीरिक आवश्यकताओं को मापने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ—उनके विचारानुसार चमार अथवा मोची के लिए २००० से २४०० कैलोरी प्रतिदिन पर्याप्त हैं। जुलाहे के लिए २४०० से २७०० कैलोरी प्रतिदिन ठीक रहेंगी। राज, मज़दूर अथवा बढ़ई के लिए वह २७०० से ३२०० कैलोरी प्रतिदिन की व्यवस्था देते हैं। कृषक के लिए ३२०० से ४१०० तक कैलोरी प्रतिदिन ठीक रहेगी। इसी प्रकार उन्होंने एक आध और व्यवसायों में कार्य करने वालों के लिए भी

व्यवस्था देने का प्रयत्न किया है। सब ही प्रकार का भोजन भी एक ही सी मात्रा में ताप अथवा शक्ति नहीं देता है। शरीरिक ताप एवं शक्ति पर जलवायु, मौसम, घर और पहने हुए वस्त्रादि का भी प्रभाव पड़ता ही है। इनके अतिरिक्त बहुत अधिक व्रतादि रखने, भोजन के प्रकार, बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम करने, आयु, निद्रा आदि का भी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आधुनिक युग में विटामिन की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है फिर भी शक्ति के ह्रास की पूर्ति के लिए तथा शरीर में उपयुक्त परिमाण में ताप बनाए रखने के लिए कैलोरी की आवश्यकता बनी ही रहती है।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि शरीर के विभिन्न कार्यों के लिए भोजन में जिन तत्त्वों का होना आवश्यक है उन्हें पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत रख कर देखा जा सकता है। इन शीर्षकों की ओर हम संकेत भी कर चुके हैं। ये हैं प्रोटीन, वसा अथवा स्निग्धता, कार्बोहाइड्रेट, मिनरल पदार्थ और विटामिन। ये ही सब मिल कर शरीर के समस्त कार्य सहज और सुलभ कर देते हैं तथा इनमें से किसी भी एक के अभाव के फलस्वरूप शरीर अस्वस्थ हो जाता है तथा सुचारु रूप से कार्य भी नहीं कर पाता है। सुगृहिणी के लिए यह जानना आवश्यक है कि इनमें से प्रत्येक की आवश्यकता कितनी मात्रा में विभिन्न शरीरों के लिए होती है और तत्सम्बन्धी कार्य कौन कौन से हैं।

अध्याय ३

भोजन के प्रमुख तत्त्व

प्रोटीन—प्रोटीन साधारणतया कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन से मिल कर बनती है। प्रायः उनमें सल्फर पाया जाता है और कभी-कभी फौसफोरस और आइरन भी मिलता है। यह देर तक रखी जा सकती है किन्तु इसे शुष्क रूप में ही रखा जा सकता है। गीले होने पर सड़ने का भय रहता है।

प्रायः प्रोटीन का प्रथम और मौलिक उद्‌गम वनस्पति ही है। यूँ तो ताज़े मांस, मछली और अंडे में भी प्रोटीन पाई जाती है किन्तु वह प्रायः पशुओं आदि के वनस्पति खाने से ही उन्हें मिल पाती होगी। हरे पौधे आदि जल, कार्बनडाओक्साइड और नाइट्रोजन लवण आदि से प्रोटीन प्राप्त करते हैं और ये वस्तुएँ उन्हें पृथ्वी तथा वायु से मिल जाती हैं।

प्रोटीन नाइट्रोजन से बनती है और उसमें लगभग २२ अमीनो एसिड (amino acids) होते हैं। इनमें से ८ तो अनिवार्य हैं। वे तो उन्हीं वस्तुओं द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं जिनमें कि ये एसिड हों। पाचन क्रिया के द्वारा प्रोटीन विभिन्न तत्त्वों में बाँटे जाकर रक्त द्वारा विभिन्न अंगों तक पहुँचाये जाते हैं। वस्तुतः शरीर के विभिन्न अंगों, मांसपेशियों, त्वचा, लिवर, किडनी आदि के तन्तुओं की बनावट सर्वथा एक सी ही नहीं होती है अतः शरीर इन अमीनो एसिडों के द्वारा अपनी आवश्यकतानुसार शारीरिक प्रोटीन बना लेता है और फिर उन्हें विभिन्न अंगों के गठन आदि के लिये दे देता है। शरीर के तन्तु धीरे धीरे क्षीण होते और बनते तो रहते ही हैं अतः उनकी मरम्मत और पुनर्निर्माण के लिए अमीनोएसिड की आवश्यकता रहती ही है जो कि शरीर को पचे हुए भोजन अथवा शरीर के भीतर से ही प्राप्त होता रहता है।

प्रोटीन के प्रकार—प्रोटीन विभिन्न प्रकार के होते हैं और उनके प्रकार का निश्चय इस आधार पर किया जाता है कि कौन सी प्रोटीन में कितने और किस प्रकार के अमीनो एसिड हैं। पूर्ण प्रोटीन उसे कहा जा सकता है जिसमें कि पर्याप्त मात्रा में वे सब ही अमीनो एसिड हों जो कि साधारणतया शरीर के बढ़ने और उसे बनाए रखने के लिए आवश्यक होते हैं। कुछ ऐसी भी प्रोटीन होती हैं जो कि जीवन-रक्षा के लिए तो पर्याप्त हो सकती हैं किन्तु साधारणतया शरीर के गठन और वृद्धि के लिए अपर्याप्त होती हैं। ऐसी भी प्रोटीन होती हैं जो कि दोनों ही कार्य करने के अयोग्य होती हैं। विभिन्न प्रकार की खाद्य वस्तुओं का प्रयोग करने से प्रायः सब ही प्रकार की प्रोटीन मिल जाती है और एक की कमी दूसरे से पूरी भी की जा सकती है। उदाहरणार्थ—गेहूँ और दाल आदि के साथ दूध भी लेने से उनके प्रोटीन सम्बन्धी अभाव की पूर्ति

हो जाती है। अतः विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों को भोजन में सम्मिलित करना अच्छा ही होता है। प्रोटीन शरीर को लाभ तो उसी अवस्था में पहुँचा सकती है जब कि वह पच कर रक्त द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों, तन्तुओं तक पहुँच जाए।

प्रोटीन के कार्य—प्रोटीन शरीर-स्थित विभिन्न तन्तुओं का गठन, निर्माण कार्य तो करती है साथ ही साथ उनका संचालन कार्य भी करती है किन्तु इसके अतिरिक्त यह शरीर के लिए शक्तिदायिनी भी होती है। यद्यपि शक्ति-दायिनी होने के सम्बन्ध से प्रोटीन को अधिक श्रेय नहीं दिया जा सकता है क्यों कि यह ताप उत्पत्ति की बहुतायत भी कर देती है जो कि अनावश्यक और कभी-कभी हानिकर भी हो सकता है।

जीवधारियों के शरीर को जीवित रखने के लिए प्रोटीन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। प्राचीन अनुसन्धान कर्ताओं एवं भोजन विज्ञान के विशेषज्ञों का विचार था कि प्रोटीन के १०० से १५० ग्राम तक प्रतिदिन दिए जाने पर शरीर की प्रोटीन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। इस प्रकार का अनुमान किसी विशेष ढंग के वैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर नहीं किया गया था। कुछ काल से मेल यूनीवर्सिटी में इस विषय को वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षण आदि के आधार पर अध्ययन का विषय बनाया गया है। कई मास के निरन्तर अध्ययन के फलस्वरूप चित्तनदेन (Chittenden) इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रोटीन की उतनी अधिक मात्रा में शरीर के लिए आवश्यकता नहीं है जितनी कि पुरातन विद्वानों के विचार में थी क्यों कि अधिक मात्रा में लेने से प्रोटीन लाभप्रद की अपेक्षा हानिकर ही अधिक होती है। स्वयं उन्होंने प्रोटीन ६० ग्राम प्रतिदिन खाकर अपने आपको अधिक स्वस्थ और कार्य के लिए उपयुक्त पाया। शेरमन (Sherman) के मतानुसार शरीर के एक किलोग्राम भार के लिए एक ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन आवश्यक है। सम्भवतः शरीर की प्रोटीन सम्बन्धी वास्तविक आवश्यकता इससे भी कुछ न्यून ही हो। यूँ साधारणतया एक पुरुष के लिए ७० से १०० ग्राम तक प्रोटीन प्रतिदिन दी जा सकती है।

प्रोटीन प्रायः मांस, मछली, दूध, पनीर, अंडे, मटर, फलियों, सोयाबीन,

बादाम, अखरोट, अन्न, दाल आदि में मिलती है। यूं तो मांस में प्रायः प्रोटीन अच्छी मात्रा और प्रकार में मिल जाती है किन्तु सोयाबीन आदि में भी प्रोटीन का अच्छा प्रकार रहता है। अन्न, दाल आदि यद्यपि प्रोटीन का बहुत अच्छा उद्गम नहीं है फिर भी उनमें १०% प्रोटीन मिल जाती है। ताजे फलों तथा तरकारियों में भी बहुत थोड़ी सी मात्रा में प्रोटीन मिल जाती है।

स्निग्धता अथवा वसा (Fats)—यह कार्बन, हाइड्रोजन और औक्सीजन से मिल कर बनती है। इसमें प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा औक्सीजन कुछ कम होती है और कार्बन तथा हाइड्रोजन अधिक होते हैं। यह प्रोटीन अथवा कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा २¼ गुणा अधिक ताप उत्पन्न करती है। इसमें अनेकानेक एसिड होते हैं। प्रत्येक प्रकार की चर्बी का अपने ही ढंग का मिश्रण होता है तथा उसके गुण भी अन्य प्रकार की चर्बी से भिन्न होते हैं। तेल, घी आदि तरल पदार्थ स्निग्धता रखते हैं किन्तु यह मांस आदि में भी होती है यद्यपि वे कठिन पदार्थ हैं।

शरीर के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। यही नहीं कि स्निग्ध पदार्थ के बिना हमारा भोजन स्वादिष्ट नहीं बनता है वरन ये आमाशय के भीतर भी उपयोगी सिद्ध होते हैं।

स्निग्धता के साथ ही साथ फोसफोलिपिड (phospholipids) तथा स्टेरोल (Sterols) भी आवश्यक एवं उपयोगी होते हैं।

वस्तुतः इससे सम्बन्धित तीन एसिड अत्यन्त आवश्यक हैं। ये हैं एराकिडोनिक (arachidonic) लिनोलेक (linoleic) और लिनोलेनिक (linolenic)।

शीघ्र पिघलने वाली स्निग्धता प्रायः शीघ्र पच जाती है किन्तु स्निग्धता से घिरा हुआ खाद्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही नहीं पचता है। यही कारण है कि तली हुई खाद्य वस्तुएँ कठिनाई से पचती हैं। यूँ मक्खन शीघ्र पचता है किन्तु उसमें तली हुई वस्तु शीघ्र ही नहीं पच पाती है। इसी से रोगी और मन्दाग्नि वाले व्यक्तियों को तली हुई खाद्य वस्तुएँ नहीं दी जानी चाहिए।

शरीर के लिए स्निग्धता की अत्यधिक आवश्यकता तो है किन्तु इसे

किस रूप में और किस प्रकार देना चाहिए यह गृहिणी को जानना चाहिए। यूँ तो घी, तेल आदि वस्तुओं में यह मिलती है किन्तु इन वस्तुओं को यदि तलने के लिए काम में ला कर परिवार के व्यक्तियों को बहुत अधिक दिया जायेगा तो उनकी पाचन-क्रिया बिगड़ जाने का भी तो भय रहेगा ही। प्रायः कुछ परिवारों में रात्रि में पूरी अथवा पराठा खाने की रीति है। कुछ परिवार प्रातः काल जलपान के समय पराठा ही खाते हैं। सन्ध्या के जलपान में भी कचौड़ी समोसे, पकोड़े आदि खाने की रीति है। किन्तु तली हुई वस्तुएँ जैसा कि हम ऊपर कह ही चुके हैं शीघ्र नहीं पचती हैं, जो कि हानिकर है। अतः गृहिणी को स्निग्ध पदार्थ भोजन में उचित मात्रा में और उचित रीति से ही सम्मिलित करने चाहिए। स्निग्धता और कारबोहाइड्रेट दोनों ही शक्ति-प्रदायिनी वस्तुएँ हैं। शरीर में इनका जमा रहना शरीर को यान्त्रिक चोटों से बचाता है तथा शरीर के विभिन्न अंगों पर रक्षक की भाँति छाया रहता है तथा शरीर के ताप को भी नियंत्रित करता रहता है तथा उसे बाहर निकल कर नष्ट होने देने से भी बचाता है किन्तु इसका बहुत अधिक परिमाण में शरीर में जमा होना दिल और अन्य अंगों पर आवश्यकता से अधिक भार भी लाद देता है जो कि हानिकर होता है। अतः शरीर में स्निग्धता अथवा चर्बी जमा तो होनी चाहिए किन्तु बहुत अधिक मात्रा में नहीं होनी चाहिए।

स्निग्धता के उद्गम—दूध, मक्खन, मलाई, दूध की बनी अन्य खाद्य वस्तुओं तथा अंडे में भी अच्छी स्निग्धता पाई जाती है। मांस में भी स्निग्धता या चर्बी मिलती है। मछली तथा अन्य पशुओं की कलेजी में भी चर्बी अथवा स्निग्धता तथा अन्य लिपिड (lipids) तथा चर्बी सम्बन्धी एसिड मिल जाते हैं। वनस्पतियों से भी तेल निकाले जाते हैं और उनमें भी स्निग्धता पाई जाती है। जैसे सरसों का, नारियल का, बादाम का, सोयाबीन का, बिनौले आदि का तेल। वनस्पति घी में भी कुछ चिकनाई होती ही है किन्तु स्निग्धता प्राप्त करने के लिए सर्वाधिक अच्छी वस्तुएँ घी, दूध, मक्खन और मलाई ही हैं।

कार्बोहाइड्रेट—वे कार्बन, हाइड्रोजन और औक्सीजन से मिल कर बनते हैं। अन्तिम दो तो प्रायः उसी अनुपात से रहते हैं जिससे कि जल में रहते हैं।

ये प्रायः वनस्पति खाद्य पदार्थों में होते हैं। शरीर के लिए इनकी भी आवश्यकता होती है।

उपयोगिता—कार्बोहाइड्रेट (स्टार्च और मिठास) शरीर में शक्ति और ताप उत्पन्न करते हैं। हाईड्रोजन सब से अधिक ताप उत्पन्न करने वाला पदार्थ है और कार्बन को इस दिशा में द्वितीय माना जा सकता है। शरीर कुछ न कुछ कार्य तो करता ही रहता है और प्रत्येक कार्य के करने में शरीर का कुछ न कुछ ताप तो व्यय हो ही जाता है अतः उसकी पूर्ति करने के लिए भोजन में कार्बोहाइड्रेट आदि का होना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर दो प्रकार के कार्य करता है। कुछ कार्य तो ऐसे होते हैं जो कि मनुष्य जानबूझ कर, इच्छा कर के करता है और कुछ कार्य शरीर के द्वारा ऐसे भी होते हैं जिनका कि कर्ता को ज्ञान भी नहीं होता है फिर भी वे कार्य शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा अपने आप ही होते रहते हैं। यूँ चलना फिरना आदि कार्यकर्ता जानबूझ कर इच्छा से करता है किंतु पाचन-क्रिया, श्वास-क्रिया, रक्त-संचालन आदि कार्य कर्ता की इच्छा और उसके ज्ञान के बिना भी शरीर के भीतर ही भीतर होते रहते हैं। इच्छा के बिना शरीर धर्म के रूप में जो कार्य शरीर करता ही रहता है उनके द्वारा व्यय होने वाले ताप और शक्ति की पूर्ति के लिए तो एक मात्रा विशेष में भोजन मिलते रहने की आवश्यकता होती ही है किन्तु इच्छित कार्यों के लिए तो कोई एक मापदण्ड स्थिर किया नहीं जा सकता है क्यों कि कर्ता जितना शारीरिक श्रम करेगा उसी के अनुपात से उसकी शारीरिक उष्णता और शक्ति का व्यय होगा और उसी अनुपात से उनकी पूर्ति के लिए उसे भोजन करना चाहिए। साधारण श्रम के लिए न्यून और कठिन श्रम के लिए अधिक मात्रा में कार्बोहाईड्रेट की आवश्यकता होती है। मिठास और स्टार्च के रूप में शरीर में ताप एवं शक्ति उत्पन्न करने के लिए कार्बोहाइड्रेट ली जा सकती है। सेल्यूलोस (Cellulose) भी यद्यपि इसी समूह की वस्तु कही जा सकती है किन्तु वह पच नहीं पाती है। स्टार्च और सैल्यूलोस को पोलीसच्चाराइड (Polysaccharides) कहते हैं जब कि मिठास के दो वर्ग किए जा सकते हैं, मोनोसच्चाराइड (monosaccharides) और

डिसच्चाराइड (disaccharides) ।

मिठास—मोनोसच्चाराइड उस प्रकार की मिठास वाली वस्तुएँ होती हैं जो कि ऐसी नहीं होती हैं कि अंशों में बाँटी जाने पर भी अपना गुण बनाये रख सकें। डिसच्चाराइड मिठास को दो भागों में बाँटा जा सकता है और तत्पश्चात् भी उनका पूर्वरूप बना ही रहता है। मोनोसच्चाराइड तीन प्रकार की होती हैं, डेक्सट्रोस अथवा ग्लूकोस (dextrose grape sugar अथवा glucose) ल्वेयूलोस अथवा फलों की मिठास (levulose-fructose अथवा fruit sugar), और ग्लैक्टोस (galactose)। ये सब सरलता से ही पच जाती हैं। डेक्सट्रोस अधिकतर फलों और विशेषतया अंगूर में मिलती है। अंगूर के अतिरिक्त अन्य फलों, अधिकतर तरकारियों और मधु में इस प्रकार की मिठास होती है। व्यापारिक ग्लूकोस अथवा डेक्सट्रोस तो स्टार्च तथा अन्य कार्बोहाइड्रेट को एसिडों के साथ उबाल कर, पका कर, तैयार की जाती है। इस प्रकार की मिठास का ही शरबतों आदि में प्रयोग किया जाता है। प्रायः सब ही जीवों के रक्त में थोड़ी बहुत ग्लूकोस होती ही है। ल्वेयूलोस भी प्रायः अधिकतर फलों, अधिकांश तरकारियों और मधु में पाई जाती है। ग्लेक्टोस प्रायः सरलता से नहीं मिलती है। वह तो दूध की मिठास अथवा लेक्टोस के पचने पर ही मिलती है।

मुख्यतः डिसच्चाराइड तीन प्रकार की होती हैं लेक्टोस, सुक्रोस और माल्टोस। लेक्टोस दूध में पाई जाती है। सुक्रोस अनेकों फलों तथा वनस्पतियों के रसों में तथा माल्टोस बारले (जौ) आदि में पाई जाती है। आमाशय में स्टार्च के पचते समय भी यह बनती है। सुक्रोस व्यापारिक ढंग पर गन्ने से बनाई जाती है और यही चीनी प्रायः घरों में प्रयोग में लाई जाती है। अधिक मीठा आमाशय की म्यूकस परत के लिए हानिकर होता है। प्रायः चीनी आमाशय तक पूरी तरह घुले हुए रूप में ही पहुँचनी चाहिए। खाली पेट तो मिठाई खानी ही नहीं चाहिए। विशेषतया खाली चीनी खाली पेट फाँकना तो और भी हानिकर है। प्रातःकाल के जलपान में भी चीनी की मात्रा बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए और आँख खोलते ही बच्चों को लड्डू आदि देना तो

चाहिए। इसी लिए गेहूँ को पीस कर आटे के रूप में अथवा दल कर दलिए के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। यद्यपि स्टार्च शीतल जल में सरलता से घुल नहीं पाती है किन्तु पकाने से घुल जाती है। गेहूँ को पीस कर आटे को शीतल जल से गूँध कर इसीलिए तो रोटी बनाई जाती है।

स्टार्च पचते हुए कई रूप परिवर्तित करता है। यही कारण है कि यदि रोटी के टुकड़े को अधिक देर तक चबाया जाय तो वह मीठा लगने लगता है। सालीवा कच्चे स्टार्च को पचा नहीं पाता है अतः स्टार्च को पका कर खाना ही उचित है। स्टार्च को भली प्रकार चबाने की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि अधिकतर स्टार्च का पचना इसी पर निर्भर होता है। शरीर में तो स्टार्च का तब ही उपयोग हो पाता है जब कि वह मिठास में परिवर्तित हो जाय। मुख में चबाने की क्रिया करते हुए ही और तत्पश्चात् पाचन-क्रिया होते होते ही स्टार्च डेक्सट्रीन, मिठास और माल्टोस में परिवर्तित हो जाता है। यूँ तो डेक्सट्रीन कुछ अन्न आदि में भी पाई जाती है किन्तु अधिकतर तो यह स्टार्च के माल्टोस तक परिवर्तित होने की प्रक्रिया में मध्यावस्था में ही होती है।

कार्बोहाइड्रेट शरीर के तन्तुओं के निर्माण करने वाला खाद्यपदार्थ नहीं है वरन् यह तो शरीर के कार्य चलते रहने के लिए आवश्यक शक्ति और ताप उत्पन्न करने वाला भोजन है। शरीर की आवश्यकता से अधिक खा लेने पर यह ग्लाइकोजन और चर्बी के रूप में शरीर में जमा भी होता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर काम में भी आता है। अधिक वजन भी इसी से बढ़ जाता है। किसी भी प्रकार के, यहाँ तक कि वजन घटाने की दृष्टि से किये जाने वाले भोजन में भी कार्बोहाइड्रेट की मात्रा भले ही कम हो, कुछ न कुछ रहना अवश्य ही चाहिए।

मिनरल्स—मानव-शरीर को बहुत से रासायनिक तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से प्रत्येक का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह शरीर के किसी न किसी अंग के निर्माण अथवा कार्य-कलाप में सहायक होता है।

कैलशीयम और फोसफरस ऐसे तत्त्व है जो कि शरीर की अस्थियों तथा दाँतों के निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। ये अस्थियों को शक्ति

और स्थिरता देते हैं। शरीर के अधिकांश कैलशीयम का और बहुत कुछ फोसफरस का उपयोग अस्थि-निर्माण और उन्हें बल देने में ही किया जाता है। बालकों के भोजन में तो कैलशीयम और फोसफारस पर्याप्त मात्रा में होना ही चाहिये क्योंकि उनके शरीर की अस्थियाँ निर्माण-प्रक्रिया में ही होती हैं। उन्हें पूरी तरह ये वस्तुएँ न मिलने पर रिकेट तथा अन्य अस्थि-रोग होने का भय रहता है। कभी-कभी तो शरीर की गठन भी बेढंगी और अस्वाभाविक हो जाती है। दाँतों की भी गठन ठीक नहीं होती है।

अस्थि निर्माण के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों का उत्तरदायित्व भी कैलशीयम और फोसफरस पर होता है। रक्त में भी कैलशीयम का होना आवश्यक है। फोसफरस की शरीर के प्रत्येक सेल के लिए आवश्यकता होती है और विशेषतया नर्व तन्तुओं (nerve tissues) के लिए तो इसकी बहुत ही अधिक आवश्यकता होती है। रक्त-निर्माण और भोजन के पूरे-पूरे उपयोग कर पाने के लिए भी इनकी आवश्यकता होती है। लगभग हमें अपनी दैनिक आवश्यकता के लिए प्रति व्यक्ति ०·४५ ग्राम कैलशीयम और ०·४४ ग्राम फोसफरस पर्याप्त हो सकती है। यह तो कम से कम आवश्यकता की बात है। इससे तनिक अधिक लेना ही उचित होगा ताकि कुछ भविष्य के लिए भी शरीर में बचा रहे। अच्छा तो यह हो कि इससे प्रायः ५०% अधिक लिया जाए।

गर्भवती स्त्री के लिए इन पदार्थों की कुछ अधिक आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है। विशेषतया गर्भावस्था के अन्तिम छः मास में तो इन वस्तुओं की अधिक आवश्यकता होती है। बालक को माता जब तक दूध पिलाती है तब तक भी उसके दूध में इन पदार्थों का पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है और वैसा होना तब ही सम्भव है जब कि माता के भोजन में ये पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हों। वस्तुतः दूध पिलाने की अवस्था में पर्याप्त मात्रा में दूध में कैलशीयम का आते रहना सम्भव करना कुछ कठिन हो जाता है। गर्भावस्था में स्त्री के भोजन में प्रतिदिन १·५ से २ ग्राम तक कैलशीयम और इससे २५ प्रतिशत अधिक फोसफरस होना चाहिये। दूध पिलाने की अवस्था में कैल-शीयम २ से ४ ग्राम तक प्रतिदिन स्त्री को मिलना चाहिए और इसी अनुपात

से फोसफरस भी बढ़ा देना चाहिए। साथ ही साथ विटामिन डी भी पर्याप्त मात्रा में मिलनी चाहिए ताकि कैलशीयम और फोसफरस का ठीक-ठीक उपयोग हो सके। बालक के लिए भी इन वस्तुओं की आवश्यकता आयु के अनुपात से ही लगाई जा सकती है। लगभग छः मास के शिशु की कैलशीयम सम्बन्धी आवश्यकता उतनी ही होती है जितनी कि बड़े आदमी की और बाल्यकाल के मध्य तथा अन्तिम भाग में बालक को कैलशीयम बड़े आदमी से लगभग चौथाई अधिक मिलना चाहिए। बढ़ते हुए शरीर को इन वस्तुओं की बढ़ चुके शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता होती है। दूध में मिलनेवाला कैलशीयम बच्चों के लिए अन्य खाद्य पदार्थों में मिलनेवाले कैलशीयम की अपेक्षा कहीं अधिक हितकर होता है। इसीलिये बच्चों को दूध अधिक देना चाहिए। यूँ कैलशीयम अंडे, पनीर, हरी तरकारियों में भी मिलता है।

फोसफरस भी अस्थि-निर्माण में सहायक होता है। इस दृष्टि से बालक के लिए कैलशीयम की अपेक्षा २५% अधिक फोसफरस की आवश्यकता होती है। यह भी दूध, अंडे, पनीर, अन्न आदि में मिलता है।

उद्गम—कैलशीयम और फोसफरस की दृष्टि से दूध, पनीर, अंडे, अधिकतर तरकारियाँ, कुछ फल और मेवे अच्छे होते हैं। साबुत अन्न में फोसफरस तो मिल जाता है किन्तु कैलशीयम नहीं होता है। पान और चूना भी इस दृष्टि से उपयोगी हैं। ये वस्तुएँ शरीर की आवश्यकता से अधिक ही खाई जानी चाहिये। इनकी आवश्यकता से अधिक की मात्रा प्रोटीन आदि की अपेक्षा कुछ अधिक हो तों भी हानि नहीं होगी। हमारे भोजन में प्रायः इन वस्तुओं की कमी ही रहती है।

आयरन—यद्यपि हमारे शरीर में आयरन का अनुपात अन्य वस्तुओं अथवा तत्त्वों की अपेक्षा न्यून होता है किन्तु यह रक्त के लाल सेल्स (hemoglobin) के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यही नहीं, यह कुछ और ऐसे तत्त्वों के लिये भी आवश्यक होता है जो कि शरीर के सब ही सेल्स में विद्यमान होते हैं जैसे कि क्रोमाटीन ग्रैनुयल (chromatin granules)। हेमोग्लोबिन अथवा रक्त के साथ सम्बन्धित होने के कारण आयरन का शरीर के लिए

अत्यधिक महत्व है। अतः हमारे भोजन में इसका पर्याप्त अंश होना आवश्यक है। वस्तुतः शरीर में आयरन का बहुत ही अच्छी तरह उपयोग भी किया जाता है और वह भली प्रकार ग्रहण भी किया जाता है। शरीर के निर्माण, गठन और बढ़ने के लिए, गर्भावस्था में और किसी कारण बहुत सा रक्त निकल जाने की अवस्था में आयरन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। आयरन की कमी से अनीमिया (anemia) अर्थात् रक्त की न्यूनता जन्य रोग हो जाता है जो कि अन्य बहुत से रोगों को निमन्त्रित कर सकता है। आयरन में कौपर की झलक होने पर वह हेमोग्लोबिन निर्माण के लिए अधिक उपयोगी हो सकता है।

विटामिन 'ए' और 'सी' का भी प्रभाव आयरन के शरीर द्वारा ग्रहण किये जाने पर पड़ता है। रजस्वला होने पर तथा गर्भवती होने पर महिलाओं में रक्त की कमी जन्य अमीनिया आदि रोगों के होने का एक कारण आयरन की कमी हो जाना भी है। इन अवस्थाओं में अधिक रक्त की आवश्यकता होने के कारण आयरन की भी अधिक आवश्यकता पड़ती है और पहले से शरीर में आयरन अधिक मात्रा में न रहने पर कठिनाई पड़ती है।

प्राप्ति स्थल—मांस, ग्लैंड वाले अंग, अंडे की ज़र्दी, गेहूँ, फलियों, अन्न, अंजीर, अंगूर और हरी पत्तियों वाली तरकारियों में आयरन पाया जाता है। प्रायः सफेद रंग के खाद्य पदार्थों में आयरन का अभाव होता है।

आइडीन—मानव एवं पशु शरीर के थायरेड ग्लैंड (thyroid gland) के निर्माण में आइडीन का बहुत महत्त्व होता है और यदि उक्त ग्लैंड को कार्य करने योग्य बनाये रखना है तो शरीर में आइडीन पहुँचनी ही चाहिये। शरीर में लगभग २५ मिलीग्राम आइडीन होती है और अधिकांश खाद्य पदार्थों में भी यह बहुत ही न्यून मात्रा में पाई जाती है। पौधे और जल के द्वारा यह प्राप्त की जा सकती है किन्तु कहीं-कहीं यह जल में नहीं पाई जाती है और वहाँ व्यक्तियों को इसका देना भी एक समस्या बन जाती है।

अन्य मिनरल—सोडियम, पोटाशीयम, मैगनेशियम, सल्फर और क्लोरिन ऐसे मिनरल हैं जो कि प्रायः भोजन में मिल ही जाते हैं। सोडियम क्लोराइड अर्थात सोडियम और क्लोरिन प्रायः नमक में मिल जाते हैं। मांस

में भी सोडियम तथा पोटाशीयम मिल जाता है। सोडियम ओस्मोटिक दबाव को नियन्त्रित करता है तथा हृदय की धड़कनों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। पोटाशीयम भी लगभग यही कार्य करता है किन्तु वह प्रायः सब ही सेल्स में होता है। यह अन्न, तरकारी और दूध में भी मिलता है। मैगनेशियम की आवश्यकता शरीर में मिनरल के सन्तुलित रखने के लिये होती है। यह मांस, अन्न आदि में मिलता है। क्लोरिन तो गैस्ट्रिक जूस के एसिड में भी होता है और यह भी ओस्मेटिक दबाव को नियन्त्रित करता है। यह नमक, मांस तथा ग्लैंड वाले तन्तुओं में पाया जाता है। सल्फर तो शरीर के तन्तुओं, बालों तथा नाखूनों के लिये आवश्यक है। यह प्रायः प्रोटीन के साथ ही पाया जाता है। कौपर की आवश्यकता तो आयरन को शरीर के लिये उपयोगी बना सकने के लिए ही होती है। यह सूखे मेवों, लिवर, अन्न आदि में मिलता है।

कैलशीयम और आयरन प्रायः मल में ही बाहर निकलते हैं किन्तु कैलशीयम कभी कभी मूत्र में भी निकल जाता है। फोसफरस दोनों के ही द्वारा निकलता है। आइडीन, मैगनेशियम और सल्फर केवल मूत्र द्वारा ही बाहर जाते हैं। सोडियम, पोटाशीयम और क्लोरिन मूत्र और पसीने के द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं।

अब यह तो ज्ञात हो ही गया है कि मिनरल की शरीर के लिये कितनी अधिक आवश्यकता है अतः गृहिणी को भोजन में इन सब को सम्मिलित करते हुए ही चलना चाहिये।

विटामिन—विटामिन भोजन का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। शरीर के सेल्स और तन्तुओं से सम्बन्धित अनेक आवश्यक कार्य विटामिन करते हैं। प्रत्येक विटामिन एक पृथक् रासायनिक तत्त्व है और उसके निजी गुण भी होते हैं। बीसवीं सदी के आरम्भ से ही विटामिन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। वस्तुतः इस युग में 'भोजन' पर इतना अधिक अनुसन्धान कार्य किया जा रहा है कि उसका विस्तार से अध्ययन करना एक पृथक् विषय ही हो जाता है अतः हम यहाँ संक्षेप में ही विटामिन पर विचार करेंगे। विटामिन शब्द का जन्म १९११ में वाइटल (Vital) और आमीन (amine) के

रूप में हुआ था। इसका श्रेय फुन्क (funk) को है। ओसर (Oser) विटामिन की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसा सशक्त मिश्रण है जो कि प्राकृतिक खाद्य पदार्थों में बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है किन्तु शरीर के लिए अनिवार्य है। वस्तुतः विटामिन सम्बन्धी ज्ञान अनुसन्धानकर्ताओं को रोग और चिकित्सा के द्वारा ही हुआ है।

जब भी किसी एक विटामिन में एक से अधिक सक्रिय शारीरिक भाग (physiologically active fraction) पाया जाता है तो उस विटामिन के नाम के पीछे जटिल (Complex) लगा दिया जाता है जैसे विटामिन बी० कौम्पलेक्स। उनकी भिन्नता एवं पृथक्त्व सिद्ध हो जाने पर उन्हें पृथक् नाम भी दिया जा सकता है। यही कारण है कि गत कुछ वर्षों में विटामिन सूची लम्बी ही होती चली गई है।

विटामिन का वर्गीकरण—कुछ विटामिन तो ऐसी हैं जो कि चर्बी में ही घुल पाती हैं जैसे कि 'ए', 'डी', 'ई' और 'के'। विटामिन 'सी' तथा विटामिन 'बी' से सम्बन्धित वस्तुएँ एवं तत्त्व जल में घुल जाते हैं। विटामिन 'एफ' का प्रयोग कुछ अनिवार्य चर्बी से सम्बन्धित एसिड के लिए भी किया जाता है।

विटामिन 'ए'—चर्बी में घुल सकने वाली विटामिन में से सर्वप्रथम 'ए' का पता लगा था। विटामिन 'ए' की कमी से आँखों पर तो प्रभाव पड़ता ही है। विटामिन 'ए' सम्भवतः शरीर में बाहर से ली गई छूत एवं रोग कीटाणुओं के प्रभाव से बचने की शक्ति उत्पन्न करती है। वस्तुतः यह विटामिन इपीथेलियल सेल्स (Epithelial cells) को बनाए रखती है जो कि रोग कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर की रक्षा करते हैं। साधारणतया शरीर के बढ़ने और स्वस्थ बने रहने के लिए विटामिन 'ए' की आवश्यकता है ही किन्तु ठीक से बालक को जन्म देने और दूध पिला सकने के लिए भी विटामिन 'ए' का माता के भोजन में पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। रतौंधी अर्थात् सन्ध्या समय अथवा कम प्रकाश में दिखाई न देना विटामिन 'ए' की ही कमी का फल होता है। विटामिन 'ए' शरीर में, लिवर में और उससे कुछ कम मात्रा में लंग्स और किडनी में जमा भी रखी जा सकती है।

बाल्यावस्था में जमा होने की क्रिया अधिक कुशलतापूर्वक हो पाती है। जितनी अधिक विटामिन 'ए' जमा रहती है व्यक्ति में उतनी ही अधिक रोग लगने से बचने की शक्ति भी रहती है। विटामिन 'ए' भी दो हैं, 'ए१' और 'ए२'। 'ए१' खारे पानी की मछली में पाया जाता है जब कि 'ए२' ताजे पानी की मछली में होता है। यह विटामिन मछली के लिवर के तेल में, राई, गाजर, शकरकन्दी, अन्य पशुओं के लिवर, मक्खन, मलाई, मलाई सहित पनीर, टमाटर, कुछ पत्तियों वाली तरकारियों आदि में भी पाया जाता है। हरी घास चरने वाली गाय के दूध और घी में भी विटामिन 'ए' अच्छी मात्रा में होता है। अधिक देर तक अग्नि पर रखने से विटामिन 'ए' नष्ट भी हो जाता है। दूध को जल्दी ही उबालना अच्छा रहता है। गृहिणी को ध्यान रखना चाहिये कि गाजर, शकरकन्दी, दूध, मक्खन, मलाई और तरकारियाँ भी इस प्रकार खिलाई जाएँ कि उनका विटामिन 'ए' नष्ट न हो जाये। गाजर को तो कच्चा खाना ही अधिक हितकर है। विटामिन 'ए' की कमी आँख, कान, लंग्स, साइनस ग्लैंड, मूत्र सम्बन्धी अंगों के, रतौंधी आदि रोग उत्पन्न कर देती है।

विटामिन 'डी'—किसी समय में जो आज विटामिन 'डी' माना जाता है वह विटामिन 'ए' जटिल का ही एक भाग माना जाता था। कैलशीयम और फोसफरस तथा साथ ही विटामिन 'डी' की कमी रिकेट (rickets) का कारण हो जाती है। प्रायः धूप बिलकुल ही न मिलना हानिकर होता है अतः माताओं को अपने बालकों को प्राकृतिक भोजन अर्थात् धूप से भी लाभ उठाने देना चाहिये। हमारे देश में धूप की कमी तो है ही नहीं केवल अपनी अज्ञानता वश हम उससे लाभ न उठा कर हस्पताल में जाकर अल्टरावायलेट लाइट (ultra-Violet light) लेने को विवश होते हैं। विटामिन 'डी' की कमी रिकेट, अस्थि दुर्बलता, झुकी टाँगों, दुर्बल दाँतों और शरीर के ढाँचे की कुरूपता आदि को जन्म देती है।

विटामिन 'डी' भी किसी सीमा तक लिवर में जमा हो जाती है। गर्भवती और दूध पिलाने वाली स्त्री को भी 'डी' विटामिन शरीर की आवश्यकता से

अधिक मात्रा में दी जानी चाहिये ताकि वह कुछ थोड़ी सी बालक को भी दे सके। माता में विटामिन 'डी' की कमी होना बालक को शीघ्र ही रिकेट का शिकार बनने देता है।

विटामिन 'डी' बहुत ही थोड़ी मात्रा में मलाई, मक्खन, अंडे और लिवर में होती है। मछली के लिवर के तेल में इसकी मात्रा कुछ अधिक होती है। अधिकतर तो विटामिन 'डी' औषधि के रूप में ही लेनी पड़ती है। विटामिन 'डी' सरलता से नष्ट नहीं होती है।

विटामिन 'ई'—विटामिन 'ई' अधिकतर मांसपेशियों, पुट्ठों, चर्बी से सम्बन्धित अंगों में जमा रहती है। विटामिन 'ई' अन्य विटामिनों की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है तथा सहज ही नष्ट नहीं हो पाती है। प्रायः यह भोजन में सम्मिलित होती ही है। यह गेहूँ, हरी पत्तियों, पीले अन्न, अलसी के तेल, बिनौले के तेल, अन्य ऐसे ही तेल आदि में मिलती है। जान पड़ता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिये इस विटामिन की आवश्यकता होती है।

विटामिन 'के'—यह विटामिन यद्यपि कुछ देर में ही ज्ञात हुई है, अधिकतर भोजन पदार्थों में होती ही है। यह प्रायः पत्तांवाली तरकारियों, सूअर के लिवर की चर्बी, अंडे की ज़र्दी, सोयाबीन के तेल में पाई जाती है। यह प्रकाश, ताप, वायु आदि से नष्ट नहीं होती है। यह केवल तेज़ एसिडों से ही नष्ट की जा सकती है। इसका सम्बन्ध रक्त से है अतः इसकी कमी से रक्त सम्बन्धी रोग होने की सम्भावना रहती है।

विटामिन 'सी'—विटामिन 'ए', 'डी', 'ई' और 'के' ऐसी विटामिन थीं जो कि चर्बी में ही घुलती थीं किन्तु 'सी' विटामिन पानी में ही घुल जाती है। विटामिन 'सी' जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह शरीर में विभिन्न कार्य करती है। यह शरीर के बहुत से तन्तुओं (tissues) के सीमेंट की भाँति भीतर रहने वाले पदार्थ का निर्माण करती है और उसे बनाये रखती है। यही कारण है कि इस विटामिन की कमी होने पर शरीर की अस्थियों, दाँतों मसूड़ों आदि की तथा सम्पूर्ण शरीर के ढाँचे की गठन ठीक नहीं हो पाती है। स्कर्वी (Scurvy), मुख के भीतर घाव होना, जोड़ों का सख्त होना, दाँतों के

रोग आदि विटामिन 'सी' की ही कमी के परिणाम होते हैं।

प्रायः शरीर विटामिन 'सी' को जमा नहीं कर पाता है क्योंकि अनावश्यक होने पर यह मूत्र द्वारा निकल जाती है। अतः शरीर में इस विटामिन को जमा रखने की सीमित ही शक्ति होती है। प्रायः एक व्यक्ति के लिए यह विटामिन ६० से १०० मेग० तक पर्याप्त हो सकती है। अतः विटामिन 'सी' पर्याप्त मात्रा में सदा ही मिलती जानी चाहिये क्योंकि कुछ एक अन्य विटामिनों की भाँति यह शरीर में जमा नहीं रहती है। संतरा, नारंगी तथा अन्य रस वाले फलों, हरी मिर्च, स्टाबरी, टमाटर, पत्तागोभी, आलू आदि में यह विटामिन होती है। यह सहज ही पकाने से नष्ट हो जाती है। प्रायः इस विटामिन को बनाये रखने के लिये तरकारी आदि को देर तक नहीं पकाना चाहिये। फल आदि तो यूँ ही खाये ही जाते हैं। यदि आलुओं को साबुत ही बनाया जाये तो यह विटामिन कम नष्ट होती है। सब्जी को छीलने, काटने से यह विटामिन कम अवश्य हो जाती है।

विटामिन 'बी'—वस्तुतः 'बी' विटामिन जटिल कई तत्त्वों से मिल कर बनती हैं। वे तत्त्व हैं बी१ (थाइमाइन—Thiamine), रिबोफिलेविन (Ribotlavin), नाइचिन (Niacin), बी६ (पाइरीडोक्साइन—Pyridoxine), पनटोथेनिक (Pantothenic acid) और बोटिन (Biotin)। विटामिन 'बी'१ के तनिक भी कम हो जाने पर क्षुधा कम हो जाती है। दिल की धड़कनों का धीमा हो जाना भी इस प्रकार की कमी की ओर संकेत करता है। परिणामस्वरूप क्षुधा कम हो जाती है, थकान अधिक होती है, दैनिक कार्यक्रम में रुचि न्यून हो जाती है, मन पर निरुत्साह सा छाया रहता है, चिड़चिड़ापन आ जाता है और मन डूबा सा रहता है। ब्लड प्रेशर भी कम हो जाता है, हृदय की धड़कन की आवाज़ धीमी हो जाती है, नब्ज भी साधारण नहीं रहती है तथा इसी प्रकार की और शिकायतें भी होने लगती हैं। कब्ज, घबराहट और बेरीबेरी भी इसी विटामिन की कमी के कारण होती है।

यह विटामिन शरीर में जमा नहीं की जा सकती है। अतः यह आवश्यक है कि प्रतिदिन के भोजन में इस विटामिन को पर्याप्त मात्रा में अवश्य ही

सम्मिलित किया जाये।

विटामिन बी$_1$ अथवा थाइमाइन खमीर, साबुत गेहूँ आदि तथा अन्न आदि में मिलती है। कुछ न्यून मात्रा में दूध, आलू, तरकारियों और मांस में भी मिल जाती है। मांस में लिवर, दिल, किडनी आदि में भी होती है।

अधिक पकाने से विटामिन बी$_1$ नष्ट हो जाती है। पानी डाल कर पकाना भी ठीक नहीं होता है अतः यथासम्भव हरी तरकारियों को तो बिना पानी डाले ही पकाना चाहिए।

रिबोफिलेविन (विटामिन 'बी$_2$' अथवा 'जी')—यह विटामिन भी शरीर में अधिकतर जमा नहीं रह पाती है। फिर भी यह 'बी$_1$' की अपेक्षा कुछ अधिक जमा की जा सकती है। इस विटामिन की कमी आँखों में जलन आदि तथा मोतियाबिन्द और बालों का झड़ना आदि भी कर देती है।

यह विटामिन 'बी$_1$' की अपेक्षा अधिक स्थायी है। प्रायः 'बी$_2$' खमीर (yeast) लिवर, मांस, मछली, अंडे, दूध और हरी तरकारियों में मिलती है।

नाइचिन (निकोटिनिक एसिड)—शरीर के लिए इसकी भी अत्यधिक आवश्यकता है। यह अपेक्षाकृत स्थायी भी अधिक होती है। प्रायः लिवर, मांस, हरी सब्जी, अन्न, गुच्छियों आदि में मिलती है। यह प्रायः गर्म पानी में अधिक सरलता से घुल जाती है।

विटामिन 'बी$_6$' (पाइरीडोक्साइन)—यह भी प्रायः स्थायी होती है। यह प्रायः लिवर में और कुछ कम मात्रा में किडनी आदि में भी जमा रहती है। रक्त की कमी इस विटामिन की कमी का फल हो सकता है। यह भी प्रायः अन्न, बीज़, मछली, मांस और तरकारियों में मिलती है।

पानटोथेनिक एसिड—यह ताप में स्थिर नहीं रह पाती है। प्रायः लिवर, किडनी, यखनी, दिल, अंडे, दूध, मशरूम आदि में मिलती है।

बोटिन—बोटिन अत्यधिक क्रियाशील होती है। प्रायः लिवर, यखनी, अंडे की ज़र्दी, मशरुम, आदि में मिलती है।

अन्य भाग—इनोसिटोल (Inositol), फोलिक एसिड (folic acid)

और पारा अमीनोबेनजोइक एसिड भी विटामिन 'बी जटिल' (B complex) के ही अन्तर्गत माने जाते हैं। कोलाइन (cholain) भी इसी समूह में सम्मिलित किया जाता है। यह निर्माण और शक्ति देना दोनों ही कार्य करता है। यह प्रायः मांस, अन्न, तरकारी और अंडे में पाया जाता है। विटामिन 'बी' का प्रायः प्रत्येक भाग खमीर में बहुत पाया जाता है अतः खमीर बहुत अच्छा भोजन है।

विटामिन 'बी३', 'बी४', 'बी५', 'एल' 'एम' और 'डब्ल्यू' तथा 'यू' तत्त्व भी शरीर की गठन और सुरक्षा के लिए आवश्यक माने जाते हैं। वस्तुतः विटामिन 'बी जटिल' में अनेकानेक तत्त्व खोजे और पाए जा सकते हैं।

विटामिनों में विटामिन 'पी' और ग्रास जूस (Grass Juice) तत्त्व भी सम्मिलित किए जा सकते हैं।

जल और तरल तत्त्व—शरीर और जीवन के लिए जल की आवश्यकता तो भोजन से भी अधिक है क्योंकि भोजन के बिना तो मनुष्य कुछ सप्ताह जीवित रह भी सकता है किन्तु जल के बिना तो केवल कुछ दिन ही रह सकता है। दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ओक्सीजन मिलाने से जल बनता है। जल शक्तिदायक नहीं होता है, ताप भी उत्पन्न नहीं करता है और पाचक रसों का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं होता है क्योंकि यह अपने मौलिक रूप में ही शरीर द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। शरीर के लिए इसका महत्त्व तो इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि किसी भी मानव के शरीर के वज़न का लगभग दो तिहाई भाग पानी द्वारा ही बना होता है। इसमें से कुछ भाग प्रतिदिन निकलता भी है और फिर डाला भी जाना चाहिए। यूँ तो हमारे सब ही खाद्य-पदार्थों में जल का अंश होता ही है किन्तु कुछ पदार्थों में अधिक होता है। ताज़ी तरकारियों में प्रायः ९० प्रतिशत और दूध में ८७ प्रतिशत तथा फलों में लगभग ८५ प्रतिशत जल का अंश होता है। यद्यपि शरीर के भीतर जल जाता ही है फिर भी छः से आठ अथवा दस गिलास तक जल प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को पीना चाहिए ताकि यह निश्चित हो जाए कि शरीर को उसके काम काज के लिए पर्याप्त जल मिल रहा है।

कुछ समय पूर्व तक तो भोजन के साथ जल पीना पाचन-क्रिया का

विरोधी माना जाता था किन्तु अब तो यह सिद्ध हो ही गया है कि यह बात निर्मूल है। फिर भी भोजन के साथ बहुत अधिक पानी केवल अधचबे भोजन को निगलने की सुविधा की दृष्टि से ही नहीं पीना चाहिए किन्तु थोड़ा पानी पीना ठीक ही है। प्रातःकाल कुछ भी खाने से पूर्व जल पीना पेट को स्वच्छ करने का काम दे सकता है और यदि उसमें तनिक-सा नमक मिला लिया जाए तो वह और भी अधिक हितकर हो सकता है।

शरीर के बहुत से कार्यों के लिए जल की अत्यधिक आवश्यकता होती है। पाचन-क्रिया, रक्त-संचालन-क्रिया, मल फेंकने सम्बन्धी कार्य, शरीर के ताप को एक बनाए रखने आदि कार्यों के लिए जल अत्यन्त हितकर होता है। वस्तुतः शरीर के प्रत्येक अंग को ठीक-ठीक कार्य कर पाने के लिए नमी की किसी न किसी सीमा तक आवश्यकता पड़ती ही है। रक्त और मूत्र दोनों में भी अधिकांश भाग जल का ही रहता है।

प्रकृति प्यास के द्वारा मानव को जल की आवश्यकता का ध्यान कराती है। शरीर के अन्य तत्त्वों की न्यूनता शरीर के लिए इतनी हानिकर सिद्ध नहीं होती है जितनी की जल की न्यूनता। कोई भी मनुष्य कुछ देर तक भूखा रह सकता है किन्तु प्यासा रहना अत्यन्त कष्टकर होता है। प्यास वह अनुभूति है जिसमें कि गला और जिह्वा सूखने लगते हैं। प्रायः देर तक बोलते रहने, गाने, व्यायाम करने, सूखा भोजन करने, शुष्क वायु में श्वास लेने, अधिक पसीना आने, रक्त-प्रवाह अत्यधिक होने अथवा डाइबटीज़ में मूत्र आने के कारण प्यास बहुत लगती है। गला खराब होने से भी प्यास अधिक लगती है।

पीने का जल स्वच्छ होना चाहिए। प्रायः नगरों में फिल्टर करके ही पानी नलों द्वारा घरों में पहुँचाया जाता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने का एक सर्वोत्तम उपाय है नगर में पीने के लिए स्वच्छ पानी मिलने का प्रबन्ध करना। यूँ तो पानी निकलने की नालियों आदि का अत्युत्तम प्रबन्ध होना भी आवश्यक है क्योंकि इस दिशा में समुचित प्रबन्ध न होने से गन्दे पानी के पीने के जल में मिलने की सम्भावना बनी रहती है। जहाँ भी कहीं पानी के स्वच्छ होने में सन्देह हो वहाँ पानी उबाल कर अथवा फिल्टर करके पीना

चाहिये। घर में यदि फिल्टर करने में झंझट हो तो उबाल कर ठंडा कर के ही जल पीना चाहिये। साधारणतया मिनरल मिला हुआ जल पीने के लिए उपयोग में नहीं लाना चाहिये। यूँ जल में कई मिनरल मिले हुए हो सकते हैं किन्तु जिसकी अधिकता होती है उस पर ही उस जल का नाम पड़ जाता है। प्रायः सल्फर, आयरन और मेगनेशीयम की ही जल में अधिकता होती है। इस प्रकार के जल डाक्टर के कहने से ही पिये जा सकते हैं। यह तो निर्विवाद सत्य है कि पीने का जल स्वच्छ अर्थात् रोग कीटाणु मुक्त तो अवश्य ही होना चाहिये।

साधारण जल के अतिरिक्त बाज़ार में सोडावाटर, लेमनेड, जिंजर आदि इरेटेड जल भी मिलते हैं। इस प्रकार का कार्बन डाओक्साइड द्वारा क्रियाशील जल प्राकृतिक रूप में किसी किसी झरने से भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार के जल पाचन-क्रिया के लिए सहायक होते हैं ऐसा कहा जाता है। कृत्रिम ढंग पर तैयार करते समय इनमें चीनी और सुगन्ध मिला देने से इनका थोड़ा बहुत पुष्टि की दृष्टि से भी महत्त्व हो जाता है।

वनस्पति फाइबर—सेलीलोस और हेमी सेलीलोस (Cellulose और hemi cellulose) को मिला कर फाइबर (fiber) कहते हैं। फाइबर का पुष्टि की दृष्टि से तो भोजन में अधिक महत्त्व नहीं है किन्तु यह पाचन-क्रिया को अवश्य प्रभावित करता है। यह स्वयं तो नहीं पचता है और यदि कभी-कभी कोमल हरी पत्तियों का सेलीलोस पचता भी है तो उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं होता है फिर भी आँतें अपना कार्य ठीक प्रकार कर सकें तथा मल भी उचित परिमाण में बन और निकल सके इस दृष्टि से भी तो किसी अपच वस्तु की भोजन में आवश्यकता होती ही है और उसी आवश्यकता की पूर्ति वनस्पति फाइबर करते हैं। यही कारण है कि साधारण कब्ज़ की शिकायत होने पर वनस्पति फाइबर का अधिक मात्रा में भोजन में सम्मिलित किया जाना हितकर होता है। ऐसी अवस्था में पाचन-क्रिया में खाद्य पदार्थों के साथ कुछ ऐसे भी तो पदार्थों की आवश्यकता होती है जो कि बिना पचे हुए ही मल के रूप में निकलने वाले पदार्थ की वृद्धि करें ताकि वह सरलता से निकल सके। इस कार्य

के लिए जिस पौधे से सेलीलोस लिया जाये उसका पूर्णतया पका होना आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से साधारण कोष्ठवद्धता अथवा कब्ज के रोगियों को बिना छने आटे की रोटी देना हितकर होता है क्योंकि पके अनाज का उपरी परत जिसे हम आटे के छानने में भूसी कह कर फेंक देते हैं इस कार्य के लिए बहुत उपयुक्त होता है। अच्छा तो यह हो कि गृहिणी साधारणतया परिवार के भोजन के लिए अधिक छना आटा अर्थात् मैदा सदा-सर्वदा प्रयोग में न लायें अथवा जितना कम ला सकें उतना ही अच्छा है और कब्ज के रोगियों को तो मैदा अथवा बहुत अधिक छना हुआ आटा कम ही खाना चाहिये। सेलीलोस प्रायः हरी तरकारियों, ताज़े और सूखे फलों, बिना छने अन्न आदि में होता है अतः इन वस्तुओं का अधिकाधिक उपयोग भोजन में करना चाहिये। ईसबगोल का छिलका भी मल की वृद्धि का ही कार्य करता है अतः कब्ज के रोगियों के लिए वह भी हितकर ही होता है। यूँ भी भोजन में हरी तरकारियों, फलों और बिना छने आटे को रखना उचित ही है।

अध्याय ४

परिवार की भोजन-योजना

मानव की भोजन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की माप—यह कार्य अत्यधिक जटिल तो है ही, कठिन भी है। एक तो यूँ ही मानव-शरीर को किस आयु में, किस जलवायु में और किस अवस्था में कितनी मात्रा में प्रत्येक भोजन तत्त्व की आवश्यकता होती है यह जान पाना कठिन है और यदि किसी प्रकार से इस दृष्टि से एक वर्गीकरण के आधार पर व्यवस्था दे भी डाली जाये तो फिर यह भी तो ठीक-ठीक जान पाना कठिन है कि किस खाद्य पदार्थ में कितनी मात्रा में कौन सा भोजन तत्त्व वर्तमान रहता है। कारण यह है कि विभिन्न भोजन-सम्बन्धी पदार्थों में भिन्न भिन्न अवस्थाओं में और विशेषतया विभिन्न प्रकार से पकाने के पश्चात् भोजन तत्त्वों की मात्रा भी भिन्न-भिन्न हो जाती है।

कुछ तत्त्व तो पकाने पर नष्ट भी जाते हैं। यह जानना और भी कठिन है कि कितने ताप में उनका कितना अंश नष्ट हो जाता है और यदि किसी प्रकार यह जान भी लिया जाय तो उस ज्ञान का वैज्ञानिक ढंग पर ठीक ठीक प्रत्येक गृहस्थ के घर में ध्यान रखना और उसके अनुसार ही चलना प्रायः असम्भव है। यूँ तो प्रत्येक गृहिणी को इन बातों का कुछ न कुछ ज्ञान होना ही चाहिये किन्तु उस ज्ञान का पूर्णतया क्रियात्मक दृष्टि से उपयोग होगा ही यह निश्चयपूर्वक कहना कुछ कठिन अवश्य है।

यूँ कैलोरी के आधार पर यह निश्चित तो किया जा सकता है कितना भोजन किसी भी एक अवस्था एवं कार्य करने वाले व्यक्ति को दिया जाए। फिर भी गृहिणी को परिवार की आय और उसके सदस्यों की संख्या का ध्यान रखते हुए ही 'भोजन पत्रिका' बनानी चाहिए।

वस्तुतः परिवार के लिए भोजन पत्रिका (Menu) उस परिवार की गृहिणी ही बना सकती है क्योंकि एक तो परिवार के सब ही व्यक्तियों की शारीरिक भोजन-सम्बन्धी आवश्यकताएँ एक सी नहीं होती हैं और दूसरी बात यह है कि कोई भी एक परिवार भोजन पर कितना धन व्यय कर सकता है यह उस परिवार की स्वामिनी ही भली प्रकार समझ सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल धन व्यय करके ही सर्वोत्तम भोजन प्राप्त किया जा सके ऐसी बात नहीं है। अत्यधिक महँगी खाद्य वस्तुएँ ही सदा-सर्वदा अत्यधिक पुष्टिकर खाद्य वस्तुएँ नहीं होती हैं। उदाहरणार्थ—विटामिन सी सन्तरे, नारंगी में होती है किन्तु हरी मिर्च में भी तो होती है। अतः भोजन-पत्रिका तैयार करते समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि मितव्ययिता की दृष्टि से किस प्रकार परिवार के सब ही सदस्यों को पुष्टिकर भोजन दिया जा सकता है।

शारीरिक भोजन सम्बन्धी बालकों, वृद्धों एवं युवकों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त यदि परिवार का कोई सदस्य रोगी हो तो उसकी खाद्य सामग्री भिन्न ही होगी। बहुत छोटे बच्चों और रोगियों को वही वस्तुएँ देना जो कि परिवार के अन्य स्वस्थ सदस्यों को दी जा रही हैं अनुचित है। किन्तु सब ही के लिए पृथक् पृथक् खाद्य वस्तुएँ तैयार करने का अर्थ होगा न

केवल धन का अधिक व्यय वरन् गृहिणी की शक्ति और समय का भी अपव्यय। अतः परिवार की भोजन-पत्रिका ऐसी होनी चाहिए जिसमें बालकों के लिए अन्य साधारण वस्तुओं से एक से अधिक विशेष वस्तु बनाने की आवश्यकता ही न हो और तनिक से ही फेर बदल से प्रतिदिन ठीक से काम चल सके। रोगी के लिए तो पृथक् खाद्य वस्तुएँ बनानी ही होंगी। प्रायः वृद्धावस्था में पाचन शक्ति न्यून हो जाती है और ठीक वही वस्तुएँ वृद्ध व्यक्ति पचा नहीं पाते हैं जो कि युवा पचा लेते हैं। गृहिणी को इसका ध्यान भी रखना चाहिए और यदि उनके परिवार में कोई ऐसा व्यक्ति हो तो उन्हें प्रतिदिन का भोजन इस प्रकार बनाना चाहिए जिसे कि साधारणतया वृद्ध व्यक्ति भी खा और पचा सके किन्तु उसमें ऐसी कुछ वस्तुएँ अन्य सदस्यों की रुचि की भी हो सकती हैं जिन्हें कि वृद्ध व्यक्ति यदि चाहे तो न ले और उन वस्तुओं के न लेने पर भी उनका भोजन पूरा हो सके। यदि सख्त भोजन सहज ही न पच पाता हो और यदि यह सामर्थ्य के भीतर ही हो तो गृहिणी को वृद्ध सदस्य अथवा सदस्यों के लिए दूध, दलिया, खिचड़ी और कोई हलकी पतली वस्तु बनाने की व्यवस्था भी कर देनी चाहिए। जो भी कुछ हो, गृहिणी की दृष्टि, गृहस्वामी, उनके आश्रितों, अपने बच्चे एवं गुरुजनों सब ही की आवश्यकताओं एवं सुविधाओं की ओर रहनी चाहिए। हम यूँ तो प्रायः उन सब ही खाद्य पदार्थों की चर्चा कर चुके हैं जो कि शरीर के लिए आवश्यक हैं। उनमें से प्रत्येक गृहिणी को अपने परिवार के सदस्यों की रुचि के अनुसार वस्तुओं का चुनाव कर लेना चाहिए। यह चुनाव भले ही विस्तृत एवं उदार हो किन्तु ऐसा होना चाहिए जिससे कि शरीर के लिए आवश्यक कोई तत्त्व छुट न जाए। वस्तुतः जहाँ धन की कमी का प्रश्न नहीं होता है वहाँ परिवार के लिए भोजन पत्रिका बनाना भी अपेक्षाकृत सहज एवं सरल कार्य हो जाता है किन्तु संसार में सब ही व्यक्ति एवं परिवार तो धनी होते नहीं है अतः गृहिणी को अपनी आय के भीतर रहते हुए तथा अन्य प्रकार के व्यय-मद ध्यान में रखते हुए ही परिवार की भोजन-व्यवस्था करनी चाहिए। यदि अधिक व्यय करने की शक्ति हो तो दूध, मक्खन, फल और ताजी तरकारी की मात्रा अधिक की जा सकती है। फलस्वरूप

अन्य खाद्य पदार्थों—रोटी, चावल आदि की मात्रा कुछ कम हो जायेगी।

भोजन के समय—यूँ तो बालकों एवं रोगी व्यक्तियों को थोड़ा-थोड़ा भोजन अधिक बार अथवा जिसकी जैसी अवस्था हो उसके अनुसार ही भोजन करना चाहिए किन्तु साधारणतया हमारे देश में वयस्क युवक-युवतियों के दो मुख्य भोजन और एक या दो जलपान होते हैं। धनी परिवारों में चार समय भोजन किए जाते हैं और ऐसी अवस्था में प्रातःकाल का जलपान लगभग ८ बजे, दोपहर का भोजन एक बजे, संन्ध्या का जलपान ५ बजे और रात्रि का भोजन ९ बजे किया जाता है। साधारण मध्य वर्ग के व्यक्ति उत्तर-प्रदेश तथा अन्य प्रदेशों में भी लगभग ९ अथवा ९ : ३० बजे प्रातः भोजन करते हैं। तत्पश्चात् ४ अथवा ५ बजे सायंकाल दफ्तर अथवा काम से आ कर जलपान करते हैं और रात्रि में आठ बजे के लगभग फिर भोजन करते हैं। अपेक्षाकृत निर्धन लोग (निम्न मध्यवर्ग) प्रातः ९ बजे और सांयकाल ५ अथवा ६ बजे भोजन कर लेते हैं और गरीब लोग अधिकतर कुली मज़दूर आदि दोपहर के आसपास भोजन करते हैं। ऐसी अवस्था में सब ही परिवारों के लिए एक ही भोजन-पत्रिका बनाना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य है। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि अधिक शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को प्रातःकाल जलपान अथवा भोजन जो भी कुछ मिले ऐसा होना चाहिए जो कि उन्हें दिन भर के कार्य के लिए शक्ति दे सके तथा जिससे पेट भी भर सके। वे लोग जो देर से उठते हैं अथवा भोजन अपने दफ्तर अथवा कार्य पर जाने से पूर्व ९ और १० के बीच ही कर लेते हैं प्रातःकाल का जलपान सहज ही छोड़ सकते हैं। जलपान में दूध, फल, थोड़ी रोटी, मेवे आदि लिए जा सकते हैं। अंडे भी जलपान का ही अंग हो सकते हैं किन्तु मिठाइयाँ जलपान में नहीं लेनी चाहिए। प्रायः पंजाब में प्रातःकाल जलपान में दूध और पराठा खाने का प्रचलन है, किन्तु तला हुआ होने के कारण पराठा देर से पचता है। दूध अथवा कोको आदि पीना अच्छा रहता है। आजकल दक्षिण में काफी और उत्तर में चाय पीने का बहुत प्रचार है, किन्तु बच्चों को तो किसी भी अवस्था में प्रातःकाल दूध ही देना चाहिए। कम से कम

चाय अथवा काफी तो नहीं ही देना चाहिए। भोजन प्रायः दोपहर अथवा रात्रि को अथवा दोनों ही समय खाया जाता है। वस्तुतः भोजन ही प्रमुख वस्तु है।

खाद्य-पदार्थ और उनका चुनाव—भोजन में रोटी, दाल, तरकारी, चावल आदि सम्मिलित होते हैं। यूँ इधर कुछ दिनों से कच्ची तरकारी एवं सलाद भी भोजन के साथ देने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। मांस खानेवाले मांस भी भोजन के साथ ही खाते हैं। भोजन में साधारणतया तरकारियों के साथ आलू भी बनता ही है। यदि टमाटर सूप अथवा किसी प्रकार का कोई सूप भी दिया जा सके तो बहुत अच्छा हो। मांस, अंडा, मछली आदि को विभिन्न प्रकार से पकाया जाता है। किन्तु मांस न खाने वाले लोगों को सोया-बीन, दालें आदि अवश्य खाना चाहिए। आलू भी भोजन में खाना चाहिए और यह बहुत मंहगा भी नहीं होता है किन्तु हरी तरकारियाँ इसके साथ अवश्य बनानी चाहिए। पनीर भी यदि भोजन का अंश बनाया जा सके तो अच्छा है। नीबू और सिरके का प्रयोग भी अच्छा ही होता है। रोटी का तो होना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु यथासम्भव रोटी मोटे आटे की अथवा बिना अधिक छने हुए आटे की ही होनी चाहिए। गेहूँ के आटे में तनिक सा साबुत पिसा हुआ चने का आटा मिला कर बनाई हुई रोटी स्वादिष्ट भी होती है और लाभप्रद भी। तरकारियाँ आदि घी अथवा तेल में बनती हैं किन्तु बहुत अधिक घी कुछ बहुत लाभप्रद ही हो, ऐसी बात भी नहीं है। दही का भोजन में होना बहुत अच्छा होता है। यदि दही को घर पर ही गृहिणी रात को जमा दिया करे और दूसरे दिन सुबह उसका उपयोग करे तो बहुत अच्छा है। गर्मियों में तो पंजाब में भोजन के साथ पानी की जगह लस्सी अर्थात् दही को पतला कर के अथवा उसमें से मक्खन निकाल कर पिया जाता है। प्रातःकाल जलपान के समय भी दूध के स्थान पर गर्मियों में बिना मक्खन निकाले हुए दही को मथ कर लस्सी बना कर पिया जाता है। किसी भी रूप में दूध का उपयोग करना बहुत ही अच्छा होता है। भोजन के साथ भी दूध में बनी कोई वस्तु जैसे खीर आदि परोसी जा सकती है किन्तु अधिक घी अथवा मिठास हानिकर भी

हो सकती है। भोजन के साथ ताजे फल खाना तो बहुत अच्छा है किन्तु ऐसा प्रायः धनी व्यक्ति ही कर सकते हैं। भोजन के साथ हरी मिर्च भी दी जा सकती है। भोजन में कहीं न कहीं, किसी न किसी समय दूध, फल, तरकारियाँ, पनीर गेहूँ अथवा अन्य अन्न की रोटी, दाल आदि तो अवश्य सम्मिलित होने चाहिए। मांसाहारी मांस, मछली, मुर्गी, अंडा आदि भी भोजन में सम्मिलित कर सकते हैं। गरीब व्यक्ति यदि फल, मक्खन और दूध अधिक मात्रा में नहीं ले सकते हैं तो भी उन्हें किसी न किसी मात्रा में दूध तो मिलना ही चाहिए। फलों के स्थान पर वह टमाटर, गाजर, बेर, अमरूद, मौसम में आम आदि ले सकते हैं। सरसों आदि का तेल लेना भी अच्छा है। आलू का उपयोग तो प्रायः किया ही जाता है। पिछले कुछ वर्षों से सोयाबीन के विषय में भी पर्याप्त खोज की जा रही है और परिणाम स्वरूप इसका महत्त्व भी बढ़ गया है। यदि शुद्ध दूध मँहगा पड़ता हो तो मक्खन निकाला दूध भी लिया जा सकता है और इसमें चर्बी के अतिरिक्त अन्य सब दूध के गुण होते ही हैं।

चतुर गृहिणी बहुत सा व्यय तो चीज़ें घर पर तैयार कर के ही बचा सकती है। आम, गाजर आदि का मुरब्बा बहुत अच्छी वस्तुएँ हैं और सहज ही में घर पर बनाई जा सकती हैं। आँवला भी अत्यन्त उपयोगी वस्तु है और गृहिणी इसे अचार अथवा मुरब्बे के रूप में परिवार के सदस्यों के लिए रुचिकर बना सकती है। हरी मिर्च, प्याज़ और पुदीने की चटनी भोजन को स्वादिष्ट बना देती है।

वस्तुतः प्रतिदिन निम्नलिखित वस्तुओं के प्रत्येक समूह में से कुछ न कुछ वस्तुएँ अवश्य खानी चाहिए।

१. कुछ हरी और कुछ पीली तरकारियाँ जैसे गाजर, मूली, शलजम, तुरई, लौकी, परवल, गोभी आदि आदि।

२. सन्तरे, नारंगी, टमाटर, कच्ची सलाद, कच्ची पत्तागोभी, हरी मिर्च आदि आदि।

३. आलू तथा अन्य तरकारियाँ तथा फल जैसे केले, आम, सेब, पपीता अंगूर आदि आदि।

४. दूध, दही और दूध की बनी अन्य वस्तुएँ पनीर, खीर, खोया आदि आदि।

५. मांस, अंडा, मछली, मुर्गा आदि; किन्तु निरामिषभोजी इसके स्थान पर दालें, पनीर आदि ले सकते हैं।

६. रोटी।

७. मक्खन, घी, मलाई, अंडे की ज़र्दी, टमाटर, गाजर आदि आदि।

साधारणतया इनका उपयोग किया जाता है किन्तु गृहिणी को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनमें से केवल एक ही प्रकार की वस्तु पर जीवित रह कर मानव-शरीर अपनी सब ही आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है। भोजन का सन्तुलित होना आवश्यक है। मैं एक ऐसे धनी परिवार को जानती हूँ जहाँ कि प्रातःकाल जलपान में बालकों से ले कर बड़ों तक सब को नमकीन पूरी, मठरी, समोसा, पराठा अथवा पकौड़े मिलते हैं। फिर दोपहर के भोजन में पूरी या पराठा और तीन चार खूब घी में डूबी हुई तरकारियाँ मिलती हैं। तीसरे पहर मिठाइयों का नाश्ता होता है और रात को फिर पूरी, पराठा, कचौड़ी और तीन तरकारियाँ तथा कोई न कोई मीठी चीज़ मिलती है। इस प्रकार के भोजन पर व्यय तो कुछ कम नहीं होता है किन्तु उस परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है। इसका कारण यही है कि उनका भोजन असन्तुलित है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उन लोगों को चर्बी और प्रोटीन ही अधिक मात्रा में मिलती रहती है। अतः भोजन का सन्तुलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में सम्भवतः अमेरिका के ब्यूरो आफ होम इकनोमिक्स द्वारा तैयार किया हुआ चार्ट हमारी कुछ सहायता कर सके। यह चार्ट एक सप्ताह के लिए आवश्यक भोजन के आधार पर बनाया गया है। और तीन प्रकार की आय वाले परिवारों को दृष्टि में रख कर बनाया गया है। (पृ० ६६ के सामने देखिए)।

यद्यपि हमने उदाहरणार्थ यहाँ पर अमेरिका में तैयार किये गए भोजन-पत्रिका के तीन प्रकार के मापदण्ड प्रस्तुत किए हैं किन्तु वे जैसे के तैसे हमारे देश में लागू हो सकें ऐसी बात नहीं है। अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार,

परिवार की आय और विभिन्न स्थानों पर विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न मूल्याधारों को देखते हुए तथा परिवार के सामिष अथवा निरामिषभोजी होने को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक परिवार की गृहिणी अपने परिवार विशेष के लिए भोजन-पत्रिका बना सकती है। मौसम के अनुसार भी वस्तुओं की प्राप्ति अथवा उनका मूल्य न्यूनाधिक होता रहता है। चतुर गृहिणी को यह बात ध्यान में रख कर ही चलना चाहिए। सब कुछ देखते हुए गृहिणी का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि परिवार के सब ही व्यक्तियों को सन्तुलित भोजन अर्थात् शरीर की आवश्यकता के अनुसार सब ही आवश्यक तत्त्व भोजन के द्वारा प्राप्त हो सकें तथा वे सब ऐसे रूप में दिए जायें कि जिन्हें कि शरीर ग्रहण भी कर ले और परिवार के सदस्यों को यह भी न जान पड़े कि उन्हें बरबस ऐसा भोजन करना पड़ रहा है जो कि उनकी रुचि से भिन्न है। भोजन भोजन न रह कर यदि औषधि बन जायेगा तो वह भी अनुचित ही होगा क्योंकि भोजन का उद्देश्य शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति तो है ही साथ ही साथ मानव की तृप्ति भी तो है। जो भोजन रुचि-पूर्वक नहीं किया जाता है वह अपना उद्देश्य पूर्णतया पूरा नहीं कर पाता है। अतः गृहिणी को सन्तुलित भोजन तो परिवार के सदस्यों को कराना चाहिए किन्तु ऐसे रूप में कराना चाहिए कि वह उन्हें स्वादिष्ट भी जान पड़े।

प्रायः हमारे देश में तो ऐसे भी परिवार हैं जिन्हें कठिनाई से रुखी रोटी मिलती है, दूध, मक्खन, घी, फल आदि की तो बात ही कहाँ की जा सकती है। फिर भी यह तो हो ही सकता है कि वह उस धन का जो कि भोजन पर व्यय कर सकते हैं अधिकाधिक अच्छा उपयोग करने की चेष्टा करें। अभी निकट अतीत में ही हम देख चुके हैं कि न केवल व्यक्ति अथवा परिवार की आय न्यून होने के कारण वरन् खाद्य वस्तुओं की कमी के कारण भी परिवार के भोजन जुटाने में गृहिणी को कठिनाई होती थी। देश में अकाल पड़ने के कारण अथवा युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण कभी-कभी खाद्य वस्तुओं की न्यूनता हो जाने से देशवासियों को संकट का सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यही कहा जा सकता है कि गृहिणी को यथासंभव अन्न को नष्ट होने देने से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। कुछ समय पूर्व तक हमारे देश में कहीं कहीं

भोजन की थाली में जूठन छोड़ने का प्रचलन था किन्तु यह बहुत ही बुरा है। इससे कुछ न कुछ अन्न तो नष्ट होता ही है। यदि मेहतर वह अन्न ले जाता है और उसके परिवार के व्यक्ति उसे खाते भी हैं तो भी मानवता की दृष्टि से एक तो मेहतर को और उसके परिवार को जूठन खिलाना यूँ ही अपराध है और दूसरे इससे रोग भी फैल सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्न का एक भाग तो नष्ट हो ही जाता है अतः हर प्रकार से यह एक अपराध है। अतः किसी भी अवस्था में जूठन नहीं छोड़ना चाहिये। अन्न को इस प्रकार रखना चाहिए कि चूहे आदि उसे नष्ट न कर सकें। दूध को अत्यन्त सावधानी से रखना चाहिए कि वह फट न जाय या किसी भी प्रकार से बिगड़ न जाय। इसी प्रकार तरकारी आदि आवश्यकता से अधिक बना कर सड़ने के लिये नहीं रख देना चाहिए। यदि 'राशन' हो तो जितना राशन मिले उसी में पूरा करना चाहिये तथा नवीन खाद्य वस्तुओं का भी परीक्षण की दृष्टि से प्रयोग करना चाहिए। अन्न के अतिरिक्त कच्ची तरकारियों का प्रयोग भी बढ़ा देना चाहिये। यदि सम्भव हो और घर में ही ज़मीन हो तो वहाँ अन्यथा लकड़ी के बक्स आदि में मिट्टी डाल कर कुछ तरकारियाँ उपजाने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रायः नगरों में इधर अनेकों वर्षों से केवल गेहूँ ही उपयोग में लाया जाता है। यदि मक्का, जौ, बाजरे आदि का भी थोड़ा बहुत उपयोग करना आरम्भ किया जाये तो अच्छा हो। यदि सेब, अनार, नारंगी आदि फलों का उपयोग करना कठिन हो तो आलू, शलजम, पत्तों वाली तरकारियों, गाजर आदि को अधिक मात्रा में प्रयोग में लाया जा सकता है। यदि दूध और दूध की बनी हुई वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में न मिल सकें तो हरी और पीली तरकारियों तथा मांस, अंडे, मछली अथवा सूखी फलियों, बादाम के तेल, सोयाबीन आदि की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। मांस आदि तथा फलियों आदि की न्यूनता होने पर दूध का अधिक उपयोग किया जा सकता है और मक्खन, घी आदि की कमी होने पर तरकारियों और दूध का उपयोग बढ़ाया जा सकता है। किसी भी अवस्था में रोटी, दाल आदि खाद्य पदार्थ तो अत्यन्त आवश्यक हैं ही, सोया-बीन का प्रयोग भी अनेक दृष्टियों से हितकर सिद्ध हो रहा है।

भोजन की स्वच्छता तथा स्वास्थ्य—स्वास्थ्य के लिए न केवल पुष्टिकर भोजन ही आवश्यक है वरन यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भोजन में सम्मिलित खाद्य पदार्थ पूर्णतया कीटाणु-रहित, ताज़े, स्वच्छ और ठीक हों। ऐसे पदार्थ तब ही प्राप्त हो सकते हैं जब कि उन्हें पूर्णतया स्वच्छ अर्थात् ऐसे ढंग से उपजाया गया हो कि उनमें कीटाणुओं का प्रवेश न हो सके तथा उनकी गठन, उनका पनपना भी स्वाभाविक ढंग से हुआ हो। बाज़ार से ले कर घर आने के पश्चात् भी उन्हें सड़ने-गलने देने से पूर्व ही उनका उपयोग कर लेना आवश्यक है। भोजन के पुष्टिकर न होने से तो शरीर दुर्बल और रोगी तक भी हो सकता है किन्तु भोजन भी यदि ठीक न हो तो शरीर को रोगी बनाने का कारण हो जाता है। भोजन के ठीक न होने से चार प्रकार के रोग हो जाते हैं। कुछ पौधों और मांस आदि में विषैली धातुएँ एवं विषपूर्ण रस सम्मिलित होते हैं। उन्हें खा लेने पर भोजन द्वारा प्राप्त विष के कारण किसी भी मनुष्य का रोगी हो जाना सम्भव है। मांस और अंडे के सम्बन्ध में तो बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है। ढींगरी और इसी प्रकार के छतरी जैसे सफेद पौधे खाने के काम में लाये जाते हैं। ये स्वादिष्ट भी होते हैं किन्तु कभी कभी विषैले भी होते हैं और यह पता लगाना बहुत ही कठिन है कि इनमें से कौन से खाने योग्य हैं और कौन से नहीं। इसी प्रकार कुछ जंगली जानवरों का मांस भी विषैला हो सकता है। गाय आदि दूध देने वाले जानवर यदि कोई विषैली वनस्पति खा जायें तो उनका दूध भी विषैला हो सकता है। इसके अतिरिक्त मांस को अधिक देर तक रखे रहने देने से वह खाने के अयोग्य हो जाता है। सड़ा हुआ अंडा और सड़ी-बुसी तरकारी और अन्न आदि भी नहीं खाना चाहिये।

कभी कभी खाद्य पदार्थों में अखाद्य बाहरी वस्तुएँ (foreign chemicals) भी अचानक मिल जाते हैं और वे स्वास्थ्य के लिये हानिकर होते हैं। प्रायः खट्टी खाद्य वस्तुओं को पीतल के बर्तन में नहीं रखना चाहिये। चीनी, मिट्टी, पत्थर अथवा लकड़ी के बर्तनों में ये वस्तुएँ खराब नहीं होती हैं, किन्तु यदि कलई छुटी हुई हो तो पीतल के बर्तन में पितला जाती हैं अर्थात्

विषैली हो जाती हैं। अल्यूमीनियम के बर्तन पकाने के लिये बहुत अच्छे नहीं होते हैं। बाज़ार से आई हुई तरकारियों और फलों को भी भली भाँति धो कर ही खाना चाहिए। यदि चूहों को मारने, मच्छरों, मक्खियों आदि को मारने या भगाने के लिये किसी भी औषधि का प्रयोग किया जाय तो उसे खाद्य पदार्थों से सर्वथा दूर रखना चाहिए।

भोजन मानव का सबसे बड़ा मित्र है किन्तु उसकी अपनी ही तनिक सी भी असावधानी से वही उसका सब से बड़ा शत्रु भी हो सकता है; अतः उसे मित्र ही बनाए रखने के लिए मानव को पूरी तरह प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मनुष्य स्वयं अपनी बुरी आदतों से भी खाद्य पदार्थों में विष का प्रवेश करा देता है। भोजन पकाते समय चखना बुरी आदत है और यदि चखना आवश्यक भी हो तो किसी अलग बर्तन में ले कर चखना चाहिए और फिर उस बर्तन अथवा चम्मच अथवा चख कर बची हुई वस्तु को सारे खाने में बिना माँजे धोये हुए नहीं मिलाना चाहिए। इसी प्रकार खाद्य वस्तु अर्थात् रोटी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को हाथ से यथासम्भव नहीं छूना चाहिए और यदि छूना भी हो तो हाथों को भली प्रकार धो कर ही छूना चाहिए। हमारे देश में प्राचीन काल में यह रीति थी कि रसोई बनाने वाली स्त्री एक बार रसोई में जा कर काम समाप्त किए बिना बाहर नहीं आती थी और उसके रसोई करने के वस्त्र भी अलग ही रहते थे तथा वह स्नान करके ही भोजन बनाती थी। ये प्रथाएँ वस्तुतः बहुत अच्छी थीं और सम्भवतः इनका मूल कारण यही था कि भोजन तैयार करते समय उसमें बाहरी अखाद्य वस्तुएँ मिलने की सम्भावना न्यूनातिन्यून हो सके। प्रायः भोजन द्वारा गन्दगी पहुँचने के फलस्वरूप साधारण जुकाम और गला खराब होने से ले कर मोतीझरा ज्वर, डिफ्थीरिया, पेचिस और राजयक्ष्मा जैसे भयंकर रोग भी हो सकते हैं। अतः भोजन की स्वच्छता रखना अत्यन्त आवश्यक है और यह गृहिणी के अत्यावश्यक कर्तव्यों में से एक है। पशु के रोगी होने पर उसके दूध में भी रोग के कीटाणुओं के आने की सम्भावना रहती है। प्रायः बहुत से रोग गाय के दूध से भी मानव तक पहुँचते हैं। वस्तुतः ऐसा प्रबन्ध तो राज्य एवं शासन-प्रणाली की ओर से होना चाहिए

कि सब ही दूध बेचने वालों के पशुओं का थोड़े थोड़े समय पश्चात् डाक्टरी परीक्षण हो और वे ही पशु दूध देने वालों के पास रहने दिए जाएँ जो कि रोग-रहित हों। दूध बेचने वाले लोग भी कभी-कभी दूध में गन्दा पानी मिला देते हैं जो कि रोग के कीटाणुओं को दूध पीने वालों के भीतर तक पहुँचा देता है। इस विषय में यथासंभव सावधानी रखनी चाहिए तथा राज्य की ओर से इस प्रकार करते हुए पकड़े जाने वाले व्यक्तियों को बहुत ही कठोर दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

कुछ व्यक्ति विशेष प्रकार की प्रोटीन ग्रहण नहीं कर पाते हैं और यदि उन्हें उस प्रकार की प्रोटीन अधिक मात्रा में दी जाए तो वह उन्हें रोगी तक कर देती है।

खाद्य वस्तुओं को सड़ने से बचाने का कार्य गृहिणी को करना चाहिए। यह ठीक है कि कुछ एक खाद्य वस्तुएँ तली हुई होने पर कुछ अधिक समय तक खाने योग्य रहती हैं, जैसे कि हमारे देश में खस्ता कचौड़ी, मठरी, पेड़ा, बरफी और अन्य मिष्ठान्न तथा पकवान को कुछ अधिक समय तक रख कर खाने का प्रचलन है, किन्तु इस प्रकार रखने के समय की भी तो अपनी सीमाएँ हैं तथा एक तो यूँ ही तली हुई वस्तु आमाशय के लिए पचाने की दृष्टि से कठिन हो जाती है दूसरे उसे कई-कई दिन तक रख कर और भी अधिक कठिन तथा शुष्क कर दिया जाता है और कभी-कभी तो वह सड़ बुस भी जाती है जो कि अत्यन्त हानिकर होती है।

हमारे देश में प्रायः सब ही घरों में कोल्ड स्टोरेज अथवा रिफरिजिरेटर भी नहीं होते हैं अतः खाद्य वस्तुओं को देर तक रखना सम्भव नहीं है, तो भी अचार और मुरब्बे के रूप में आम, गाजर, शलजम, आँवले, गोभी आदि फलों एवं तरकारियों को देर तक रखा जाता है; किन्तु तनिक सी ही असावधानी से उनमें भी फफून्दी आदि लग जाती है अतः वे वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। गृहिणी को इस विषय में भी अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए ताकि अचार, मुरब्बे आदि सड़ न जाएँ। किसी भी अवस्था में जलपान के लिए ताज़ी वस्तुएँ बनाना ही उचित है। मिष्ठान्न, पकवान आदि को जलपान के

लिए प्रयोग में लाना ठीक नहीं है।

एक दोष और भी है और वह है वस्तुओं का शुद्ध रूप में बाज़ार में ही न मिलना। अशुद्ध वस्तुओं से तात्पर्य है वस्तुओं में किसी ऐसे पदार्थ का मिला हुआ होना जो कि विषमय हैं अथवा अखाद्य हैं अथवा किसी अन्य ऐसी वस्तु का मिला हुआ होना जो कि अपेक्षाकृत सस्ती है और जिसमें वे गुण नहीं हैं जिनकी आशा से हम वस्तु खरीद रहे हैं। यह भी हो सकता है कि वह वस्तु गंदी तरह तैयार की गई है जैसे कि कई निम्नकोटि की बेकरियों में डबल रोटी अथवा कहीं कहीं बरफ बहुत ही गंदी तरह से बनाई जाती है जो कि स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती है। रोगी पशु का दूध और उस दूध से बना खोया, मलाई आदि सब ही वस्तुएँ अशुद्ध ही होती हैं। यदि किसी खाद्य वस्तु का कोई भी अंश विषैला हो अथवा उसमें से अत्यन्त आवश्यक कोई अंश कम ही कर दिया हो तो भी उसे अशुद्ध ही मानना चाहिये जैसे बनस्पति घी में पुष्टिकर पदार्थ नहीं होते हैं जो कि मक्खन अथवा शुद्ध घी में होते हैं। यदि किसी नकली अथवा अशुद्ध पदार्थ को शुद्ध कह कर बेचा जा रहा हो तो राज्य सरकार को ऐसे व्यक्ति को जो कि उसके लिए उत्तरदायी हो, कठोर दण्ड देना चाहिये। रंग अथवा ऐसे ही किसी पदार्थ को डाल कर अशुद्ध वस्तु को शुद्ध से मिलता-जुलता दिखाने का प्रयत्न करना अपराध होना चाहिये। मिलावट किसी भी अवस्था में अपराध है और राज्य की ओर से इस अपराध का कठोर दण्ड भी दिया जाना चाहिये। औषधि और खाद्य पदार्थ दोनों में ही की गई मिलावट को सामाजिक दृष्टि से भी बहिष्कार का ही सामना करना चाहिये और इस प्रकार का अपराध करने वाला व्यक्ति समाज में नीची दृष्टि से देखा जाना चाहिये क्योंकि ऐसा करके वह थोड़े से निजी स्वार्थ के लिए देश और जाति को भयंकर हानि पहुँचाता है।

राज्य सरकार की ओर से सब ही खाद्य वस्तुओं का पूरी तरह समय समय पर परीक्षण किया जाना चाहिये और अपराध करने वाले के लिए दण्ड-व्यवस्था अत्यन्त कठोर होनी चाहिए।

कटे हुए फल तो कभी भी बाजार से ले कर खाने ही नहीं चाहिये। वैसे

भी फल और तरकारियों को बाज़ार से ला कर कई बार अच्छी तरह खुले पानी से धोना चाहिये। यदि नगर में रोगों की सूचना हो तो फलों को सावधानी से पुटाशियम परमांग्नेट (लाल दवाई) के पानी में डाल कर धो कर ही खाना चाहिये। मक्खियों से खाद्य वस्तुओं का कच्ची और पकी हुई दोनों ही रूपों में बचाना अत्यन्त आवश्यक है।

जिन व्यक्तियों को छूत की बीमारी हो उन्हें तो वे खाद्य वस्तुएँ जिन्हें कि अन्य व्यक्ति खायेंगे किसी भी अवस्था में नहीं छूना चाहिए। राज्य की ओर से खाद्य वस्तुओं के बेचने वालों की भी स्वास्थ्य-परीक्षा समय-समय पर होती रहनी चाहिये। रोगी व्यक्तियों को कोई भी खाद्य पदार्थ बेचने नहीं देना चाहिये तथा उनके इलाज का राज्य की ओर से समुचित प्रबन्ध होना चाहिये अन्यथा वे लोग अपनी जीविका बनाए रखने के लिए विभिन्न उपायों से यह छुपाने का प्रयत्न करेंगे कि वे बीमार हैं तथा किसी न किसी ढंग से डाक्टरी परीक्षा से बचने की चेष्टा करेंगे। इनके अतिरिक्त भी गृहिणी को बाजार से ली हुई वस्तुओं को भली प्रकार धो कर अथवा पका कर ही प्रयोग में लाना चाहिये। हाथ धोकर भोजन करना और भोजन कर चुकने पर भली प्रकार हाथ धोना और कुल्ला करना एक अच्छी आदत है और बच्चों को यही आदत डलवानी चाहिये।

प्रायः भोजन जितनी भूख हो उतना ही अथवा उससे कुछ कम ही करना चाहिये क्योंकि भोजन मानव का प्राण तो है किन्तु अधिक भोजन हानिकर भी हो सकता है। भोजन का चुनाव, उसका तैयार करना और परोसना सब ही स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और ये सब तब ही सुचारु ढंग से हो सकते हैं जब कि राज्य और नागरिक सब ही इस दिशा में सावधान और सचेत हों तथा इस विषय की गुरुता को भी ठीक ठीक समझ सकें।

अध्याय ५

विभिन्न अवस्थाओं के व्यक्तियों का भोजन

नन्हें बालकों का भोजन—वस्तुतः जन्म के पश्चात् बालक के लिए सर्वोत्तम भोजन माता का दूध है। किसी भी वस्तु से माता के दूध की बराबरी नहीं की जा सकती है। यदि माता स्वस्थ हो तो बालक को प्रकृति-प्रदत्त अर्थात् माता का दूध ही पीने देना चाहिए।

यदि माता के अधिक दूध नहीं उतरता है तो भी जितना भी उतरता है वह तो बच्चे को मिलना ही चाहिये। उसके अतिरिक्त अन्य दूध भी दिया जा सकता है। बालक को प्रथम तीन मास तक तो माता का दूध अवश्य ही देना चाहिये किन्तु उस अवस्था में नहीं देना चाहिये जब कि माता के गर्भ में दूसरा बालक आ गया हो अथवा कोई भयंकर कठिन रोग हो गया हो जैसे कैन्सर, हृदय रोग, कठिन रक्तविकार अथवा रक्त की न्यूनता, छूत की कठिन बीमारी जैसे फेफड़ों का राजयक्ष्मा आदि।

बालक को प्रथम तीन मास में शरीर के वजन के प्रत्येक पाउंड के लिए २ से ३ आउंस तक माता का दूध मिलना चाहिये। प्रायः बच्चों को पहले तीन तीन और फिर चार चार घंटों के पश्चात् दूध मिलना चाहिये। अधिकतर दिन में पाँच से ले कर आठ बार तक दूध दिया जाता है। प्रायः कुल इतना दूध बच्चे को मिल जाना चाहिये जितना कि नीचे लिखा हुआ है किन्तु यह अन्दाज़ ही है।

प्रथम दिन	—	$\frac{१}{३}$	आउंस
दूसरे दिन	—	३	"
तीसरे दिन	—	६$\frac{१}{३}$	"
चौथे दिन	—	१०	"
पाँचवे दिन	—	११$\frac{१}{२}$	"
छठे दिन	—	१३	"

सातवें दिन	—	१५ २/३	”
दूसरे सप्ताह	—	१५ २/३	”
तीसरे सप्ताह	—	१६	”
चौथे से सातवें सप्ताह तक	—	२०	”
आठवें सप्ताह से ग्यारहवें सप्ताह तक	—	२६ १/२	”
बारहवें सप्ताह से तेईसवें सप्ताह तक	—	३०	”
चौबीसवें सप्ताह	—	३३	”

यदि इससे तनिक सा कम भी दूध मिले तो हमारे देश में काम चल सकता है।

प्रायः बालक को आठ अथवा दस मास तक माता का दूध मिलना ही चाहिए, किन्तु जहाँ माता का दूध पर्याप्त परिमाण में नहीं होता है और जहाँ साथ ही साथ ऊपर का दूध पिलाया जाता है वहाँ बालक का दूध छुड़ाना कुछ सरल हो जाता है। यदि बालक आठ अथवा दस मास के लगभग बीमार हो अथवा गर्मी अधिक हो तो दूध कुछ काल पश्चात् ही छुड़ाना ठीक होगा। वस्तुतः पाँचवें अथवा छठे मास में बालक को कुछ थोड़ा सा अन्य भोजन देना भी आरंभ कर देना चाहिए। गाय का दूध पाँचवे मास में देना आरम्भ कर देना अच्छा है। कुछ विशेषज्ञ तो पहले मास से ही बच्चे को कुछ अन्य खाद्य वस्तुएँ जैसे रस आदि देने में विश्वास करते हैं। गाय का दूध पाँचवे अथवा छठे मास में देना आरम्भ करना चाहिए। दूध को अन्न के साथ भी दिया जा सकता है। सम्भवतः इसी आधार पर 'खीर चटाई' अथवा अन्नप्राशन किया जाता है जब कि तनिक से चावल मिला कर दूध की खीर बना कर बालक को तनिक सी देना आरम्भ कर दिया जाता है। धीरे-धीरे यह अथवा इसी प्रकार का हलका भोजन एक समय के माता के दूध के स्थान पर दिया जाने लगता है और धीरे-धीरे माता के दूध का स्थानापन्न ही हो जाता है। लगभग ग्यारहवें मास अथवा एक वर्ष पश्चात् माता का दूध बिलकुल छूट जाता है।

यदि माता का दूध बालक को किन्हीं कारणों से नहीं दिया जा सकता

	प्रोटीन प्रतिशत	चर्बी प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	मिनरल प्रतिशत	जल प्रतिशत
माता का दूध	१'४	३'७	७.२	०'२	८७'५
गाय का दूध	३'५	३'६	४'६	०'७	८७'०
बकरी का दूध	३'३	४'२	४'८	०'७	८७'०

यूँ तो ताजा दूध अच्छा होता है किन्तु कभी-कभी वह यदि बच्चे के लिए भारी हो और उसे ठीक न पड़े तो बाज़ार से किसी अच्छी कम्पनी का तैयार किया हुआ सूखा दूध भी प्रयोग में लाया जा सकता है। गाय के दूध को भी पानी मिला कर ही देना चाहिए। या तो सारा उबाला हुआ पानी ही मिलाया जा सकता है अथवा किसी अन्न के पानी में दूध को मिला सकते हैं। बालक को देने वाला दूध अधिक उबालना नहीं चाहिए। एक से तीन मिनट तक उबालना ही पर्याप्त है।

एक दिन भर के लिए एक से ले कर डेढ़ आउन्स तक दूध शरीर के वज़न के हर पाउंड के हिसाब से बच्चे को देना चाहिये। पर्याप्त मात्रा में दूध मिलने से बच्चे जल्दी बढ़ते हैं। गाय अथवा बकरी के दूध में कुछ सरलता से पचने वाली कार्बोहाइड्रेट भी मिला देना चाहिये। डाक्टर की सम्मति के अनुसार मीठा दूध में मिलाया जा सकता है। वस्तुतः बालक को जितनी कैलोरी मिलनी चाहिये यदि उनसे गाय के दूध की कैलोरी में कुछ अन्तर हो तो वह मीठा मिला कर पूरा कर लेना चाहिये। पानी भी पर्याप्त परिमाण में मिला लेना चाहिए।

प्रायः दूध का अंदाज़ निम्नलिखित होना चाहिये :—

		कुल वज़न	दूध	मिठास	पानी
सप्ताह	१	७½ पाउंड	१२ आउंस	१ आउंस	६ आउंस
	२	८ "	१४ "	१ "	७ "
मास	१	१० "	१८ "	१¼ "	१२ "
	२	११½ "	२० "	१½ "	१० "
	४	१४½ "	२५ "	१¾ "	१० "

		वजन	दूध	मिठास	पानी
मास	६	१७½ पाउंड	३० आउंस	२ आउंस	५ आउंस
	८	२० "	३२ "	१½ "	३ "

सब कुछ मिला कर उबाल लेना चाहिये और फिर लगभग ३ मिनिट उसी तापमान पर रहने देना चाहिये। उसके बाद उतार कर कुछ शीतल, पीने योग्य कर लेना चाहिये। बच्चे को दूध देने का समय निश्चित होना चाहिये और ठीक उसी समय से प्रतिदिन उसे दूध देना चाहिये। प्रथम कुछ सप्ताहों में ६ बार और उसके बाद प्रायः आठ मास तक चार बार ही दूध देना चाहिये। सब से पहले रात को दूध देना बन्द करना चाहिये और फिर धीरे धीरे अन्य भी दूध देने के समयों में कमी करते जाना चाहिये। पहले तीन मास में बच्चे को लगभग ४० से ५५ कैलोरी प्रत्येक पाउंड के हिसाब से अथवा ३०० से ७०० तक कुल कैलोरी मिलनी चाहिये। फिर तीन मास की आयु से छः मास की आयु तक ४० से ४८ कैलोरी प्रति पाउंड अथवा ५५० से ८०० तक कुल कैलोरी तक मिलना चाहिये। छः मास की आयु से नौ मास की आयु तक ३८ से ४२ कैलोरी प्रति प्राउंड अथवा ७१० से ११२० कैलोरी तक मिलना चाहिये। वस्तुतः दुर्बल और न्यून भार वाले बच्चों को साधारण बच्चों से अधिक पुष्टिकर भोजन मिलना चाहिये।

बच्चों का भार लगातार तुलवाते रहना चाहिये क्योंकि भार से बच्चे के स्वास्थ्य का भी पता लगता रहता है। बालक को प्रथम छः मास में प्रति सप्ताह चार से आठ आउंस तक बढ़ना चाहिये। प्रति सप्ताह छः आउंस तो अवश्य बढ़ना चाहिये। पाँच मास में उसका भार दुगना अवश्य ही हो जाना चाहिये। इसमें थोड़ा बहुत फेर बदल भी हो सकता है। किसी सप्ताह कम और किसी में अधिक भी भार बढ़ सकता है।

बच्चे को तीसरे अथवा चौथे सप्ताह से बाहरी विटामिन देना आरम्भ कर देना अच्छा ही रहता है। विटामिन 'ए' और 'डी' के लिए मछली के लिवर का तेल दिया जाता है। पहले मास के अन्त में १५ बूँदें एक या दो बार दिन में दी जा सकती हैं और धीरे धीरे एक पूरे छोटे, चाय के चम्मच प्रतिदिन तक

बढ़ाया जा सकता है। अधिक भी दिया जा सकता है। विटामिन 'डी' धूप से भी मिलती है। विटामिन 'ए' अन्य पदार्थों में भी मिलती है। जब बच्चा तीन अथवा चार सप्ताह का हो जाता है तो उसे विटामिन 'सी' के लिए आधा उबला हुआ ठंडा पानी और आधा सन्तरे अथवा आँवले का रस मिला कर दिया जा सकता है। आरम्भ में एक छोटा चम्मच दिया जा सकता है और धीरे धीरे तीसरे मास के अन्त तक दो बड़े चम्मच अथवा लगभग एक छटाँक दिन में दो बार दिया जा सकता है। सन्तरे या आँवले के जूस के स्थान पर टमाटर का जूस भी दिया जा सकता है किन्तु वह इतना लाभदायक और पुष्टिकर नहीं होता है।

चार मास की आयु हो चुकने पर बच्चे को अन्न भी दिया जा सकता है। बहुत ही पतले दलिया का रस अथवा ऐसी ही कोई वस्तु उस अवस्था में देनी चाहिये जब कि बच्चे को कब्ज़ रहती हो। यदि बालक का पखाना पतला होता हो तो बारले का पानी दिया जा सकता है। बच्चे को देने के लिए अन्न भली प्रकार पका और गला होना चाहिये; फिर उसे भली प्रकार छान कर ही उसका पानी देना चाहिये। आरम्भ में लगभग एक या दो छोटे चम्मच प्रति दिन देना चाहिये और फिर धीरे धीरे परिमाण बढ़ाया जा सकता है। सातवें अथवा आठवें मास तक दो बड़े चम्मच भर के दे सकते हैं। यह दिन में दो बार करके देना चाहिये। इसी प्रकार पाँचवे मास से बच्चे को तरकारियों का रस भी धीरे-धीरे दिया जा सकता है। बच्चों के लिए रस बनाने की दृष्टि से हरी पत्तों वाली तरकारियाँ अच्छी होती हैं जैसे गाजर, मटर, फलियाँ आदि आदि। दसवें मास से आलू भून कर अथवा उबाल कर दिया जा सकता है। नवें मास के आस पास बच्चे को अंगूर, अनानास आदि का जूस तथा सेब, आड़ू, अलूचे आदि फल भी स्टू के रूप में थोड़े-थोड़े दिये जा सकते हैं।

अंडे की ज़र्दी में आयरन, फोसफरस, विटामिन 'ए', 'डी' और 'बी जटिल' होती हैं। इसमें प्रोटीन और स्निग्धता भी होती है किन्तु यह भारी होती है अतः बच्चे की पाचन क्रिया को गड़बड़ भी कर सकती है। यह ध्यान में रखते हुए भी यह बच्चे को दी जानी चाहिये। प्रारम्भ में बच्चे को एक बूँद ज़र्दी देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन एक बूँद बढ़ा कर ग्यारह बूँदें तक ले जाना

चाहिये। यदि बालक को इससे कुछ कष्ट न हो तो प्रतिदिन एक अंडे की आधी जर्दी तक दी जा सकती है और एक वर्ष की आयु तक एक अंडे की ज़र्दी से अधिक बच्चे को नहीं देना चाहिये।

आठवें मास में बच्चे को कड़ी सिकी रोटी का एक छोटा सा टुकड़ा चबाने को देना चाहिये जिससे कि उसे चबाना भी आ जाए और मसूढ़े निकलने में भी सहायता मिले।

दूध से बनी हुई हलकी वस्तुएँ खीर, फिरनी आदि भी बच्चे को धीरे-धीरे चटाई जा सकती हैं।

जिन बच्चों को पेचिश, दस्त, वमन आदि आते हों अथवा किसी प्रकार से ऐसा जान पड़े कि इनका हाज़मा खराब है तो उन्हें कम चर्बी की वस्तुएँ देना चाहिए अर्थात् स्किम्ड अथवा मक्खन निकला दूध देना चाहिए अथवा दूध में जल अधिक मिला कर देना चाहिए।

समय से पूर्व उत्पन्न बच्चों को यदि दुर्भाग्यवश माता के दूध के अतिरिक्त किसी अन्य दूध पर जीवित रहना पड़े तो उनका जीवित रहना अनिश्चित-सा ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसी धाय मिल सके जिसका दूध उतरता हो तो बच्चे को वही देना चाहिए। कभी-कभी तो ऐसा बालक माता के स्तन से अथवा धाय के स्तन से दूध खींचने के योग्य भी नहीं होता है। ऐसी अवस्था में स्त्री का दूध निकाल कर आरम्भ में उसमें एक दो अथवा तीन भाग जल मिला कर ही बच्चे को देना चाहिए। औषध डालने के ड्रौपर से दूध पिलाने का काम लिया जा सकता है। अथवा बहुत ही स्वच्छ रुई की बत्ती बना कर उससे भी काम चलाया जा सकता है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि ऐसे बच्चे को प्रथम १२ से १८ घंटों तक केवल जल पर ही रखना चाहिए। यूँ भी ऐसे बच्चे को अपने शरीर के भार का छठा भाग प्रतिदिन दूध मिले हुए जल के रूप में मिलना चाहिए। यदि बालक अपने शरीर के भार को प्रथम दो अथवा तीन सप्ताह तक ठीक-ठीक रख पाता है तो उसके बचने की आशा की जा सकती है। अधिकतर प्रथम सप्ताह में वज़न घटने का भय रहता है। यदि माता का दूध न मिल सके और ऊपर का ही

दूध देना हो डाक्टर से इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक पूछ लेना चाहिए। दूसरे दिन से ही दूध पिलाने के समय भी निश्चित कर देने चाहिए तथा साधारण बालकों से अधिक मात्रा में ही ऐसे बालकों को मछली के लिवर का तेल अथवा विटामिन 'डी' वाला कोई और खाद्य-पदार्थ देना चाहिए।

बालक का भोजन तैयार करते समय अत्यन्त सावधानी से उन सब ही बर्तनों को स्वच्छ करना चाहिए जिनका कि बालक के भोजन तैयार करने से सम्बन्ध होता है। यदि दूध बोतल में दिया जाता है तो उस बोतल और निपल को भली प्रकार गर्म पानी में उबाल कर हर बार दूध देने के समय स्वच्छ करना अत्यन्त आवश्यक है।

स्कूल जाने से पूर्व की आयु के बालकों का भोजन—माता-पिता के शरीर का बालक के शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता स्वस्थ हैं तो साधारणतया बालक भी स्वस्थ ही होगा ? यही नहीं, माता-पिता के लम्बे अथवा ठिंगने होने का भी बच्चे पर प्रभाव पड़ता है।

साधारणतया एक वर्ष तक के बालक को वही भोजन दिया जाना चाहिए जो कि नन्हें बालक को मिलता था किन्तु उसमें तनिक-सी भिन्नता यह हो जायेगी कि अब बालक को माता का दूध नहीं मिलेगा अतः उसे ऊपर के दूध की आदत डलवानी होगी और ऊपर का दूध उसे बोतल में न देकर गिलास अथवा प्याले में चम्मच से पिलाया जाना चाहिए। अन्न का पानी भी अब छान कर देने की उतनी आवश्यकता नहीं होगी। खाना भी अब दिन में चार बार ही देना चाहिए। तरकारी, चावल आदि भी अब अच्छी तरह गला हुआ खूब पिसा या घुला हुआ सा दिया जा सकता है। मांसाहारी खूब घुला मिला लिवर, मांस आदि भी दे सकते हैं। मक्खन तो दिया ही जा सकता है। बालक को चाय अथवा काफी किसी भी अवस्था में नहीं देनी चाहिए। मिठाई और मसाला आदि तथा तली हुई वस्तुएँ भी नहीं देनी चाहिए। बालक का भोजन माता को स्वयं अथवा अपनी देख-रेख में सावधानी से तैयार करवाना चाहिए।

एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष तक बालक के भोजन में धीरे-धीरे दूध के

अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी स्थान मिलता जाना चाहिए। यह तो हम देख ही चुके हैं कि थोड़ी-सी अन्य वस्तुएँ तो बालक को नौ मास और पन्द्रह मास की आयु के बीच ही मिलने लगती हैं। इनके अतिरिक्त और हलकी वस्तुएँ भी धीरे-धीरे दी जानी चाहिए किन्तु किसी भी अवस्था में दूध तीन पाव के लगभग मिलना ही चाहिए। यद्यपि ज्यों-ज्यों अन्य वस्तुओं की संख्या और उनका परिमाण बढ़ता जायेगा दूध कुछ कम अवश्य हो जायेगा किन्तु फिर भी दूध अच्छी मात्रा में मिलता ही रहना चाहिए। यह ठीक है कि जहाँ दूसरा बच्चा उत्पन्न हो गया साधारण गृहस्थ के घर में अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त केवल बच्चों के ही लिए दो सेर दूध लेना कठिन हो जाता है और जब कि बच्चों की संख्या तीन चार हो जाए तो कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है; किन्तु इसका उपाय तो यही है कि परिवार नियोजन योजना ध्यान में रखते हुए उतने ही बच्चों को जन्म देना उचित है जिनका कि ठीक से पालन-पोषण हो सके यद्यपि हम जानते हैं कि केवल मात्र यह कह देने से हमारे देश में इस समस्या का हल नहीं हो जाता है किन्तु यह भी तो सत्य है कि बालक को पुष्टिकर भोजन मिलना ही चाहिए अन्यथा वह यथार्थ शरीर वाला नागरिक नहीं बन पायेगा।

बालक को भोजन सम्बन्धी अच्छी आदतें डलवाना अत्यन्त आवश्यक है। भोजन का समय निश्चित होना चाहिए और बालक को भोजन करते समय ज़िद, रोना धोना आदि नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसकी पाचन क्रिया गड़बड़ हो जायेगी और इससे उसे कष्ट ही होगा। रोने धोने, ज़िद करने से भूख भी मर जाती है। वस्तुतः खाते समय तो मनुष्य को बालक हो अथवा पुरुष बहुत प्रसन्न होना चाहिए। खाने की किसी भी वस्तु की कभी भी कटु आलोचना नहीं करनी चाहिए। बालक को जो वस्तु उसे खिलानी है एक समय में एक मात्र खाद्य वस्तु की भाँति देनी चाहिए। बहुत सी वस्तुओं के साथ मिला कर रखने पर बच्चा उस वस्तु को खा भी सकता है और नहीं भी खा सकता है। प्रत्येक वस्तु जो कि उसे खानी चाहिए उसके सामने अधिकाधिक आकर्षक रूप में परोसी जानी चाहिए। बालक बहुत ही नकलची होते हैं।

वे बहुत सी वस्तुएँ तो केवल इसी लिए खाते हैं और खाना चाहते हैं कि पिता और माता वे वस्तुएँ खाते हैं। अतः माता पिता को स्वयं भी वे ही वस्तुएँ खानी चाहिए जो कि वे बालक को खिलाना चाहते हैं तथा उन्हें बालक के सामने उचित व्यवहार भी करना चाहिए जैसे कि किसी भी कारण से खाते समय क्रोध करना, लड़ना झगड़ना नहीं चाहिए। खाने से पूर्व हाथ अवश्य धोने चाहिए। माता को बालक के सम्मुख उसके खाने के सम्बन्ध में न तो घबराहट ही प्रकट करनी चाहिए और न यह ही कहना चाहिए कि बच्चे ने खाना कम खाया है। बड़ों की ही भाँति बच्चे की भूख भी सदा ठीक ठीक एक ही तरह की तो होती ही नहीं है। यदि किसी एक समय बालक कम दूध पीता है तो किसी दूसरे समय कुछ अधिक भी पी सकता है। अतः उसके लिए घबराना व्यर्थ ही होता है। डाँट कर खिलाना अनुचित एवं हानिकर है क्यों कि यदि बच्चे के किसी भोजन विशेष के न खाने पर डाँट पड़ती है तो वह उस वस्तु को खाना अधिकाधिक नापसन्द ही करता जायेगा और इस प्रकार उसकी ज़िद बढ़ेगी ही। यदि बालक को किसी खाद्य वस्तु के खाने की आदत डलवानी हो तो आरम्भ में ही जब कि बच्चे को भूख लगी हो खाने के समय वही वस्तु थोड़ी मात्रा में देनी चाहिए ताकि बच्चा समझे कि उसे वह वस्तु उसके पसन्द करने पर ही दी जायेगी।

अधिकतर माताएँ बच्चे को गुणकारी वस्तु बरबस उसकी भूख से भी अधिक खिलाना चाहती हैं जो कि अनुचित है। खिलौने दिखा कर खिलाना भी अनुचित है क्यों कि ऐसा करने से बालक भोजन को भी औषधि की भाँति समझने लगता है। वस्तुतः होना तो यह चाहिए बच्चे को ऐसी आदत पड़ जाए कि जो कुछ सामने भोजन के समय रखा जाय वह सब ही खा जाय किन्तु यह तब ही हो सकता है जब कि माता वही खाद्य पदार्थ बच्चे के सामने भूख तथा भोजन के समय रखे जो कि उसे खाना चाहिए। वस्तुतः बच्चे को भोजन से सम्बन्धित अच्छी आदतें डलवाना अत्यन्त आवश्यक है और माता को इस कार्य में अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए।

प्रायः बच्चे को निम्नलिखित गणना के अनुसार प्रतिदिन कैलोरी मिल

जानी चाहिए। यदि बालक का वजन साधारणतया ठीक है तो कभी कभी यदि हो सके तो देख लेना चाहिए कि उसे जितनी कैलोरी की आवश्यकता है उतनी मिलती जा रही हैं। यूँ यह तालिका हमारे देश को देखते हुए कुछ बढ़ी हुई जान पड़ती है किन्तु आदर्श रूप में तो इसे स्वीकार करना ही पड़ता है।

आयु	कैलोरी प्रति दिन	
	लड़का	लड़की
१	८५० से ११५०	७५० से ११५०
२	११५० से १२५०	६५० से १२००
३	१२०० से १३५०	११५० से १३००
४	१२५० से १४५०	११०० से १४००
५	१२०० से १५५०	११५० से १४५०
६	१५०० से १८५०	१४०० से १७५०
७	१६०० से २१००	१५०० से १६००
८	१७०० से २२५०	१६०० से २१००
९	१६०० से २४५०	१६०० से २४५०
१०	२१०० से २६५०	१६०० से २५५०
११	२१०० से २७५०	१६०० से २६००
१२	२१०० से २८००	२००० से २७५०
१३	२३०० से ३०००	२१०० से ३०००
१४	२५०० से ३५००	२३०० से ३४००
१५	२६०० से ३८००	२४०० से ३०००
१६	२७०० से ४०००	२४०० से २८००
१७	२८०० से ४०००	२२५० से २८००

स्कूल जाने वाले बालकों का भोजन—प्रारम्भिक शिक्षा—धीरे धीरे अब बालक को बड़े लोगों के भोजन की ओर लाने का प्रयत्न करना आरम्भ हो जाना चाहिए। यद्यपि भोजन में आवश्यक पदार्थ अब भी वे ही होने चाहिए जो कि बालक को पहले मिलते रहे हैं फिर भी अब उसे सन्तरे और केले के

जाये तो भी ६:३० से ४:३० तक बहुत ही लम्बा समय हो जाता है। प्रायः इस समय बालक अथवा बालिका की आयु १० वर्ष से लेकर १४-१५ वर्ष होती है। इसी समय बालिकाओं के जीवन में नारीत्व का प्रवेश होता है। कभी कभी तो इस आयु में उनकी भूख कम हो जाती है यद्यपि लड़कों में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है। वस्तुतः लड़कियों को इस समय आयरन अधिक यात्रा में मिलना चाहिए। इस आयु के बच्चों को या तो स्कूल में खाने के लिए घर से बनवा कर कुछ खाद्य पदार्थ ले जाने चाहिये अथवा स्कूल में ही लेना चाहिये। जो भी कुछ हो स्कूल के समय के बीच में खाना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु घर से बनवा कर ले जाएँ अथवा स्कूल में ही लें तली हुई वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये। दूध, तरकारियाँ और फल खाना अच्छा है किन्तु वे सम्भवतः महँगी पड़ती हैं। भिगोये हुए चने, सोयाबीन, गाजर आदि भी अच्छी वस्तुएँ हो सकती हैं और ये सस्ती भी होती हैं। यूँ तो किसी का भी वज़न बहुत कम होना ठीक नहीं है किन्तु लड़कियों के लिए तो यह और भी अधिक भयप्रद है क्योंकि दुर्बल शरीर शीघ्र ही रोगों का शिकार हो सकता है। स्त्री को तो माता भी बनना पड़ता है अतः उसका शरीर तो पूर्णतया स्वस्थ्य एवं हृष्ट पुष्ट होना चाहिये और अच्छा भोजन ही शरीर को स्वस्थ रख सकता है।

युवावस्था में भोजन—युवक एवं युवतियों को तो भोजन की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिये क्योंकि स्वस्थ शरीर ही वस्तुतः सुन्दर हो सकता है। साधारण पुरुष और स्त्री का भोजन कैसा, कितना और क्या होना चाहिये इसकी चर्चा हम कर ही चुके हैं। यह भी हम देख चुके हैं कि शरीर को चर्बी, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, मिनरल और विटामिन की आवश्यकता है और वे किन किन वस्तुओं में मिल सकती हैं।

भोजन पर्याप्त मात्रा में और सन्तुलित अर्थात् उन सब ही वस्तुओं सहित होना चाहिये जिनकी शरीर को आवश्यकता है और उनमें से प्रत्येक वस्तु की मात्रा भी पर्याप्त होनी चाहिये किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक है आनन्द के साथ भोजन करना। यह आवश्यक नहीं है कि भोजन मँहगा तो तब ही पुष्टिकर हो सकता है। गाजर, मूली, शलजम, मूँगफली, हरी मिर्च, पत्तों

वाली तरकारियाँ, गेहूँ, चना, जौ, मौसम के सस्ते फल अमरूद, बेर, खरबूजा आदि भी भली प्रकार भोजन का अंश हो सकते हैं किन्तु जो भी कुछ भोजन हो उसे प्रसन्नतापूर्वक, शोक भय रहित, क्रोधविहीन अवस्था में खाने से उससे लाभ होता है।

गर्भवती स्त्री का भोजन—माता के शरीर के भीतर एक और शरीर बनता है अतः गर्भवती स्त्री को अपने ही भीतर पनपने वाले नन्हें से शरीर के लिए निर्माणकारी खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है। वस्तुतः हृष्ट पुष्ट शरीर वाली स्त्री के अपने शरीर के विभिन्न निर्माणकारी पदार्थों को लेकर बालक का शरीर बनना आरम्भ हो जाता है अतः उसे पहले कुछ महीनों तक अधिक भोजन की उतनी आवश्यकता नहीं जान पड़ती है किन्तु ज्यों ज्यों गर्भ स्थित बालक का शरीर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों स्त्री को अधिकाधिक पुष्टिकर पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। पाँचवे मास तक गर्भवती स्त्री को अपने भोजन की मात्रा बढ़ाने की उतनी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। साधारण शरीर वाली स्त्री को गर्भावस्था के अन्तिम दो तीन मास में कुछ अधिक कैलोरी लेने की आवश्यकता होगी। बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम करने वाली स्त्री को साधारण स्त्री से कुछ अधिक कैलोरी लेनी चाहिए और जिस स्त्री का वजन पूर्व से ही अधिक हो उसे तो चर्बी आदि वाले कुछ विशेष प्रकार के भोजन की मात्रा कुछ कम भी कर देनी होगी। गर्भवती स्त्री को वज़न अधिक बढ़ाने वाला भोजन अधिक नहीं कर लेना चाहिए किन्तु शरीर निर्माण की दृष्टि से जितने भी पदार्थों की आवश्यकता है वे गर्भवती स्त्री के भोजन में अवश्य होने चाहिए। भोजन बहुत ही ध्यान पूर्वक चुनना चाहिए तथा उसमें उतनी ही सावधानी से काम लेना चाहिए जितनी कि नन्हें बच्चे के भोजन का चुनाव करते समय काम में लाई जाती है। हम यह कह ही चुके हैं कि किसी भी व्यक्ति का जीवन और स्वास्थ्य माता के गर्भ से आरम्भ होता है अतः गर्भावस्था में ही बालक के शरीर की ओर पर्याप्त ध्यान देना आरम्भ कर देना चाहिए। यदि माता के ही भोजन में कमी है अथवा भोजन पर्याप्त नहीं है, पुष्टिकर नहीं है अथवा पूरी तरह पचता नहीं है तो माता तो कष्ट पायेगी ही बच्चे में भी

विटामिन, मिनरल आदि की कमी का होना स्वाभाविक है। गर्भवती स्त्री के भोजन में प्रोटीन की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। प्रोटीन कुछ अधिक होने से रक्त की कमी आदि का भय नहीं रहता है तथा बालक का जन्म हो चुकने पर दूध की भी न्यूनता नहीं रहती है।

गर्भवती माता को कैलशीयम की अत्यधिक आवश्यकता होती है। मानव शरीर हड्डियों के ढाँचे पर ही तो बना है और हड्डियाँ कैलशीयम से बनती हैं अतः गर्भवती स्त्री को लगभग १.५ ग्राम कैलशीयम प्रतिदिन मिलना चाहिए। पर्याप्त मात्रा में दूध और रसदार फल गर्भवती स्त्री को खाने चाहिए। कैलशीयम और फौसफरस का ठीक-ठीक उपयोग तब ही हो पाता है जब कि विटामिन 'डी' शरीर में पर्याप्त मात्रा में हो। अतः ऐसी स्त्री को धूप का यथा सम्भव सेवन करना चाहिए तथा धूप में पके अन्न फल आदि भी खाने चाहिए। हो सके तो मछली के लिवर का तेल भी पीना चाहिए।

कैलशीयम की ही भाँति गर्भवती स्त्री को आयरन की भी पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है। अतः सेब, लिवर, अंडे, पालक और अन्य हरी तरकारियाँ आदि भी गर्भवती स्त्री के भोजन में होनी चाहिए। वस्तुतः कैलशीयम की आवश्यकता बच्चे के जन्म के पश्चात् बहुत अधिक होती है किन्तु आयरन की आवश्यकता तो गर्भावस्था में ही अधिक होती है। यदि गर्भवती स्त्री को रक्त की कमी अथवा पाचन सम्बन्धी शिकायत हो तो आयरन और लिवर एक्सट्रेक्ट डाक्टर दे सकते हैं।

आइडीन गर्भवती स्त्री के भोजन में पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। जहाँ पीने के जल और मिट्टी में आइडीन स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान न हो वहाँ गर्भवती स्त्री को बाहर से आइडीन औषधि के रूप में देना पड़ता है।

विटामिन की गर्भवती स्त्री को अत्यधिक आवश्यकता होती है। यूँ तो गर्भवती स्त्री को सब ही विटामिनों की आवश्यकता होती है किन्तु गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री लिवर में विटामिन 'ए' जमा करती है क्योंकि जब गर्भ शीघ्रता से बढ़ता है तब विटामिन 'ए' की आवश्यकता पड़ती है। विटामिन 'बी जटिल' की आवश्यकता गर्भ को पूरे समय तक टिकाए रखने के लिए

होती है अन्यथा समय से पूर्व भी सन्तान उत्पन्न हो सकती है और गर्भ नष्ट भी हो सकता है। यदि विटामिन 'सी' बहुत ही कम हो तो गर्भ में ही बच्चे की मृत्यु हो सकती है अथवा जन्म के पश्चात् मृत्यु हो जाती है अथवा यदि बालक जीवित भी रहा तो उसकी शक्ति कम होती है और गठन तथा बाढ़ पूरी नहीं होती है। विटामिन 'डी' की आवश्यकता न केवल कैलशीयम और फौसफरस के पूरे उपयोग के ही लिए होती है वरन् दाँतों और ढाँचे की गठन के लिए भी होती है। विटामिन भी गर्भ को रोके रखने में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त डाक्टर यदि किसी और विटामिन की आवश्यकता गर्भवती स्त्री के लिए बताएँ तो वह औषधि के रूप में ली जा सकती है।

गर्भवती स्त्री को प्रतिदिन कम से कम एक पाव अथवा आध सेर दूध, एक आउन्स मक्खन अथवा दो आउन्स घी, साधारण चार पाँच गेहूँ की रोटियाँ, दो छटाँक गेहूँ का दलिया, एक या दो जितनी खा सके कच्ची तरकारियाँ एक या दो पक्की तरकारियाँ, टमाटर, सन्तरा, हरी मिर्च, सेब कुछ और फल आदि खाना चाहिये। मांस खाने वालों को प्रतिदिन एक अंडा, कुछ मांस, मछली आदि भी खाना चाहिए और सप्ताह में एक बार लिवर खाना चाहिये। निरामिष भोजी दाल, मक्खन, पनीर, मुरब्बा तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य वस्तुएँ मांस आदि के स्थान पर खा सकती हैं।

गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः प्रातःकाल स्त्री का जी घबराने लगता है और वमन भी होता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि शक्ति कुछ कम हो जाती है और गर्भ केवल कार्बोहाइड्रेट पर ही पलता है। अतः साधारण रूप में कार्बोहाइड्रेट बार बार देना अच्छा रहता है। प्रातः उठते ही एक गिलास सन्तरे का रस और नमकीन रोटी इस अवस्था में ठीक पड़ सकते हैं। ग्लूकोस और इन्सुलीन से भी लाभ हो सकता है। तीन मास के पश्चात् वमन आदि कम हो जाते हैं। गर्भ बढ़ने भी लगता है। अब प्रोटीन और अधिक लेना आरम्भ कर देना चाहिये। यदि पी सके तो पाव आध सेर दूध इस समय पीना चाहिये। यदि दूध अधिक न पिया जाये तो अन्य प्रोटीन वाले खाद्य पदार्थ लिए जा सकते हैं। इस समय आयरन जिन खाद्य वस्तुओं में

अधिक हो वे ही लेनी चाहिये। आयोडीन भी इसी समय लेना अधिक कर देना चाहिये। इस समय से लेकर बालक के जन्म होने तक खमीर, ताजे फल, मछली के लिवर का तेल, फलों का जूस आदि अधिक लेना चाहिये। यदि कोष्ठबद्धता होने लगे तो अंजीर, मुनक्का, ताज़े फल, जूस और हरी तरकारियाँ कुछ अधिक खाना अच्छा रहेगा। छठे मास के पश्चात् गर्भवती स्त्री को भूख भी अधिक लगती है। इस समय भोजन प्रायः साधारण होना चाहिये किन्तु कोई भी, तनिक सी भी शिकायत होने पर डाक्टर को दिखा लेना ठीक ही रहता है।

दूध पिलाने वाली माता का भोजन—गर्भवती माता से भी अधिक दूध पिलाने वाली माता को अच्छे भोजन की आवश्यकता होती है। बच्चा ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है और अधिक खेलने कूदने लगता है माता को उसे अधिकाधिक दूध देना पड़ता है। बालक जितना छोटा होता है उतना ही वह अपने शरीर के भार के प्रति पाउन्ड के हिसाब से अधिक दूध लेता है जैसे कि प्रथम कुछ सप्ताहों में बच्चा अपने शरीर के प्रति पाउन्ड पर दो या तीन आउन्स के हिसाब से दूध पीता है। माता को प्रथम तीन मास में बच्चे के भार के प्रति पाउन्ड पर ६० के लगभग कैलोरी के हिसाब से दूध देना होता है। चौथे से छठे मास में यह ५० के लगभग हो जाता है और फिर अगले छः मास ४० से ४५ तक हो सकता है। अतः माता को ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है जिससे कि उसे इतनी कैलोरी अधिक दे सकने योग्य पुष्टि एवं शक्ति प्राप्त हो सके। प्रायः साधारण आराम तलब स्त्री को २८०० से ३००० कैलोरी और अधिक शारीरिक श्रम करने वाली स्त्री को ३६०० के लगभग कैलोरी मिलनी चाहिये। यही नहीं, शरीर की सब ही आवश्यकताएँ दूध पिलाते समय बढ़ जाती हैं अतः दूध पिलाने वाली स्त्री को सब ही वस्तुएँ भोजन में अधिक मिलनी चाहिये ताकि वह उन वस्तुओं को दूध के द्वारा बच्चे को भी दे सके। भोजन यदि यथेष्ट मात्रा में और ठीक ठीक प्राप्त नहीं होगा तो माता दूध भी पर्याप्त मात्रा में नहीं दे पायेगी। गर्भवती तथा दूध पिलाने वाली दोनों ही स्त्रियों को और विशेषतया दूध पिलाने वाली स्त्री को जल भी अधिक मात्रा में पीना चाहिये।

वस्तुतः बालक देश की सम्पत्ति होते हैं और बालक ही देश एवं जाति का भविष्य निर्माण करते हैं। हमारे देश में अभी तक बालकों पर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है। वास्तव में राज्य सरकार को यह देखना चाहिए कि गर्भ में आते ही बालक की पूरी पूरी देख रेख होती है और उसे पूरा भोजन मिल पाता है। हमारे जैसे देश में जहाँ दरिद्रता, बेकारी आदि हैं राज्य सरकार को निर्धन गर्भवती स्त्रियों और दूध पिलाने वाली माताओं को भोजन दिलाने का प्रबन्ध करना चाहिए ताकि देश के भावी नागरिक गर्भ से ही दुर्बल एवं क्षीण शरीर ले कर पृथ्वी पर न आएँ। जो स्वयं अपना भार वहन कर सकते हैं उनके लिए तो केवल उचित मार्ग प्रदर्शन का ही प्रबन्ध होना चाहिए किन्तु जो आर्थिक दृष्टि से इस योग्य नहीं है उनके बच्चों के पालन पोषण का भार किसी एक सीमा तक तो गर्भ से लेकर और विद्यार्थी जीवन तक राष्ट्र को ही लेना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में समुचित आदेश आदि देने की भी पूरी पूरी व्यवस्था राष्ट्र सरकार की ही ओर से होनी चाहिये।

अध्याय ६

रोगी का भोजन

बालकों के रोग और उस अवस्था में भोजन—यूँ तो बच्चों का शरीर कोमल होते हुए भी मानव शरीर का ही तो एक नन्हा सा संस्करण है। अतः बच्चों को वे सब ही रोग हो सकते हैं जो कि बड़े लोगों को होते हैं और उनका इलाज भी उसी ढंग से होता है जिस ढंग से बड़े लोगों का इलाज होता है किन्तु कई बार तो लक्षण वस्तुतः रोग नहीं होते वरन रोग के परिचायक होते हैं जिन्हें देख समझ कर यदि भोजन ठीक कर लिया जाए तो बच्चा रोग से बच भी सकता है। अतः इन लक्षणों का तथा उस अवस्था में दिए जाने योग्य भोजन का जानना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया बच्चों को उल्टियाँ (वमन) आने लगती हैं। पेट का अफर जाना, पेट में दर्द होना, पेचिश, वज़न कम

होना, दस्त होना कब्ज होना आदि साधारण रोग हैं। विटामिन की कमी से रिकेट और स्कर्वी भी हो जाते हैं। बच्चों को साधारणतया छूत भी जल्दी लग जाती है। इन सब ही अवस्थाओं में भोजन का ध्यान रखना चाहिए।

वमन—नन्हें बच्चों को अकसर वमन आने लगते हैं। यह तो एक लक्षण है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। कभी कभी तो यह केवल पेट खाली करने के लिए ही हो सकता है किन्तु हर बार दूध पीने के पश्चात् वमन हो जाना ठीक नहीं हैं। अधिक दूध पी जाने से भी कभी कभी वमन हो सकता है। दूध के असन्तुलित होने अथवा दूध में चर्बी अधिक होने से पेट देर में खाली होता है अतः वमन द्वारा पेट खाली होने की सम्भावना रहती है। दूध यदि ठीक से नहीं पचेगा तो वमन होगा ही। यदि कुछ ऐसे तत्त्व दूध अथवा भोजन में हों जिन्हें कि आमाशय स्वीकार नहीं करता है तो भी वमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपच, किसी प्रकार के रोग कीटाणुओं के प्रवेश आदि गम्भीर कारण भी वमन के हो सकते हैं। वमन यदि कभी कभी आ जाए तो कुछ वैसी घबराने की बात नहीं है किन्तु बार बार वमन आने पर उसका कारण जानना और उसी के अनुसार भोजन निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है।

पेट में दर्द—बच्चे जब रोने लगते हैं तो अशिक्षित स्त्रियाँ प्रायः यही कहती हैं कि बच्चा भूखा है उसे दूध दे दो किन्तु सदा सर्वदा बालक भूख से ही नहीं रोता है। कभी कभी तो वह इसलिए भी रोता है कि उसे उसकी शक्ति से अधिक भोजन दे दिया गया है और वह उसे पचा नहीं पाता है अतः बच्चे के रोते ही उसे दूध नहीं देना चाहिए वरन दूध तो समय से ही देना चाहिए। बच्चे के पेट में दर्द होने के कई कारण होते हैं। यदि दूध उसे पच नहीं पाता है तो बिना पचे हुए भोजन से निकलने वाली गैस अथवा वायु उसके पेट में दर्द उत्पन्न कर देती है। अधिक वायु निगल जाने से अथवा सर्दी लग जाने से भी पेट में दर्द होता है। जिस बच्चे को पूरा भोजन नहीं मिलता है उसके पेट में भूख लगने से ही कठिन पीड़ा हो सकती है। ऐसी अवस्था में प्रोटीन वाला अथवा एसिड सहित दूध देना अच्छा रहता है।

दुर्बलता—पूरा भोजन न मिलने से अथवा सन्तुलित भोजन न मिलने

से बच्चा दुर्बल हो जाता है। इसके लक्षण हैं वजन कम होना, खाल सिकुड़ना, पसलियाँ और हड्डियाँ दिखाई देना, आँखों का गड्ढों में घुस जाना और तापमान कम रहना। इनके अतिरिक्त दस्त, रक्त की कमी, शीघ्र रोगी होना आदि भी चलते रहते हैं।

दुर्बलता का इलाज उसका ठीक ठीक कारण जान कर उसके अनुसार ही किया जा सकता है। दुर्बलता का कारण बालक के जन्मगत रोग भी हो सकते हैं जिनके कारण वह भोजन या तो पूरी मात्रा में ले नहीं पाता और या पचा नहीं पाता। एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बच्चे को पूरी मात्रा में भोजन मिलता ही नहीं है। ऐसी अवस्था में यह भी हो सकता है कि माता के पूरा दूध उतरता ही न हो और इसका कारण माता को पूरा अथवा अच्छा भोजन न मिलना भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में माता के भोजन की मात्रा आदि बढ़ाई जानी चाहिए। जन्म से पूर्व की कमियों को सहज ही ठीक नहीं किया जा सकता है फिर भी उसका भी उपाय करना चाहिए। यदि बालक को माता का दूध नहीं मिलता है तो जो ऊपर का दूध उसे दिया जा रहा है उसकी ठीक ठीक जाँच होनी चाहिए कि उसे उसमें सब ही आवश्यक तत्त्व मिल पाते हैं अथवा नहीं। यदि ऊपर के दूध में कैलोरी की अथवा किसी प्रकार विशेष के भोजन के प्रमुख तत्त्वों की कमी हो तो उन्हें पूरी करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि केवल कैलोरी की ही कमी हो तो दूध अधिक बार पिलाना चाहिए। यदि बालक पचा सके तो पानी का भाग कम किया जा सकता है और ग्लूकोस अथवा चीनी मिलाई जा सकती है। यदि अत्यधिक दुर्बलता के कारण पाचन शक्ति बहुत ही कम हो गई हो तो सर्व प्रथम प्रयत्न यही करना चाहिए कि पाचन शक्ति बढ़ सके।

अधिक वज़न अथवा मोटापा—दुर्बलता रोग है किन्तु मोटापा भी कुछ बहुत अच्छा नहीं होता है। शरीर की आवश्यकता से अधिक भोजन और विशेषतया चर्बी मोटा कर देती है। इसका कारण शारीरिक काम बिलकुल ही न करना और आवश्यकता से अधिक खाना तथा शक्ति का कम होना ही होता है। ऐसी अवस्था में वज़न घटाने के लिए भोजन की कैलोरी का कुछ

कम करना आवश्यक है किन्तु वज़न एक सप्ताह में एक पाउन्ड से अधिक नहीं घटना चाहिए। ऐसा करते हुए भी शरीर के सब ही आवश्यक तत्त्व मिलने ही चाहिए। यहाँ तक कि कुछ बड़ी आयु के बच्चे को तो मक्खन भी मिलता रहना चाहिए।

दस्त और पेचिश—दस्त प्रायः ऊपर के दूध से पलने वाले बच्चों को माता के दूध पर पलने वाले बच्चों की अपेक्षा अधिक होते हैं। दस्तों का कारण दूध की खराबी तो होता ही है अन्य कारण भी हो सकते हैं जैसे कि चर्बी और मिठास का दूध में अधिक होना, ठीक समय पर दूध का न देना, बार-बार दूध देना अथवा बहुत ही कम दूध मिलना, ऐसे दूध का मिलना जिसमें बच्चे के आमाशय को गड़बड़ कर सकने वाले तत्त्व हों जैसे गाय के दूध में रहते हैं आदि आदि। दस्तों में अधिकतर भोजन या तो बिना पचे ही निकल जाता है और या शरीर द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है। ऐसी अवस्था में बच्चे का शरीर भार कम होता जाता है और फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में बच्चा दुर्बल हो जाता है। प्रायः दस्त अथवा पेचिश में भोजन कम देना चाहिये। प्रत्येक आधे घंटे पश्चात् एक चम्मच पानी पिला देना अच्छा रहता है। धीरे-धीरे जल की मात्रा और जल देने का समय बढ़ाया जा सकता है। दूध में पानी अधिक मिला कर देना चाहिए किन्तु ज्यों-ज्यों अवस्था अच्छी होती जाए दूध की मात्रा अधिक और जल की मात्रा कम की जा सकती है। किसी प्रकार का एसिड मिश्रित दूध ऐसी अवस्था में अच्छा रहता है। पहले मक्खन निकाला हुआ अर्थात् स्किम्ड दूध देना ठीक रहेगा और फिर धीरे धीरे सम्पूर्ण दूध दिया जाना चाहिए और फिर चीनी भी मिलाई जा सकती है। पके हुए सेब का रस धीरे-धीरे एक से लेकर चार पाँच छोटे चम्मच तक प्रति दिन देते रहना अच्छा रहता है। पके हुए केले का रस भी थोड़ा-थोड़ा देना अच्छा रहता है किन्तु घर पर सेब का रस निकालना सम्भवतः कुछ सरल रहता है। पके हुए सेब के छोटे-छोटे टुकड़े करके पानी में उबाल कर तथा खूब सफाई से छान कर ठंडा करके वही छना हुआ पानी थोड़ा-थोड़ा करके देना चाहिए। रस का परिमाण बच्चे की आयु के अनुसार कम अथवा

अधिक किया जा सकता है और कितनी बार दिया जाए यह भी बच्चे की आयु के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है।

पेचिश यूँ तो दस्त का ही एक रूप है किन्तु यदि इसमें रक्त, पीप अथवा म्यूकस भी मल में दिखाई दे तो यह अधिक भयंकर भी हो सकती है। प्रायः यह आमायश अथवा आँतों में रोग के कीटाणुओं के पहुँच जाने पर ही होता है। इसमें बालक को भोजन देते रहना अत्यन्त आवश्यक है यद्यपि थोड़ी-थोड़ी सी मात्रा में ही दिया जाना चाहिए क्योंकि पूरा भोजन लेने से पेचिश बढ़ने का डर रहता है। भोजन में चर्बी कम और प्रोटीन अधिक होना चाहिए तथा कार्बोहाइड्रेट भी कुछ होनी ही चाहिए। नन्हे बच्चों को एसिड मिला स्किम्ड दूध दिया जाना ठीक रहता है किन्तु कुछ बड़े बालकों को दाल का पानी आदि भी दिया जा सकता है। ऐसी अवस्था में जल अधिक पिलाना चाहिए और बार-बार देना चाहिए।

कोष्ठबद्धता—कोष्ठबद्धता अर्थात् कब्ज भी ऊपर का दूध पीने वाले बच्चों को तो अकसर ही हो जाती है। गाय के दूध की अपेक्षा माता का दूध बालक का पेट साफ करने की दृष्टि से कहीं अच्छा होता है क्योंकि उसमें कार्बोहाइड्रेट अधिक होते हैं। यदि बालक का मल कष्ट से निकलता है तो उसे कब्ज ही समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में दूध में लैक्टोस मिठास के रूप में कार्बोहाइड्रेट बढ़ा देना चाहिए तथा फलों का, विशेषतया सन्तरे का रस देना चाहिए। बड़े बच्चे को अन्न तथा हरी तरकारियाँ भी दी जा सकती हैं तथा विटामिन 'बी१' भी खमीर आदि के रूप में दी जा सकती है। बड़े बच्चों को अंजीर ताजी अथवा सूखी भिगो कर दी जा सकती है।

अपच—कभी-कभी बालक में कुछ ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं जिनसे जान पड़ता है कि वह अपना भोजन ठीक से पचा नहीं पाता है और शरीर उसे ग्रहण भी नहीं कर पा रहा है। ऐसी अवस्था में बच्चे का पेट बहुत बढ़ जाता है। मल प्रतिदिन बहुत ही अधिक आता है तथा रंग पीला होता है। मल कुछ पतला भी होता है। बालक का वज़न घटता जाता है अथवा बढ़ता नहीं है और वर्षों तक वही वज़न रहता है। शरीर की बाढ़ भी रुक

जाती है। भूख मर जाती है। वमन आती है अथवा लगता है कि आने वाली है। कभी-कभी रक्त की कमी भी हो जाती है।

प्रायः इसका कारण भोजन की गड़बड़ी ही हो सकती है और इसका इलाज भी भोजन ठीक करना ही है। ऐसी अवस्था में अधिक प्रोटीन ही देना चाहिए क्योंकि वह आसानी से पच जाता है और शरीर भी उसे सरलता से ग्रहण कर लेता है। केला भी ऐसी अवस्था में अच्छा खाद्य पदार्थ होता है। प्रोटीन वाला दूध ऐसी अवस्था में देना चाहिए। यदि यह ठीक न पड़े तो मक्खन निकला दूध ही देना चाहिये। इसके अतिरिक्त अंडे की सफेदी, थोड़ा पनीर, लिवर का पानी, मछली के लिवर का तेल, डेक्सट्रोस मिठास, सन्तरे का रस, छना हुआ टमाटर का जूस, आदि भी दिया जा सकता है। भोजन के बीच में देने से डेक्सट्रोस मिठास जल्दी पच जाती है। स्टार्च तो बिलकुल ही नहीं देना चाहिये। जब कुछ लाभ होता दिखाई दे तो प्रोटीन वाले और खाद्य पदार्थ भी धीरे धीरे दिए जा सकते हैं। तत्पश्चात् स्टार्च से पूर्व चर्बी देना आरम्भ करना चाहिये। फिर और भी खाद्य पदार्थ भोजन में सम्मिलित किये जा सकते हैं किन्तु जो भी खाद्य पदार्थ देने आरम्भ जाएँ उन्हें धीरे धीरे थोड़ी सी ही मात्रा में भोजन में सम्मिलित करना आरम्भ करना चाहिए। परहेज़ कुछ अधिक दिन तक रखना चाहिये और मक्खन, मलाई, मलाई की बर्फ, चर्बी, तला हुआ भोजन, आलू, मिठाई आदि तो बहुत दिनों तक नहीं देना चाहिये।

ज्वर आदि—ज्वर आदि में तथा उसके पश्चात् भी एक आध दिन तक भूख नहीं लगती है। ऐसी अवस्था में भोजन न देना ही उचित है किन्तु जल पिलाते रहना चाहिए। उसके पश्चात् भी मूँग की दाल का पानी, बार्ले का पानी, दूध तथा सूप आदि ही देना चाहिये। ज्वर उतरने के बाद धीरे धीरे पूरा भोजन देना आरम्भ कर देना चाहिये किन्तु यदि ज्वर अधिक दिन तक रहा हो तो हलके भोजन से आरम्भ करना चाहिये, किन्तु शरीर की जितनी हानि ज्वर आने से हुई हो उसे पूरा करना आवश्यक होता है।

इनके अतिरिक्त बच्चों को भी प्रायः वे ही सब रोग हो सकते हैं जो

कि बड़े लोगों को होते हैं और प्रायः उनके इलाज भी बड़े लोगों के इलाज के ही आधार पर होते है अतः उन्हें ही थोड़े से फेर बदल से बच्चों के लिए भी प्रयोग में लाया जा सकता है।

भोजन द्वारा इलाज—वस्तुतः भोजन न केवल शरीर को पुष्ट एवं स्वस्थ रखता है वरन ठीक न होने पर रोग भी इसी कारण हो जाते हैं। अतः विशेषज्ञों का ऐसा विचार होता जा रहा है कि प्रायः सब ही रोगों का किसी सीमा तक ठीक भोजन देकर अथवा उस प्रकार का भोजन देकर जिस प्रकार के भोजन की कमी से रोग हुआ है, इलाज किया जा सकता है; अतः भोजन द्वारा इलाज करने का उद्देश्य शरीर के भार को अनावश्यक रूप से न तो घटाना ही है और न बढ़ाना ही। भोजन को इस प्रकार से आयोजित करना चाहिए जिससे कि जिस अंग को कष्ट है उसे विश्राम भी मिल सके जैसे लिवर के रोगों में भोजन में स्निग्धता अथवा चर्बी की मात्रा कम कर दी जाती है ताकि लिवर को विश्राम मिल सके।

भोजन द्वारा इस प्रकार का परिणाम उत्पन्न करना भी भोजन द्वारा चिकित्सा करने का एक उद्देश्य होता है जिससे कि रोग के कारण नष्ट हो सकें। इसी प्रकार यदि कोई रोग किसी भोजन तत्त्व की कमी के कारण उत्पन्न हुआ हो तो उसे भी भोजन को ठीक ढंग से आयोजित करके पूरा किया जा सकता है।

वस्तुतः भोजन को शरीर विशेष की आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। यदि शरीर भार आवश्यकता से अधिक हो और शरीर की शरीर भार ढोने की शक्ति कम हो तो शरीर के भार को कम करने की आवश्यकता होती है अतः भोजन में कैलोरी न्यून कर देना चाहिये। यदि शरीर भार आवश्यकता से अधिक न्यून हो और दुर्बलता जान पड़े तो भोजन में कैलोरी बढ़ा देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भोजन के अन्य प्रमुख तत्त्व जितने साधारण स्वस्थ व्यक्ति को दिए जाने चाहिये उसकी अपेक्षा शरीर विशेष की अवस्था देखते हुए उसके भोजन में घटाये अथवा बढ़ाये जा सकते हैं।

ज्वर, रक्त की न्यूनता, राजयक्ष्मा तथा अन्य ऐसे ही रोगों में, बच्चों के लिए तथा दूध पिलाने वाली माता के लिए प्रोटीन की मात्रा भोजन में साधारण से अधिक होनी चाहिये। कुछ किडनी और लिवर के रोगों में प्रोटीन की मात्रा भोजन में सीमित कर देनी चाहिये। शरीर भार के आवश्यकता से अधिक न्यून होने पर, दुर्बलता में तथा ऐसे ही रोगों में स्निग्धता अथवा चर्बी अधिक दी जानी चाहिये किन्तु शरीर भार अधिक होने पर अथवा मोटापे में, लिवर के रोगों में, कुछ गौल ब्लेडर के रोगों में भोजन में स्निग्धता अथवा चर्बी की मात्रा कम कर देनी चाहिये। स्टार्च और मिठास लिवर और गौलब्लेडर के रोगों में तथा दुर्बलता आदि में साधारण से अधिक ही देना चाहिये। रिकेट तथा दाँतों के कष्टों में कैलशीयम और फौसफरस अधिक देना चाहिये किन्तु प्रकार विशेष के रोग में कैलशीयम कम दिया जाता है। इसी प्रकार नमक की मात्रा भी अवस्था विशेष में न्यूनाधिक होती है। रक्त की कमी आदि से सम्बन्धित रोगों में आयरन अधिक दिया जाता है। इसी प्रकार कुछ एक रोगों में विटामिन विशेष की मात्रा बढ़ा दी जाती है जैसे रतौंधी तथा कुछ मूत्र रोगों में विटामिन 'ए' अधिक देना चाहिये। बेरी बेरी आदि में विटामिन 'बी' देना चाहिये। पाचन के रोगों में विटामिन 'बी जटिल' अधिक देना चाहिये। सकर्वी आदि में विटामिन 'सी' और रिकेट आदि में विटामिन 'डी' की अधिक आवश्यकता होती है। कुछ रोगों में अधिक जल पीने की आवश्यकता पड़ती है। टाइफाइड ज्वर, गैस्ट्रो इन्टस्टीनल ट्रेक्ट के आपरेशन के पश्चात् तथा इसी प्रकार की अन्य अवस्थाओं में फाइबर नहीं देना चाहिए, किन्तु कोष्ठबद्धता में फाइबर की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यदि किसी व्यक्ति विशेष को किसी विशेष प्रकार का भोजन ठीक नहीं पड़ता है तो उसे वह खाद्य-पदार्थ नहीं खाना चाहिए।

प्रायः रोगी के लिए तीन प्रकार से भोजन तैयार किया जाता है। हलका भोजन, नरम भोजन, तरल भोजन। हलका भोजन प्रायः साधारण भोजन ही होता है जो कि इस प्रकार से पकाया गया होना चाहिए जिससे कि अपेक्षाकृत शीघ्र ही पच सके। इसमें किसी भी प्रकार के मिर्च, मसाले, घी आदि की

अधिकता तथा तली हुई वस्तुएँ नहीं होनी चाहिए। मिठाई, कच्ची सब्जियाँ आदि भी नहीं देनी चाहिए। मांस भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का भोजन साधारण बीमारियों में जब तक कि रोगी प्रतिदिन का भोजन नहीं कर पाता है, दिया जाता है। इसमें नरम भोजन और तरल भोजन की सब ही वस्तुएँ सम्मिलित की जा सकती हैं।

नरम भोजन में प्रायः अर्द्धतरल और तरल वस्तुएँ सम्मिलित की जाती है। यह कुछ अधिक रोगावस्था में और विशेषतया जब कि पाचन क्रिया ठीक न हो दिया जाता है। इसमें दूध, तरकारियों का पानी, फलों का रस, बार्ले का पानी, भली प्रकार पकी हुई तरकारियाँ आदि दी जाती हैं।

तरल भोजन में केवल रस आदि ही दिए जाते हैं। यह शीघ्र ही पच जाता है तथा शरीर द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसमें फटे दूध का पानी, एलब्यूमन का पानी, फलों का रस, लेमनेड, सोडा, चाय, काफी आदि दिया जाता है। प्रायः पाचन सम्बन्धी रोगों तथा देर तक किसी भी रोग में शय्या पर पड़े रहने के पश्चात् तरल भोजन ही दिया जाता है। यदि आवश्यकता हो तो दूध आदि के द्वारा इस प्रकार के भोजन में भी पुष्टिकर तत्त्व बढ़ाए जा सकते हैं। इस प्रकार का भोजन दो अथवा तीन तीन घंटे बाद थोड़ा-थोड़ा ६ से ले कर ८ आउन्स तक दिया जाता है। धीरे धीरे रोग अच्छा होने के साथ साथ तरल भोजन से रोगी को नरम भोजन और फिर हलके भोजन पर लाया जाता है। और फिर साधारण अर्थात् सम्पूर्ण भोजन तक रोगी पहुँच सकता है।

साधारण रोगों में जब कि रोगी को सम्पूर्ण भोजन दिया जाता है तब भी यद्यपि फल, अन्न, तरकारियाँ, चाय, काफी, शरबत, लस्सी आदि तो दिया ही जा सकता है इसके साथ ही साथ मांस, मछली, मुर्गी आदि भी दे सकते हैं; केवल मसाले और घी अधिक नहीं होना चाहिए। अंडे भी दिए जा सकते हैं, किन्तु तले हुए रूप में नहीं होना चाहिए। दूध और पनीर तो दे ही सकते हैं किन्तु खोया आदि न देना ही अच्छा है।

हलके भोजन में रस वाले फल दिए जा सकते हैं किन्तु अन्य फल सेब आदि स्टू के रूप में अथवा गला कर ही देने चाहिए। अन्न अच्छी प्रकार

गला कर ही दिए जा सकते हैं। रोटी की अपेक्षा दलिया अथवा खिचड़ी आदि ही अच्छी रहती हैं। दाल यदि दी जाए तो केवल मूँग की धुली हुई दाल अच्छी तरह गला और मिला कर देनी चाहिए। टमाटर आदि का सूप दिया जा सकता है। दूध, पनीर, मक्खन आदि उचित मात्रा में दिया जा सकता है। पकी हुई तथा अच्छी तरह गली हुई तरकारियाँ, सलाद, आलू, पके फल, चाय, काफी, फिरनी, कस्टर्ड आदि दी जा सकती है।

नरम भोजन में फलों और तरकारियों के जूस, सूप तथा फलों के स्टू आदि दिए जा सकते हैं। दाल का तथा जौ का पानी, पतला दलिया अथवा बहुत पतली खिचड़ी, दूध, पनीर, आदि दिया जा सकता है।

तरल भोजन में फलों का रस, दूध, दाल का पानी, कोको, फटे दूध का पानी, एलब्यूमन का पानी आदि दिया जा सकता है। चाय अथवा काफी भी दी जा सकती है। दूध तो सम्पूर्ण भोजन होता ही है। यदि दिन भर में तीन गिलास दूध पी लिया जाए तो इसका अर्थ होगा लगभग ६०० ग्राम मिलना जिसमें से २१० प्रोटीन, २३४ चर्बी और २६४ कार्बोहाइड्रेट का भी भाग होगा। इसी प्रकार अन्य खाद्य वस्तुओं में होने वाले भोजन के प्रमुख तत्त्वों का पता लगा कर डाक्टर के आदेशानुसार रोगी को प्रमुख तत्त्वों के हिसाब से भोजन देना चाहिए।

रोगी के लिए उचित मात्रा में उचित भोजन स्वच्छता से तैयार कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता है। उसे रोगी को खिला सकना बनाने से भी अधिक कठिन और आवश्यक कार्य है। रोगी चिड़चिड़ा तो हो ही जाता है कभी कभी उसे न खाने की ज़िद भी हो जाती है और वह समझता है कि जो उसके लिए हितकर है उसका सबसे अधिक ज्ञान उसी को है अतः उसे किसी की बात मानने की आवश्यकता नहीं है। कुछ रोगी इस लिए नहीं खाते कि भूख नहीं है और कुछ मुँह का स्वाद खराब होने के कारण नहीं खाते और कुछ इच्छा न होने के कारण नहीं खाते। ऐसी अवस्था में भोजन खिलाने वाली स्त्री अथवा परिचारिका को रोगी के मनोविज्ञान को समझ कर ही चलना चाहिए। रोगी को राजी करके भोजन कराना, डाँटने आदि से कहीं अच्छा है। भोजन ऐसे

रूप में दिया जाना चाहिए जो कि हानिकर न होते हुए भी रोगी की व्यक्तिगत रुचि के अनुरूप हो और रोगी के पास ले जाना भी उसी ढंग से चाहिए जो कि उसे पसन्द हो।

ज्वर आदि तथा श्वास सम्बन्धी रोगों में भोजन—विभिन्न अवस्थाओं में साधारण भोजन को विभिन्न उद्देश्य सम्मुख रख कर परिवर्तित रूप देना पड़ता है। उदाहरणार्थ—थोड़े समय के ज्वर, न्यूमोनिया आदि में भोजन को इस ढंग से परिवर्तित करना चाहिए जिससे कि आमाशय और पाचन क्रिया से सम्बन्धित अंगों में कुछ गड़बड़ी तथा जलन आदि न हो तथा अनावश्यक एसिड, वायु आदि न उत्पन्न हो। कुछ अधिक देर तक चलने वाले टाईफाइफ आदि ज्वरों में भोजन में इस प्रकार से परिवर्तन किया जाना चाहिए कि वह शक्ति-ह्रास पूरा हो सके जो कि ज्वर में ताप अधिक होने के कारण होता है तथा जिन अंगों में रोग कीटाणुओं का प्रवेश हो चुकता है उनमें किसी प्रकार की गड़बड़ी के कारण और कष्ट न हो। और भी अधिक देर तक रहने वाले ज्वर जैसे राजयक्ष्मा तथा अन्य इसी प्रकार की छूत लगने पर होने वाली ज्वर सम्बन्धी बीमारियों में भोजन ऐसा होना चाहिए जो कि रोगी के शरीर भार को कम न होने दे तथा प्रोटीन, मिनरल, विटामिन आदि को भी शरीर में उचित मात्रा में बनाए रखे।

ज्वर उस अवस्था में होता है जब कि शरीर में उष्णता अधिक उत्पन्न होने लगती है अथवा उसके बाहर निकलने के उपाय कम हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में शरीर का ताप बढ़ जाता है और शरीर अधिक उष्ण होने के कारण बेचैनी और कष्ट बढ़ जाता है।

थोड़े समय में ही तेज़ ज्वर होने के कई कारण हो सकते हैं जैसे—शरीर में रोग कीटाणुओं का प्रवेश, टिश्शू प्रोटीन का नष्ट होना, शरीर में जल का सन्तुलन गड़बड़ा जाना आदि आदि। फलस्वरूप पाचन-क्रिया भी गड़बड़ हो जाती है। यूँ तो ऐसी अवस्था में शरीर में कैलोरी और प्रोटीन अधिक पहुँचाना चाहिए। किन्तु इस ज्वर की अवधि थोड़ी ही होती है अतः पाचन यन्त्र के काम को अधिक बढाना ठीक नहीं है। अतः ऐसी अवस्था में भोजन

ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रोटीन की मात्रा कुछ अधिक ही हो किन्तु सरलता से पच जाए। भोजन थोड़ी देर-देर बाद और थोड़ा-थोड़ा-सा ही देना चाहिए। जल भी पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए। जल की मात्रा अधिक होना ही ठीक है। ऐसे ज्वरों की अवस्था में तरल भोजन देना ही ठीक होता है क्योंकि एक तो यह शीघ्र ही पच जाता है और दूसरे इसमें जल की मात्रा भी कुछ अधिक ही होती है। अधिक जल रोग कीटाणुओं के प्रवेश से उत्पन्न टोक्सीन (toxine) के प्रभाव को कम करता है। फलों के रस जैसे सन्तरा, अनानास, अंगूर, अनार, टमाटर आदि देना ठीक है। नीबू का शरबत अर्थात् शिकंज-बीन भी अच्छी रहती है विशेषतया मलेरिया ज्वर में तो यह और भी अधिक हित कर होती है। लेमोनेड, दूध सोडा आदि भी दिया जा सकता है। शरबत, दूध आदि में मीठा बहुत अधिक नहीं डालना चाहिए क्योंकि इससे भूख कम हो जाती है। दूध तो रोगी के लिए सर्वोत्तम भोजन होता है। दो-दो घंटे पश्चात् भोजन देना अच्छा रहता है। कुछ ठीक होने पर तरकारियों का सूप, मूँग की दाल का पानी, मूँग की दाल, पतला दलिया अथवा खिचड़ी भी दी जा सकती है। सर्व प्रथम तरल भोजन देना चाहिए। तत्पश्चात् नरम भोजन फिर हलका भोजन और फिर धीरे-धीरे साधारण दैनिक भोजन दिया जा सकता है। यदि रोगी दुर्बल हो गया हो और उसका शरीर भार कम हो गया हो तो वह जैसे ही ठीक हो जाए और पचाने योग्य हो जाए उसे कुछ अधिक कैलोरी सहित खाद्य वस्तुएँ देना आरम्भ कर देना चाहिए ताकि वह अपनी पूर्वावस्था में आ जाए।

कुछ अधिक समय तक चलने वाले ज्वर अपना समय लेकर ही उतरते हैं जैसे कि टाइफाईड ज्वर। यह ज्वर तो विशेष रोग कीटाणुओं के आँतों में जाने से ही होता है। ये रोग कीटाणु दूध, पानी, बर्फ अथवा इसी प्रकार की खाद्य वस्तुओं के साथ मिल कर शरीर के भीतर चले जाते हैं। इस ज्वर में तापमान अधिक हो जाता है। कभी-कभी प्रारम्भ तो थोड़े ही ताप से होता है और धीरे-धीरे दूसरे और तीसरे सप्ताह में बहुत अधिक हो जाता है। कभी दस्त और कभी कब्ज हो जाता है। इस ज्वर में आँतों के एक विशेष भाग में घाव हो

जाते हैं और सूजन भी हो जाती है। कभी-कभी तो दस्तों में रक्त भी आने लगता है। इस ज्वर में भोजन, चिकित्सा और परिचर्या का अत्यधिक महत्त्व है। इस ज्वर में पूर्णतया विश्राम के अतिरिक्त भोजन तरल तथा अत्यधिक नरम होना चाहिए। भोजन में किसी भी प्रकार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं होना चाहिए जिससे तनिक सी भी प्रतिक्रिया हो। ज्वर अधिक दिन तक रहता है अतः शरीर की शक्ति को बहुत कम कर देता है ऐसी अवस्था में भोजन तरल होते हुए भी अधिक कैलोरी सहित होना चाहिये ताकि शरीर अत्यधिक दुर्बल न हो पाये। यदि किसी प्रकार ३००० से ४००० तक कैलोरी प्रतिदिन ली जा सकें तो बहुत ही अच्छा हो। यदि ३००० कैलोरी प्रति दिन भी ली जा सकें तो ठीक ही है। भोजन में प्रोटीन भी अधिक रहना चाहिये। प्रतिदिन ६० ग्राम प्रोटीन तो अवश्य ही शरीर को मिलना चाहिये। किन्तु १०० ग्राम से अधिक प्रोटीन नहीं देना चाहिये। दूध के द्वारा प्रोटीन दी जा सकती है। अंडे खाने वाले को अंडे भी दे सकते हैं। लगभग २५० से ४०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट भी मिलनी चाहिये। लेक्टोस मिठास दी जा सकती है। यद्यपि कभी कभी कार्बोहाइड्रेट की बहुतायत से गैस भी बन सकती है। १०० से २०० ग्राम तक चर्बी भी होनी चाहिये किन्तु यह ऐसे रूप में दी जानी चाहिये जो कि शीघ्र ही पच सके। जल अधिक देना चाहिये भले ही यह फटे दूध के पानी, बार्ले के पानी, फलों के रस आदि के रूप में ही दिया जाए। अधिक जल पीने से किडनी अपना काम सरलता से कर पायेगी। भोजन ठीक समय पर बार बार और थोड़ा थोड़ा ही देना चाहिये। यद्यपि इस प्रकार के ज्वर में ऐसा भोजन दिया जाना चाहिये जिसमें अधिक कैलोरी हों किन्तु आरम्भ बहुत ही हलके तरल भोजन से कर के धीरे धीरे अधिक कैलोरी वाले भोजन की ओर ले जाना चाहिये। प्रातः चार बजे से लेकर रात के ८ बजे तक प्रायः दो दो घंटे पश्चात् एक गिलास फलों का रस अथवा दूध और एक छोटा चम्मच चीनी या लेक्टोस देते रहना चाहिये। इस प्रकार लगभग ४ छोटे गिलास फलों का रस और पाँच या ६ छोटे गिलास दूध दिया जाना चाहिये। क्रीम भी छटाँक, डेढ़ छटाँक दी जानी चाहिये। भली प्रकार गला कर पकाई हुई तरकारियाँ तथा २ या ३ अंडे भी

दिये जा सकते हैं। रात्रि को भी एक बार दूध और अंडा आदि दिया जा सकता है। वस्तुतः ये खाद्य वस्तुएँ रोगी की अवस्था और कुछ कुछ इच्छा एवं रुचि के अनुरूप परिवर्तित करके ही देनी चाहिये। जो वस्तु शरीर स्वीकार न करे उसे बदल देना चाहिये। धीरे धीरे भोजन की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। ज्यों ज्यों रोगी स्वस्थ होता जाए भोजन देने के समयों की संख्या कम और प्रति बार के भोजन की मात्रा कुछ बढ़ाई जा सकती है।

प्रतिदिन दोपहर को हलका सा ज्वर आ जाना और महीनों तक आते रहना राजयक्ष्मा अथवा तपेदिक का लक्षण हो सकता है। ऐसी अवस्था में डाक्टर को अवश्य दिखा लेना चाहिये। राजयक्ष्मा अथवा तपेदिक एक भयंकर बहुत देर तक रहने वाला रोग माना जाता है। इसकी छूत ट्यूबरकल बसीलस (tubercle bacillus) से होती है। यूँ तो यह शरीर के किसी भी भाग के टिश्शू पर प्रभाव डाल सकती है किन्तु इससे अधिकतर लंग्स (फेफड़े) ही प्रभावित होते हैं। साधारणतया इस रोग के रोगी को हलका ज्वर आता है तथा खांसी भी होती है। वज़न और शक्ति घटती जाती है।

वस्तुतः इस रोग की सबसे बड़ी चिकित्सा अच्छा भोजन मिलना ही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विभिन्न विचार रहे और विभिन्न ढंग पर अनुसन्धान भी होते रहे किन्तु साधारणतया यह कहना उचित ही होगा कि ऐसा भोजन होना चाहिये जिसमें कि शरीर के भार को एक सा बनाए रखने योग्य कैलोरी हों; किन्तु यह शरीर भार साधारण से तनिक सा अधिक ही होना चाहिये। इस प्रकार कैलोरी लगभग २५०० और ३००० के बीच में होनी चाहिये। इस प्रकार के रोगी को प्रोटीन की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती है कितनी टाइफाइड के रोगी को किन्तु विटामिन 'सी' की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यूँ तो यह इन्जेक्शन के द्वारा भी दी जा सकती है किन्तु भोजन में भी इसकी मात्रा कुछ अधिक ही होनी चाहिये। विटामिन 'बी' और 'डी' कुछ अधिक ही होनी चाहिये। इस रोग में सबसे अच्छा भोजन तो दूध है। दूध, दही, लस्सी आदि सभी रूपों में दूध इस प्रकार के रोगी को दिया जाना चाहिये। आमिषभोजियों को अंडे भी इस प्रकार पका कर देने चाहिये कि शीघ्र ही पच सकें। स्निग्धता

भी क्रीम, मलाई, मक्खन, अंडे की ज़र्दी आदि के रूप में देनी चाहिये। फल और जल्दी पचने वाली तरकारियाँ भी दी जा सकती हैं। यदि कब्ज़ रहती हो तो सन्तरे आदि का जूस तथा अन्य तरकारियाँ और ऐसी वस्तुएँ देनी चाहिये जिनसे कि पेट स्वच्छ रह सके। ऐसे रोगी को भूख स्वभावतः कम लगती है अतः भोजन बहुत ही रुचिकर तथा अदल बदल कर ही देना चाहिये ताकि रोगी की रुचि बनी रहे।

पाचन क्रिया सम्बन्धी रोगों में भोजन—इस प्रकार के रोगों को दो भागों में बाँटा सकता है। कुछ तो इस प्रकार के रोगों का सम्बन्ध पाचन-संस्थान और उसके अंगों से होता है, किन्तु अन्य कुछ रोगों का संबंध उन अंगों की क्रियाओं से होता है। पहले प्रकार के रोग अल्सर (ulcer) और कैन्सर (Cancer) आदि होते हैं और दूसरे प्रकार के रोगों में पाचन पर नर्वस का नियन्त्रण कम हो जाता है। आमाशय में तो चबाया हुआ भोजन आता है जिसे कि यहाँ पर मथा जाता है और गैस्ट्रिक जूस के साथ मिलाया जाता है और शरीर जो कुछ ग्रहण कर अथवा चूस पाता है ले लेता है। शेष भाग बाहर फेंक दिया जाता है। पाचन क्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसे कि स्नायु-संस्थान (Nervous System) नियन्त्रित करता है। इस प्रक्रिया में कहीं भी खराबी होने से पाचन क्रिया गड़बड़ा जाती है। गैस्ट्रिक अथवा पाचन सम्बन्धी रोग वस्तुतः बहुत से कारणों से हो सकते हैं। अपेन्डे-साइटीस की खराबी, गौलब्लेडर के रोग, आँतों की राजयक्ष्मा आदि अनेक रोग पाचनक्रिया में दोष उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार का कष्ट होने पर तुरन्त ही डाक्टर को दिखा कर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि कौन सा रोग है अथवा इस प्रकार के कष्ट का कारण क्या है? ऐसा कराने के लिए कई प्रकार के परीक्षण किये जाते हैं।

अपच (Dyspepsia) के अनेकों कारण हो सकते हैं। इनमें से प्रमुख हैं खाद्य पदार्थों का गलत चुनाव, आवश्यकता से अधिक अथवा न्यून भोजन करना, जल्दी जल्दी बिना ठीक से चबाए हुए खाना खाना, भोजन को ठीक ढंग से न पकाना, थकान, मानसिक कष्ट, चिन्ता, किसी भी प्रकार की

मानसिक थकान, किसी भी प्रकार की भावनाओं सम्बन्धी उत्तेजना अथवा थकान, व्यायाम की कमी, कुछेक खाद्य पदार्थों का ठीक न बैठना। अधिकतर अपच रोगों का प्रमुख कारण खाद्य पदार्थों का ठीक चुनाव न होना ही होता है। आवश्यकता से अधिक स्निग्धता गैस्ट्रिक जूस को ले लेती है और इस प्रकार भोजन के पचने में अनावश्यक देर लगती है और पाचन संस्थान में भी अन्य अहितकर परिवर्तन होते हैं। तले हुए खाद्य पदार्थ, मिठाइयाँ, काजू, मूँगफली, मक्खन, घी, तेल आदि अधिक ले लेने पर हानिकर होते हैं। पाचन क्रिया में अधिक घी, मसाले, चीनी आदि लिए हुए खाद्य पदार्थ हितकर सिद्ध नहीं होते हैं। खाली पेट अधिक चीनी अथवा मिठाइयाँ खाना भी अहितकर होता है। मांस भी पाचन क्रिया में अहितकर सिद्ध हो सकता है। कुछ फल और तरकारियाँ भी कठिनता से पचती हैं। कटहल आदि इसी प्रकार की तरकारियाँ हैं। गैस्ट्रिक जूस आदि की एसिडिटी बढ़ाने वाले पदार्थ कष्टदायक हो सकते हैं।

एक समय में अधिक खा लेना अथवा सारे दिन में अधिक खा जाना ठीक नहीं है। इसी प्रकार स्वादिष्ट लगने के कारण किसी एक ही खाद्य वस्तु का अधिक परिमाण में खा जाना अथवा बहुत अधिक पकी हुई अथवा बहुत कम पकी हुई स्टार्च वाली खाद्य वस्तुओं का खाना अथवा कम चबाये हुए खाना अथवा तली हुई वस्तुओं का खाना पाचन क्रिया को गड़बड़ कर देता है।

भोजन करते समय शरीर पर अथवा मन पर किसी प्रकार की चिन्ता, गम्भीर विचार, समस्या के हल खोजने, भावात्मक उत्तेजना, घबराहट, थकान आदि का भार नहीं होना चाहिये। यदि किसी भी प्रकार से इस प्रकार के भार हटाए न जा सकें तो उस समय एक तो भोजन करना ही नहीं चाहिये, करना यदि अत्यन्त आवश्यक हो तो भोजन बहुत हलका और शीघ्र ही पचने वाला तथा थोड़ी मात्रा में खाना चाहिये। व्यायाम अथवा शारीरिक परिश्रम न करने से भी पाचन शक्ति न्यून हो जाती है।

यूँ तो पेट में वायु होना किसी न किसी रूप में अपच ही की ओर संकेत करता है किन्तु इसके कारण अनेकों हो सकते हैं और कारण का पता

लगा कर ही उसकी चिकित्सा करना तथा उनके अनुसार ही भोजन सन्तुलित करना आवश्यक है, किन्तु साधारणतया अपच तथा मन्दाग्नि अर्थात् भूख कम लगने लगती है। प्रोटीन प्रायः देर में पचता है और अधपचा देर तक रहने से सड़ता तथा विकार उत्पन्न करता है उससे भी वायु बन सकती है। दुर्बल पाचन शक्ति वाले व्यक्तियों को केवल उत्तम प्रोटीन खाने चाहिये और वह भी न्यून मात्रा में। वसा अथवा स्निग्धता भी देर में पचती है अतः भोजन में कार्बोहाइड्रेट ही अधिक होनी चाहिये किन्तु इसके लिये भी विटामिन 'बी जटिल' की आवश्यकता होती है। इसके लिये खमीर खाना बहुत अच्छा होता है। अपच की अवस्था में व्यायाम करना आरम्भ कर देना चाहिए तथा दाँतों की स्वच्छता का बहुत ध्यान रखना चाहिये। भोजन भली प्रकार चबा कर धीरे-धीरे करना चाहिये। भोजन निश्चित समय पर किया जाये और दो समय के भोजनों के बीच पर्याप्त समय रहना चाहिये तथा रात्रि में सोने से कम से कम तीन घंटे पूर्व भोजन कर लेना चाहिये। बहुत गरम, गरिष्ठ, बासी और दुबारा गरम किए गये भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन साधारण होना चाहिये। खमीर, मठा, दूध और साग तरकारियाँ अधिक खाना चाहिए तथा अन्न, मांस, घी, तेल आदि कम कर देना चाहिये। फल विशेषतया सन्तरा, नीबू, सेब आदि अच्छे रहते हैं। टमाटर भी लाभदायक होता है। पपीता बहुत लाभदायक होता है। भोजन से आधे घंटे पूर्व एक गिलास कुनकुना पानी पीना अच्छा रहता है। दिन भर न खाने के पश्चात् अथवा व्रत के बाद तुरन्त पेट भर कर भोजन नहीं करना चाहिये तथा दूध, मठा आदि कोई हलकी खाद्य वस्तु पहले लेनी चाहिये।

एसिडिटी की मात्रा अधिक हो जाने पर कष्ट होता है। ऐसी अवस्था में तली हुई वस्तुएँ तो नहीं खानी चाहिए किन्तु मक्खन और क्रीम खाई जा सकती है। प्रोटीन प्रायः पच जाती है किन्तु मिठाई, सिरका, मिर्च आदि नहीं खाना चाहिए। कभी-कभी फलों के रस भी हानि पहुँचाते हैं। मसाला आदि भी कम खाना चाहिए। खाना साधारणतया भली प्रकार पका हुआ होना चाहिए। ऐसी अवस्था में शारीरिक और मानसिक विश्राम पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए।

नमक भी थोड़ा ही लेना चाहिये। खाना भी कम मात्रा में खाना अच्छा रहता है।

बहुत दिनों तक पाचन-क्रिया में लगातार गड़बड़ी रहने से भली प्रकार दिखा लेना आवश्यक है क्योंकि कभी-कभी इसका कारण पेट में अथवा पाचन संस्थान के निचले भागों में अल्सर (घाव) हो जाना भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में भोजन ही एकमात्र चिकित्सा का रूप नहीं होता है किन्तु भोजन रोग की अवस्था आदि के अनुसार ठीक किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में डाक्टर के आदेशानुसार ही खाद्य-पदार्थ दिए जा सकते हैं; किन्तु प्रायः उसी प्रकार से दिए जाते हैं जैसे कि अपच की अवस्था में।

कोष्ठबद्धता अथवा कब्ज अधिकतर शारीरिक श्रम न्यून और मस्तिष्क से अधिक काम करने वाले लोगों को हो जाता है। इसके अन्य कारण चिन्ता रहना, स्नायुओं पर किसी भी कारण से जोर पड़ना, भोजन का बहुत बारीक पौलिश आदि वाले पदार्थों से बना होना आदि आदि होते हैं। तीन तरह की कोष्ठबद्धता होती है। ऐटोनिक (atonic), स्पास्टिक (spestic) और ओबस्ट्रक्टिव (olstructive)।

लम्बे रोग के पश्चात् , गर्भवती स्त्री होने से, शरीर का भार अधिक होने से, भोजन का ठीक चुनाव न होने से, बिटामिन 'बी$_1$' की न्यूनता होने से, आपरेशन होने पर, भोजन का निश्चित समय न होने से, मानसिक क्लेश होने से तथा जल कम पीने से एटोनिक प्रकार का कब्ज हो सकता है। एक और भी कारण होता है और वह है जिस समय आवश्यकता प्रतीत हो उस समय मल को बरबस रोक लेना। इस प्रकार करने से दूसरी बार मल कठिनाई से निकलता है।

प्रायः कम से कम एक बार दिन भर और रात भर में मल निकलना चाहिये; किन्तु यदि किसी दिन न निकले तो उतनी चिन्ता की बात नहीं है विशेषतया उस अवस्था में जब कि उससे पहले दिन भोजन कम किया गया हो किन्तु यदि मल त्याग न होने के साथ-साथ सिर में दर्द, जिह्वा का मैला होना, जी घबराना आदि भी हों तो ऐनिमा ले लेना अच्छा है। कष्ट कम हो तो

ईसबगोल की भूसी ले लेना अच्छा रहता है। मुनक्का, अंजीर, हरड़ का मुरब्बा आदि भी ऐसी अवस्था में अच्छे रहते हैं। यदि प्रथम दो वस्तुएँ ली जाएँ तो अधिक मात्रा में भी ली जा सकती हैं किन्तु अन्तिम वस्तु एक या दो से अधिक नहीं लेनी चाहिये। अधिक कष्ट होने पर कभी-कभी कैस्टर आयल भी लिया जा सकता है किन्तु यदि सुविधा हो तो एनिमा ले लेना सब से अच्छा है।

साधारणतया ऐसी अवस्था में भोजन में अधिक स्निग्धता, विटामिन, एसिड तथा पानी की मात्रा बढ़ा देना अच्छा रहता है। तरकारियाँ, गेहूँ का चोकर आदि लेना भी अच्छा होता है। फल, अंजीर, अंगूर, खजूर, सेब, सन्तरा आदि लेना तो अच्छा रहता ही है खमीर और चोकर आदि बहुत हितकर होते हैं। मठा भी बहुत अच्छा रहता है। व्यायाम, ठीक से बैठना तथा पेट की ठीक से मालिश करना भी हितकर होता है। जुलाब डाक्टर से पूछे बिना नहीं लेना चाहिये।

दूसरे प्रकार की अर्थात् स्पास्टिक कोष्ठबद्धता में कुछ दर्द भी होता है। प्रायः पेट के बाईं ओर नीचे दर्द होता है और मल थोड़ा पतला-सा अथवा थोड़ा-थोड़ा सख्त आता है। इस प्रकार के कब्ज में केवल नरम सेल्यूलोस देने चाहिये। कभी-कभी तो ऐसे भोजन से चिकित्सा आरम्भ करनी होती है जिसमें थोड़ा-सा अथवा बिलकुल सेल्यूलोस नहीं होता है, जैसे कि दूध, अंडे, फलों के रस विशेषतया सन्तरे का रस और फिर धीरे-धीरे तरकारियाँ, फल और अन्नादि भी भोजन में सम्मिलित किये जा सकते हैं। लेक्टोस अथवा डेक्सट्रोमाल्टोस मिला हुआ दूध भी अच्छा होता है। स्निग्धता और तेल आदि भी दिये जाते हैं। चिकित्सा के पश्चात् भोजन धीरे-धीरे साधारण योजना पर लाना चाहिये।

ओबस्ट्रक्टिव कब्ज में अल्सर अथवा ट्यूमर के कारण मल रुक जाता है। इसकी चिकित्सा तो ओपरेशन द्वारा ही होती है किन्तु भोजन प्रायः स्पास्टिक कब्ज का सा ही दिया जा सकता है अथवा जैसा डाक्टर का आदेश हो वैसा ही दिया जाना चाहिये।

दस्त में कोष्ठबद्धता से ठीक उल्टा होता है अर्थात् बार बार मल त्याग

करना पड़ता है किन्तु प्रत्येक बार मल बहुत ही पतला होता है। इस अवस्था में भोजन पच नहीं पाता है और असाधारण तेज़ी से निकलता जाता है। सारा अनपचा भोजन एक ही बार में न निकल कर बार बार निकलता है। यूँ तो दस्त अनेकों कारणों से आने लगते हैं किन्तु प्रमुख कारण हैं खराब अर्थात् सड़ा हुआ और गन्दा भोजन करना, स्टार्च का बिना पचे हुए अथवा अधपचे रूप में आँतों में पड़ा रहना, कब्ज़ अर्थात् मल का देर तक आँतों में ही पड़े सड़ते रहना, क्लोम सम्बन्धी गड़बड़ी, स्नायु में गड़बड़ी, विषैली खाद्य वस्तुओं का खाना, किसी प्रकार रोग कीटाणुओं का प्रवेश, अल्सर का प्रभाव आदि आदि।

जिस प्रकार आमाशय एवं पाचन संस्थान के रोगों का पता लगाने के लिए परीक्षण-भोजन दिये जाते हैं उसी प्रकार पाचन संस्थान की शक्ति जाँचने के लिये भी विभिन्न परीक्षण-भोजन दिये जाते हैं। कभी कभी तो मक्खन, नरम पकाया हुआ अंडा, मांस, मछली, मुर्गी का बच्चा, कुचली एवं पकाई हुई तरकारियाँ, आलू, चाय, पका कर फल आदि दिये जाते हैं तथा कच्चे फल और तरकारियाँ, दूध, नमक के अतिरिक्त अन्य मसाले आदि नहीं दिये जाते हैं किन्तु दूसरी ओर कभी कभी दूध, पनीर, मक्खन, क्रीम, अंडा, पके हुए अन्न जैसे दलिया, चावल, सूप, सादा आइसक्रीम, चाय आदि दिया जाता है किन्तु तरकारियाँ नहीं दी जाती हैं। यदि दस्त अधिक दिन तक रहें तो विटामिन 'बी$_1$' लेना चाहिये। साधारणतया दस्त आने पर दही और चावल खाना अच्छा रहता है। ईसबगोल की भूसी भी दही के साथ अथवा लस्सी या मठे के साथ लेना ठीक रहता है।

दस्त से बिगड़ कर आँव भी हो सकती है। इसमें मल त्याग करते हुए तथा उसके पश्चात् पेट में ऐंठन होती है। प्रायः यह रोग मैदे की रोटी, सफेद चावल, अधिक घी, अधिक चीनी, मिठाइयाँ, अधिक मांस, अधिक पका दूध और तरकारियाँ खाने से हो जाता है। कभी कभी तो आँव में रक्त भी आने लगता है। इसमें भी ईसबगोल और दही अथवा मठा हितकर होता है। पुरानी आँव के लिये तो मठा अत्यन्त लाभकारी होता है। साधारणतया भोजन बहुत

ही हलका होना चाहिये।

लिवर अथवा यकृत के रोग भी अपच से मिलते जुलते रोगों में गिने जा सकते हैं क्योंकि पाचन क्रिया में लिवर का भी बहुत महत्त्व होता है। यह बाइल अथवा पित्त उत्पन्न करता है जो कि कई छोटी नलियों द्वारा गौल ब्लेडर में आ कर एकत्रित होता है। पित्त क्लोम से उत्पन्न रस के साथ मिल कर स्निग्धता को पचाने में सहायता करता है। बचे हुए अथवा व्यर्थ पदार्थों को लिवर से हटाता है और आँतों को भी सुरक्षित रखता है। प्रोटीन को भी पचाने में लिवर सहायक होता है। इसमें स्निग्धता जमा भी रहती है जो कि आवश्यकता पड़ने पर उपयोग में लाई जाती है। यह मिठास को गलाइकोजन के रूप में परिवर्तित करता है और जब तक आवश्यकता नहीं होती है जमा रखता है। आयरन और विटामिन को भी जमा रखता है।

लिवर के रोगों का पता लगाने के लिये रक्त और मूत्र का रासायनिक विश्लेषण होना आवश्यक है।

पीलिहा कई प्रकार के पित्तसंस्थान से सम्बन्धित रोगों का प्रधान लक्षण होता है। पीलिहा तीन प्रकार का होता है। एक तो वह होता है जिसमें कि पित्त का बहाव किसी कारण से कहीं रुक जाता है। इसका कारण पित्त संस्थान में कहीं सूजन हो जाना भी हो सकता है। पित्त की कमी से पाचनक्रिया और शरीर में भोजनांश पहुँचना भी रुक जाता है। पित्त दूसरी ओर रक्त में बहुतायत से जाने लगता है और इसी कारण शरीर में पीलापन दिखाई देने लगता है जो कि पहले आँखों की सफेदी में और छाती में दिखाई देता है।

दूसरे प्रकार का पीलिहा अधिक भोजन करने से अथवा भोजन की गलत चुनाव प्रणाली अथवा कब्ज़ का फल होता है। तीसरे प्रकार के पीलिहा में जो कि अन्य शारीरिक दोषों के कारण से हो सकता है पाचन के अतिरिक्त भी अन्य कष्ट हो सकते हैं। यकृत अथवा लिवर के रोगों में भोजन चिकित्सा अत्यधिक महत्त्व रखती है। किसी भी प्रकार का लिवर का रोग हो भोजन चिकित्सा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रायः एक ही ढंग से की जाती

है। इस प्रकार के रोग में कार्बोहाइड्रेट अच्छी मात्रा में देने चाहिये क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये लिवर में सुरक्षा का कार्य करते हैं। प्रोटीन न्यून मात्रा में दी जाती है किन्तु सिरोसिस में प्रोटीन अच्छी मात्रा में दी जाती है। स्निग्धता कम दी जाती है। विटामिन और मिनरल बहुत अच्छी मात्रा में दिये जाते हैं। लिवर एक्ट्रेक्ट भी दिया जा सकता है। फलों के जूस और अन्य तरल पदार्थ अधिक दिये जाने चाहिये। आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए तथा मिर्च, मसाले, प्याज, लहसुन आदि जलन उत्पन्न करते हैं अतः नहीं दिये जाने चाहिये। कोई भी तेज खाद्य पदार्थ नहीं देना चाहिये। साधारण भली प्रकार पकी हुई रोटी, दलिया आदि, वायु-वर्द्धक के अतिरिक्त अन्य सब ही भली प्रकार पकाई हुई तरकारियाँ, फल, अंडे, शीघ्र पचने वाली मछली मांस आदि दिया जा सकता है। दूध, फलों का रस आदि भी दिया जा सकता है किन्तु बहुत चर्बीवाले मांस नहीं देने चाहिये। घी, मक्खन, मलाई आदि स्निग्ध वस्तुएँ नहीं देनी चाहिये। दाल और सख्त अन्न, कच्चे फल और कच्ची तरकारियाँ आदि नहीं देनी चाहिये। मिठाई भी नहीं देनी चाहिये। आवश्यकतानुसार कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन की मात्रा बढ़ाई घटाई जा सकती है।

गौल ब्लेडर के रोग किसी प्रकार के रोग कीटाणु पहुँचने से हो सकते हैं। यदि यही कारण हो तो उन कीटाणुओं को नष्ट करना ही प्रथम कार्य होना चाहिए। इसमें भी प्रायः स्निग्धता कम मात्रा में देनी चाहिए। इस प्रकार के रोग प्रायः पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक होते हैं। गर्भवती होना अथवा मोटा होना भी इसके कारण हो सकते हैं। इसलिए प्रायः तीस वर्ष की आयु पार कर चुकने पर भारतीय स्त्रियों को खुली वायु में व्यायाम अवश्य करना चाहिए, कम खाना तथा मोटापे से तथा सर्दी और भीगने से बचना चाहिए। अकारण चिन्ता आदि भी नहीं करनी चाहिए।

किसी भी प्रकार की शल्य चिकित्सा के पूर्व और पश्चात् भोजन—वस्तुतः इस प्रकार के भोजन की रूपरेखा बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि शल्य चिकित्सा अथवा ओपरेशन तुरन्त ही होना चाहिए

अथवा कुछ दिन पश्चात् जिसमें भोजन आदि के द्वारा रोगी को उस चिकित्सा के लिए उपयुक्त बनाया जा सके। शल्य चिकित्सा से पूर्व सब ही प्रकार के परीक्षण जैसे रक्त, मूत्र आदि किए जाते हैं और उनके अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए भोजन की व्यवस्था की जाती है। प्रायः ओपरेशन से पूर्व भोजन १२ या १४ घंटे पहले से ही बन्द कर दिया जाता है ताकि आमाशय में अधपचा भोजन न रहे किन्तु पानी दो या तीन घंटे पूर्व तक दिया जाता है। यह भी ओपरेशन पर ही निर्भर रहता है। प्रायः ओपरेशन के पश्चात् विशेषतया पेट के किसी भी अंग के आपरेशन के पश्चात् पहले दिन कुछ भी नहीं देना चाहिए। दूसरे दिन थोड़ा थोड़ा पानी दिया जा सकता है। तीसरे दिन सादा पानी या बिलकुल तरल पदार्थ दिए जाते हैं। चौथे और पाँचवे दिन नरम भोजन और फिर हलका भोजन या साधारण भोजन जैसा भी डाक्टर कहे देना चाहिए।

त्वचा रोग और भोजन—आधुनिक युग में यह विश्वास किया जाने लगा है कि कुछ भोजन भी ऐसे होते हैं जिनसे त्वचा रोग उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु सदा सर्वदा त्वचा रोगों का कारण केवल मात्र भोजन में ही नहीं खोजा जा सकता है अतः भोजन पर ही सारा ज़ोर देना आवश्यक नहीं है। कुछ विशेष व्यक्तियों को पदार्थ विशेष से त्वचा कष्ट होता है अतः परीक्षण करके उन्हें वैसे भोजन नहीं देने चाहिए। यदि त्वचा कष्ट का कारण कुछ और ही रोग हो तो उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

मोटापा और भोजन—मोटापा अनेकों रोगों का कारण होता है किन्तु फैशन की दृष्टि से भोजन के आवश्यक तत्त्वों को भी कम करके दुबला होना कभी कभी अत्यन्त हानिकर भी हो सकता है अतः यदि मोटापा कम करना ही है तो व्यायाम करके तथा भोजन में से केवल मात्र अतिरिक्त तत्त्व ही कम करके करना चाहिए किन्तु ऐसा करते हुए यदि किसी डाक्टर का सहयोग एवं निरीक्षण प्राप्त कर लिया जाए तो ठीक रहे। प्रोटीन शरीर निर्माण का काम करती है और कार्बोहाइड्रेट शक्ति देते हैं अतः इन दोनों को तो मुटापे में भी भोजन से निकाला नहीं जा सकता है। कार्बोहाइड्रेट के कम करने से सिरदर्द,

थकान, दुर्बलता आदि बढ़ सकती है। विटामिन, मिनरल और कैलोरी तो पूरा ही रहना चाहिए। प्रोटीन आवश्यकता से अधिक नहीं लेना चाहिए किन्तु एकबारगी बन्द नहीं कर देना चाहिए।

मोटापा कम करने के लिए व्यायाम करना बहुत ही अच्छा उपाय है किन्तु व्यायाम करने से अधिक भूख लगने पर अधिक खा जाना उद्देश्य की पूर्ति नहीं होने देता अतः यह भी ध्यान में रखना चाहिए। व्यायाम अवस्था के अनुसार होना चाहिए। मोटापा कम करने के लिए औषधि लेना हानिकर है। बिना डाक्टर की सलाह के औषधि कभी भी नहीं लेनी चाहिए।

दुबलापन और भोजन—दुबलापन भी अत्यधिक हो जाने पर इतना ही हानिकर है जितना कि मोटापा अतः उसका उपाय भी शीघ्र ही करना चाहिए क्योंकि आवश्यकता से अधिक दुबलापन भी शरीर में कमी दर्शाता है और कई एक रोगों का कारण भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में शीघ्र ही पच जाने वाले भोजन लेने चाहिए किन्तु साधारण भोजन में घी, दूध, मक्खन, मलाई, अंडे, जैली, शहद आदि बढ़ा देना चाहिये। प्रोटीन की मात्रा बढ़ानी नहीं चाहिए किन्तु शरीर की आवश्यकता के अनुसार प्रोटीन अवश्य देनी चाहिये। कार्बोहाइड्रेट अधिक देना चाहिए। स्निग्धता भी अधिक मात्रा में दी जानी चाहिए किन्तु यह इतनी अधिक न हो जाए कि खाने वाले की भूख ही मारी जाए।

डाइबटीस अथवा मधुमेह—यह रोग प्रायः चर्बी सहित मांस, मछली, बहुत घी वाले खाद्य पदार्थ तथा अन्य गरिष्ट भोजन अधिक मात्रा में करने तथा विटामिन 'बी' और 'सी' की कमी से होता है। दिमाग से अधिक और शरीर से कम काम लेने से तथा धूप से बिलकुल बचे रहने से, शरीर को पूरी तरह आराम देते रहने से भोजन ठीक से पच नहीं पाता है। क्लोम ग्रन्थि कम रस निकाल पाती है। परिणाम स्वरूप भोजन की स्निग्धता और मिठास बिना पचे ही रक्त में चली जाती है। रक्त में इनकी अधिकता होने से तथा कार्बोहाइड्रेट के अनपचे ही रक्त में भरते जाने से फिर यह मूत्र द्वारा बाहर निकलने लगता है जिससे शरीर में दुर्बलता आती जाती है। इस रोग में प्रायः बार बार

और अधिक मूत्र आता है। बहुत अधिक प्यास और भूख लगती है। शक्ति और शरीर का भार घटता जाता है। रक्त और मूत्र में अधिक मीठा आने लगता है। मधुमेह के रोगियों को फुंसी फोड़े होने पर शीघ्र ही ठीक नहीं होते हैं। इस रोग में भोजन सम्बन्धी देख रेख और भोजन के नियमादि का पूर्णतया पालन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस रोग में स्निग्धता और कार्बो-हाइड्रेट निकाल कर केवल प्रोटीन प्रधान खाद्य वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए।

एक आध दिन अनशन करके शरीर का शेष कार्बोहाइड्रेट समाप्त करके प्रोटीन प्रधान खाद्य वस्तुओं का उपयोग करना आरम्भ करना अच्छा रहता है। अनशन के दिनों में खाने वाले सोडे का उपयोग किया जा सकता है। इस रोग में प्रायः सब ही अन्न भली प्रकार पका कर दिए जा सकते हैं। चावल बिलकुल ही नहीं देना चाहिए। मांस, मछली आदि खाई जा सकती है। तरकारियों में आलू, अरवी, शकरकन्द, चुकन्दर आदि नहीं खाना ही अच्छा रहता है। ककड़ी, खीरा, टमाटर, लौकी, हरी तरकारियाँ, सेम आदि खाना चाहिए। मिठास और स्टार्च छोड़ देना ही उपयोगी रहता है किन्तु फल सब ही खाए जा सकते हैं। मक्खन, मलाई, घी, मेवे आदि भी खाए जा सकते हैं। मिठाई तो बिलकुल नहीं खानी चाहिए और भी मीठी चीज़ें नहीं खानी चाहिये। चना, चने की रोटी आदि खाना अच्छा है। विटामिन अधिक खानी चाहिए तथा धूप का यथासम्भव अधिकाधिक सेवन करना चाहिए। भोजन केवल डाक्टर के आदेशानुसार और मात्रा में उसी के अनुसार लेना चाहिए। ऐसी अवस्था में तोल कर भोजन देना ही ठीक रहता है।

बड़ी आयु के लोगों की अपेक्षा छोटी आयु के व्यक्तियों के लिए यह रोग अधिक भयंकर होता है।

गठिया और भोजन—कुछ खाद्य पदार्थों में यूरिक अम्ल अधिक होता है। जब वह रक्त में रुक जाता है तो स्थान-स्थान पर हड्डियों के जोड़ों में उसका एकत्रित हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में यूरिक अम्ल को या तो रक्त में जाने ही नहीं देना चाहिए और यदि चला भी जाए तो या तो

उसका जल जाना आवश्यक हो जाता है और या शरीर से बाहर निकाल देना

यह रोग प्रायः अपच से आरम्भ होता है। पेट में वायु भरना, कब्ज होना, खट्टी डकारें आना, मूत्र का रंग बहुत पीला हो जाना इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण होते हैं। प्रायः वृद्धावस्था के कारण भी यह रोग हो जाता है क्योंकि उस अवस्था में शरीर में जाने वाले भोजन के विषैले भाग भी शरीर में ही रह जाते हैं बाहर नहीं निकल पाते तो रक्त का भी यूरिक एसिड जल नहीं पाता है। ऐसी अवस्था में गुर्दे के रोग भी हो सकते हैं। अतः अधिक जल पीना, अधिक क्षार खाना, अधिक परिश्रम करना आवश्यक है।

इस रोग के रोगी को लहसुन, ककड़ी, गाजर, चुकन्दर, दूध, तरकारियाँ (पालक के अतिरिक्त) मेवे, फल, दाल के अतिरिक्त अन्य अनाज, घी, तेल आदि देना चाहिए। अंडा दिया जा सकता है किन्तु मांस तो न देना ही अच्छा होता है।

गुर्दे के रोग और भोजन—इन रोगों में प्रोटीन कम देना चाहिए। मांस, दाल, मेवे, मसाला, तले हुए खाद्य-पदार्थ आदि नहीं देना चाहिए। दूध, हरी तरकारी, फल, अनाज दिए जाने चाहिये। अधिक जल न पीना ही अच्छा होता है। शारीरिक परिश्रम और देर से पचने वाले पदार्थ नहीं खाने चाहिए। नमक भी कम ही खाना चाहिए।

रक्त सम्बन्धी रोग और भोजन—पचने के पश्चात् शरीर के लिए आवश्यक तत्त्व शरीर के विभिन्न भागों तक भोजन द्वारा ही पहुँचाए जाते हैं। अतः भोजन और रक्त तथा स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। रक्त में होने वाला तनिक-सा भी विकार समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। रक्त सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण रोग है रक्त की न्यूनता होना अर्थात् अनीमिया (Anemia)। यह दो प्रकार से होता है। एक तो किसी भी कारण बहुत अधिक रक्त के अचानक शरीर से निकल जाने से अनीमिया हो जाता है दूसरे रक्त के बनने में किसी कारण से कमी हो जाने से अथवा रक्त में हेमोग्लोबीन और रक्त के लाल अंश की कमी हो जाने से। रक्त के श्वेत अंश पर यद्यपि कम ही प्रभाव पड़ता है किन्तु यदि रक्त के श्वेत अंश सम्बन्धी रोग हो भी जाएँ तो अभी

तक तत्सम्बन्धी भोजन व्यवस्था निश्चित नहीं की जा सकी है। प्रायः ऐसी अवस्था में इमरसन के विचारानुसार अधिक कैलोरी भोजन में दी जानी चाहिये। तथा आयरन और लिवर को शक्ति देने वाले तत्त्व भी दिए जाने चाहिए।

लाल अंश की कमी के कारण होने वाले अनीमिया में लिवर एक्सट्रेक्ट अथवा लिवर को शक्ति देने वाले पदार्थ देने चाहिए। भोजन ऐसा होना चाहिए जो कि शीघ्र पच सके किन्तु इसमें आयरन अधिक दी जानी चाहिए। कैलोरी रोगी की आवश्यकतानुसार दी जानी चाहिए। शीघ्र न पच सकने वाला भोजन तो देना ही नहीं चाहिए।

रक्तचाप और भोजन—रक्तचाप अथवा हाईब्लड प्रेशर में रक्त केशिकाओं की भीतरी झिल्ली कुछ मोटी हो जाती है। इसी कारण रक्त का प्रवाह रुकने लगता है और रक्तचाप बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में गरिष्ठ और शीघ्र न पचने वाला भोजन अत्यन्त हानिकर होता है। उत्तेजक पदार्थ तो बिलकुल ही नहीं खाने चाहिए। भोजन भी भूख से कुछ कम ही खाना चाहिए। हरी तरकारियाँ आदि अधिक खानी चाहिए। ऐसी अवस्था में लहसुन, दूध, लस्सी, मठा और अन्न का भी हलका भोजन ही अच्छा रहता है। रात्रि का भोजन सूर्यास्त से पूर्व अथवा तुरन्त पश्चात् ही कर लेना चाहिए। उपवास यदि कभी कभी कर लिया जाए तो ठीक ही रहता है।

सुगृहिणी का कर्तव्य यह है कि वह परिवार के सब ही सदस्यों को कम से कम धनव्यय करके अधिक से अधिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम भोजन दे। बालकों में तो उसे आरम्भ से ही भोजन सम्बन्धी अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करना ही चाहिए तथा उनमें शरीर के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम पदार्थों के प्रति ही रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। अन्य सदस्यों को भी यथा सम्भव उचित भोजन ही करवाना चाहिए। यदि दुर्भाग्य वश कोई सदस्य रोगी हो जाता है तो यथासम्भव उसके लिए परिवार की भोजन पत्रिका में ही इस प्रकार का भोजन तैयार करवाना चाहिए जो कि उचित और हितकर हो किन्तु यदि वैसा करना सम्भव न हो तो भी उसे रोगी का भोजन देना ही उचित है। रोगी के लिए भोजन गृहिणी को स्वयं ही बनाना चाहिए। यदि किसी परिवार में

नौकर से ही खाना बनवाना आवश्यक हो तो भी गृहिणी को भोजन की पूरी पूरी देख भाल अवश्य ही करनी चाहिए क्योंकि उचित खाद्य पदार्थों का चुनाव अत्यन्त आवश्यक है किन्तु उनका ठीक से बनाना भी आवश्यक है।

भारत के पुरुषों की आयु, ऊँचाई और शरीर भार

ऊँचाई	४'-१०"	५'	५'-२"	५'-४"	५'-६"	५'-८"	५'-१०"	६'
आयु	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०
२०	१०२	१०६	११०½	११५½	१२१	१२८	१३६	१४५
२५	१०५	१०९	११४	११८½	१२४	१३१	१३९	१४९
३०	१०९	११३	११८	१२४	१३०	१३६	१४४	१५४
३५	११२	११६	१२२	१२७	१३३	१४०	१५०	१६०
४०	११६	१२०½	१२६	१३२	१३८	१४६	१५६	१६६
४५	१२०	१२५	१३०	१३६	१४२½	१५०	१५८	१६७
५०	१२१	१२६	१३२	१३८	१४५	१५४	१६४	१७३

स्त्रियों का शरीर भार पुरुषों की अपेक्षा उसी लम्बाई के शरीर के साथ ३ अथवा ४ पाउन्ड तक अधिक हो सकता है।

अध्याय ७

खाद्य पदार्थों के भोजन तत्त्व

प्रायः हम अपने सब ही खाद्य पदार्थों को सातः शीर्षकों के अन्तर्गत रख कर समझ सकते हैं।

(१) दूध और दूध से बने हुए खाद्य पदार्थ।

(२) अन्न।

(३) तरकारियाँ तथा अन्य वनस्पति।

(४) फल।

(५) दाल और बादाम, अखरोट, काजू आदि मेवे।

(६) मांस और मछली।

(७) अंडे।

दूध और दूध से बने हुए खाद्य पदार्थ—माता का दूध प्रायः बालक के लिए सर्वोत्तम होता है। दूध सम्पूर्ण भोजन है। प्रायः मानव अपने प्रयोग में माता के दूध के अतिरिक्त गाय, भैंस, बकरी, गधी और ऊँटनी का दूध लाता है किन्तु भारतवर्ष में प्रायः प्रथम तीन पशुओं का दूध ही पिया जाता है। दूध से क्रीम अर्थात् कच्चे दूध की मलाई, मक्खन, दही, लस्सी, घी, पनीर, खोया, मलाई आदि प्राप्त किया जाता है। मक्खन निकाला हुआ दूध अर्थात् स्किम्ड दूध भी आजकल मिल जाता है। हमारे देश में तो दूध की मिठाई, खीर, गाजर का हलवा आदि विभिन्न पदार्थ बनाए जाते हैं। गुलाबजामुन में कुछ खोया पड़ता है किन्तु बंगाली मिठाइयाँ तो अधिकतर पनीर अर्थात् छेने की ही बनती हैं।

अन्न—अन्न तो गेहूँ, चना, बाजरा, मकई, जौ, ज्वार आदि सब ही होते हैं किन्तु प्रायः हमारे देश में गेहूँ अथवा बेझरा अर्थात् गेहूँ और चना अथवा और अन्न मिले जुले खाए जाते हैं। व्रत आदि के दिन तो अन्न खाए ही नहीं जाते हैं किन्तु इनके स्थान पर कूटू आदि की रोटी, पराठा अथवा पूरी खाई जाती है किन्तु अधिकतर गेहूँ अथवा चावल ही खाया जाता है।

तरकारियाँ तथा अन्य वनस्पति—तरकारियाँ प्रायः सरलता से मिल भी जाती हैं और हमारे देश में खाई भी जाती हैं। इधर कुछ काल से तो कुछ वनस्पतियों से स्निग्धता निकाल कर उसे भी घी के स्थान पर प्रयोग में लाया जाने लगा है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि उनसे घी का काम निकाला जा सकता है फिर भी इनका प्रचलन तो पर्याप्त है ही।

फल—प्रायः मौसम के फल तो सब ही कहीं खाए जाते हैं किन्तु भोजन के साथ फल खाने का प्रचलन हमारे देश में कम ही है फिर भी अमरूद, जामुन आदि अत्यन्त लाभप्रद फल खाये जाते हैं। यूँ फलों को भोजन का ही अंग समझना चाहिये। मिठाई की अपेक्षा फल खाना अधिक हितकर है अतः भोजन के अतिरिक्त जलपान में फलों को खाने की ही आदत डालना अधिक अच्छा है।

दाल और मेवे—हमारे देश में प्रायः निरामिषभोजियों को प्रोटीन दालों से ही मिलती है। यही कारण है कि हमारे देश में दाल खाने का प्रचलन अधिक है। प्रायः साधारण परिवारों में दिन में एक बार तो दाल बनती ही है। मेवे अधिकतर धनी परिवारों में ही खाए जाते हैं।

मांस, मछली और अंडे—यद्यपि निरामिषभोजी इन पदार्थों का सेवन नहीं करते हैं फिर भी इन पदार्थों को उपयोग में लाने वाले व्यक्तियों की संख्या भी इस देश में पर्याप्त है।

भोजन में दूध का स्थान—दूध वस्तुतः सम्पूर्ण भोजन है। दूध और कुछ फल लेकर भी व्यक्ति स्वस्थ एवं सबल रह सकता है। थायरेड ग्रन्थियों का तो बहुत कुछ आधार ही दूध होता है। रोग और बाल्यावस्था में तो दूध दिया ही जाता है और बाल्यावस्था में तो मुख्य आहार ही दूध होता है। यूँ तो हम स्थान-स्थान पर दूध के महत्त्व की चर्चा कर ही चुके हैं फिर भी यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि भोजन में दूध का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें पाई जाने वाली प्रोटीन शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है और निरामिषभोजी व्यक्तियों के लिए तो दूध पीना अनिवार्य होना चाहिए क्योंकि उन्हें जिन कुछ एक वस्तुओं से प्रोटीन मिलती है उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दूध ही होता है। यद्यपि उबालने से दूध में से कुछ तत्त्व नष्ट भी हो जाते हैं किन्तु उबाल लेने से रोग कीटाणुओं का भय नहीं रहता है अतः दूध उबाल कर ही पीना चाहिए किन्तु उबालने से पूर्व यदि दूध में तनिक-सा जल मिला दिया जाए और उसे बहुत देर तक न उबाला जाए तो वह पीने के लिए अधिक उपयुक्त होता है। यदि सम्भव हो तो जिस गाय का दूध पिया जाए उसकी डाक्टरी परीक्षा भी समय-समय पर करवा ली जाया करे। यूँ तो सरकार को प्रायः सब ही गायों एवं भैंसों की डाक्टरी परीक्षा का समुचित प्रबन्ध करना ही चाहिये तथा ग्वालों के दूध की भी समय-समय पर परीक्षा करते रहना उचित है जिससे कि दूध में कोई अन्य हानिकर पदार्थ जैसे गन्दा पानी आदि न मिलाये जा सकें।

खाद्य पदार्थों के भोजन तत्त्व

(एक आउन्स)

[२८·४ ग्राम = १ औंस = ½ छटाँक]

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्धता (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	कैलोरी	विटामिन				१०० ग्राम में लवण		
					ए	बी	सी	डी	कैलशीयम	फौसफरस	आयरन
(१) दूध और दूध से बने खाद्य पदार्थ											
गाय का दूध	०·६४	१·०२	१·३६	१८	+ + +	+ +	+	+	·१२	·०९	·२
बकरी का दूध	१·२१	१·१३	१·२१	२०	+ + +	+	+	+	·१७	·१२	·३
भैंस का दूध	१·३५	२·१८	१·२४	३०	+ + +	+	+	+	·२१	·१३	·२
स्त्री का दूध	०·४२	१·५०	०·७५	१८	+ + +	+	+	...	·०२	·०१	·२
क्रीम (कच्चे दूध की मलाई)	०·७०	५·२४	१·२७	५५	+ + +	+ +	+	+	...	...	...
पनीर	७·३५	८·८८	०·५०	१११	+ + +	+	+	...	·७९	·५२	२·१
मट्ठा	०·८५	०·१४	१·३६	१०	+	+	...	...	·०३	·०३	·८
मक्खन निकाला दूध	०·६६	०·०८	१·४४	१०	+	+	+	...	·१२	·०९	·२
दही	१·४०	१·००	०·८०	१८	+ +	+	+	...	·१२	·०९	·३
खोवा (भैंस का)	४·१४	८·८६	५·८२	१२०	...	...	+	...	·६५	·४२	५·८
मक्खन, घी		२३·१०	...	२०८	+ + +	...	...	+			

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्धता (ग्र.म)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	कैलोरी	विटामिन				१०० ग्राम में लवण		
					ए	बी	सी	डी	कैलशीयम	फौसफारस	आयरन
(२) अनाज											
गेहूँ का चोकरदार आटा	३.६०	०.५४	२०.३५	१००	+	+ +	०	...	.०४	.३२	.७३
मैदा	३.१४	०.३७	१७.३०	९९	०	+	०	...	.०२	.०६	१.०
भीतरी चोकर का आटा	३.२०	०.५८	१७.४०	८८	०	+ + +	०	...			
बिनाछुरा (कनेदार) चावल	२.३०	०.८५	२२.३०	९९	×	+	०	...	.०१	.२१	३.६
धुला हुआ चावल	१.७२	०.१५	३६.३४	९९	०	०	०	...			
छरा (कनानिकाला) चावल	१.७९	०.१३	२६.०९	९८	०	+	०	...	.०१	.१६	१.९
बाजरा	२.७८	०.४६	२३.३५	१०९	+ + +	+ +	०	...	.०५	.३५	८.८
जुआर	२.९०	१.१७	१९.७०	१०१	+	+ +	०	...	.०३	.२८	६.२
जौ	२.९७	०.६२	२०.६०	१००	+	+ +	०	...	.०३	.२३	३.७
मकरा (मड़ुवा)	२.०१	०.३६	२१.६०	९८	+	+		...	.३२	.२७	५.४
कूटू	२.९	०.६८	१८.९०	९८	...	+ +	...	...	.०७	.३	३.२
मक्का	२.०३	०.४८	२०.८०	९६	+ +	+ +	...	...	.०१	.३३	.२१
मैदा की पाव रोटी	२.१०	०.३३	१४.८०	७०	...	+	...	...			
सूजी	४.२०	०.६८	१४.२०	८०	+	+ + +	...	...			
(३) तरकारियाँ तथा अन्य बनस्पति											
आलू	०.७०	०.०४	८.१५	३६	×	+	...	...	.०१	.०३	.७
चुकन्दर	०.३४	०.०३	१.७५	९	×	+	...	...	.२	.०६	१.०

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्धता (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	कैलोरी	विटामिन				१०० ग्राम लवण में		
					ए	बी	सी	डी	कैलशीयम	फौसफरस	आयरन
गाँठ गोभी	०·३१	०·१६	१·६७	६	+	+	+	...	०·०२	०·४	·४
करेला	·८२	०·२	२·७८	१७	+	+	+	...	०·१४	०·१४	६·४
वनस्पति-तैल											
लाल ताड़ का तेल	...	२८·००	...	२५६	+++	...	...	...			
नारियल का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	०			
तिली का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	०			
अलसी का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	०			
मूँगफली का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	०			
जैतून का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	...			
विनौला का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	...			
सरसों का तेल	...	२८·००	...	२५२	+	०	०	...			
(४) फल											
सेब	०·०६	०·०६	३·५४	१५	...	+	+	...	०·१	·०२	१·७
केला	०·४५	०·०३	१०·५४	४३	+	+	+	...	०·१	·०५	०·४
अंगूर	०·१७	०·०३	३·६३	१७	...	+	+++	...	०·३	·०३	०·२
नीबू	०·१४	०·१४	०·८८	१५	...	+	+++	...	०·६	·०२	०·३
नारंगी संतरा	०·२५	०·०३	२·६६	१२	+	+	+++	...	०·५	·०२	०·१
नाशपाती	०·०६	०·०३	२·२६	१६	...	+	+	...	०·१	·०१	०·७
अनार	०·१८	...	०·१६	१८	...	+	+	...	०·१	·०७	०·३

आड़ू	०·१६	०·०३	२·६६	१२	...	...	+ +	...	·०१	·०३	१·७
अनन्नास	०·११	०·०६	२·७५	१२	...	...	+ +	...	·०२	·०१	०·६
तरबूज	०·११	०·०६	१·६०	६	...	...	+	...	·०१	·०१	०·२
पपीता	०·१६	...	०·१०	११	+	+	+ +	...	·०१	·०१	०·४
आँवला	·१८	·०२	·४	१७	...	...	+ + +	...	·०५	·०५	१·२
लीची	०·८४	०·०७	१·६०	१२	+	+	+ +	...			
आम	०·०४	०·२२	५·२०	१३	+ + +		+	...	·०१	·०२	०·३
अमरूद	०·३७	०·२०	२·२७	१६	+	+	+ +	...	·०१	·०४	·१०
सूखे फल											
मखाना	२·३५	·०२	२१·८४	६६	+		...	...	·०२	·०६	१·४
जर्द आलू	१·५६	०·०६	१४·०४	६३	...	...	०	...	·०२	·०२	·५
मुनक्का	०·४८	०·०६	११·८६	५०	...	+	०	...	·१०	·०८	४·०
खजूर	०·४५	०·०३	१६·७३	८१	...	+	०	...	·०७	·०८	१०·६
अंजीर	०·५६	०·१४	१५·६६	६७	+	+	०	...	·०६	·०३	१·२
आलू बुखारा	०·८५	०·०६	११·४३	५०	...	+	०	...			
किशमिश	०·६२	०·०६	१७·३२	७३	...	+	०	...	·१०	·०८	४·०
इमली (गूदा)	·८८	...	१६·१४	८२	...	+	+	..	·१७	·१७	१०·६
(५) दाल, मटर मेवे इत्यादि											
ताजा चौड़ा लोबिया	२·६६	०·११	६·४५	१८	+	+ +	+ +	...			
ताजा फ्रांसीसी लोबिया	०·४५	०·०३	१·३६	२८	+	+ +	+ +				
सूखी मटर	१·८५	०·१७	४·७५	८६	+	+ +	०	...	·०७	·३०	४·४
मसूर	७·१	०·१६	१६·६५	६६	...	+ +	...	...	·१३	·२५	२·०
दाल अरहर	६·५०	०·६६	१६·२०	६५	+	+ +	०	...	·१४	·२६	८·८

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्धता (ग्राम)	कार्बो-हाइड्रेट (ग्राम)	कैलोरी	विटामिन				१०० ग्राम में लवण		
					ए	बी	सी	डी	कैलशीयम	फौसफग्स	आयरन
चना छिलके सहित	५'७०	१'३०	१७'३८	१०३	+	...	०	...	'१६	'२४	६'८
चना भुना (बिना छिलका)	६'६६	१'२०	१६'७२	११८	...	...	...	...	'०७	'३१	८'६
भटवांस	११'७२	४'६०	६'८४	१०६	...	+ +	...	...	'२१	'६०	६'६
उर्द बिना छिलका	६'८१	०'३६	१७'०४	६६	+	...	०	...	'२०	'३७	६'८
खड़ी मूँग	६'८१	०'३८	१६'०७	६५	...	...	...	...	'१४	'२८	८'४
बदाम	५'२६	१५'६६	४'३०	१८२	+	+ +	०	...	'२३	'४६	३'५
पिस्ता	५'६२	१५'१६	४'६०	१७८	+ +	+	०	...	'१४	'४३	१३'७
तिल	५'१६	१२'३०	७'१५	१६०	+	+	०	...	'१४५	'५७	१०'५
गोला गरी	१'६१	१४'३१	७'६०	१६७	+	+	०	...	'०१	'२४	'१७
मूँगफली कच्ची	७'३०	१०'६२	६'६०	१५५	+	+	०	...	'०५	'३६	१'६
अखरोट	३'८५	१६'६२	३'६६	२२१	+	+	०	...	'१	'३८	१'८
अन्य गरीदार मेवे	५'००	१६'५०	३'६०	१८३	+	+	०	...			
(६) मांस और मछली											
भेड़ का मांस	५'६७	१'६८	...	४२	+	+	+	+	'१५	'१५	२'५
बकरे का मांस	७'२०	०'७५	...	३६	०	+	+	०	'१५	'१५	२'५
सुअर का मांस	६'०५	३'१४	...	५३	०	+	०	...	'०३	'२	२'३
Bacon रक्खा हुआ सुअर का गोश्त	५'००	१५'००	...	१५५	०	...	...	...	...	...	...

यकृत (जिगर)	६·११	१·७०	०·७६	४३	+ + +	+ + +	+	...	·०१	·३८	·६३
वृक्क (गुर्दा)	४·५४	१·३६	०·०६	३१	+ +	+ +	...	...	...	...	...
मस्तिष्क (दिमाग)	२·९०	२·७७	...	३७	+	+ +	...	...	...	...	...
जिह्वा (जबान)	४·४१	५·४३	...	६७	०	+	...	...	...	...	...
रोहू मछली	५·३२	३·७०	...	५५	+ + +	+ +	...	...	·२०	·१९	·९
बिना चरबी की मछली	५·१५	०·२०	...	२२	...	+	...	...	...	...	...
झींगा मछली	५·९०	·७८	...	२४	+	+	+	...	·०९	·२४	·८
मुर्ग	६·७४	०·३८	...	३०	+	+	...	...			
बतख	५·८०	२·९४	...	५०	+	+	...	...			
कबूतर	६·२५	१·८७	...	४२	+	+	...	...			
पशु-वसा											
मेड़ की चर्बी	०·३४	२६·४०	...	२३९	+ +	...	...	...			
सुअर की चर्बी	...	२६·८०	...	२४१	० या +	...	...	...			
मछली का तेल	...	२८·००	...	२५२	+ + +	+	...	+			
(७) अंडा	३·७९	२·९७	...	४२	+ + +	+ +		+	·०६	·२२	२·१
(८) अन्य चीजें											
सफेद चीनी	...	...	२८·३०	११३	०	०	०	...			
लाल शक्कर	...	...	२६·८९	१०८	०	०	०	...			
गुड़	०·०८	...	२५·००	१०९	०	+	०	...	·०४	·०८	११·४
शहद (मधु)	०·१४	...	२०·७३	९२	...	...	+	...	...	...	...
मुरब्बे	०·०६	...	६१·८१	७९	०	०	०	...			
मार्मलेड	०·०६	...	१९·४१	७८	०	०	०	...			
शीरा।	०·०६	...	१६·९५	६८	०	०	०	...			

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्धता (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	कैलोरी	विटामिन				१०० ग्राम में लवण		
					ए	बी	सी	डी	कैलशीयम	फौसफारस	आयरन
पान	·८८	·२२	१·७३	१२	+ + +	...		+	·२३	·०४	५·७
पापड़	५·३३	·०८	१५·३६	८२	+	...		...	·०८	·३०	१७·२
अदरख	·६५	१·२५	३·४६	१६	+	...		+	·०२	·०६	२·६
मेथी	७·४४	१·६४	१२·५२	६५	+	...		०	·१६	·३७	१४·१
जीरा	५·३१	४·२६	१०·३६	१०१	+ +	...		+	१·०८	·४६	३१·०
धनिया	४·०	४·५७	६·१३	८२	+ +	...		+	·६३	·३७	१७·६
लौंग	१·४७	२·५२	१३·२	८३	...	...		...	·७४	·१०	४·६
सूखे मिर्चा	४·५१	१·७६	८·६७	७०	+ +	...		+	·१६	·३७	२·३
काली मिर्च	३·२६	१·६३	१४·०५	८७	...	...		...	·४६	·२०	१६·८
हल्दी	१·७८	१·४४	१६·७१	६६	+	...		...	·१५	·२८	१८·६
इलायची	२·८६	·६२	११·६१	६५	...	...	...	...	·१३	·१६	५·०
खमीर (सूखी)	११·२	०·१७	११·१०	६१	+	+ + +	०		·४४	१·४६	४३·७
डिब्बे का दूध	२·४६	२·३५	१५·३१	१२	+	+	०				
अचार (Pickles)	०·३१	०·११	१·१३	७	...	...	...				
मेथी (पत्ती)	१·३५	·२५	२·७८	१६	+ + +	+ +	+	..	·४७	·०५	१६·६
धनिया (पत्ती)	०·६३	·१७	१·८४	१३	+ + +	...	+ + +	...	·१४	·०६	१०·०
पुदीना (पत्ती)	१·३६	·१७	२·२७	१६	+ + +	...	...	...	·२०	·००	१५·६

नोट—बहुत ही अधिक <u>+ + +</u>, बहुत + + +, पर्याप्त + +, तनिक +, बिलकुल नहीं ० या ··· ।

खाद्य-पदार्थों का संग्रह और उनकी रक्षा—यह तो हम देख ही चुके हैं कि किस व्यक्ति को किस अवस्था में कितना भोजन मिलना चाहिए और उसमें कौन-कौन से प्रमुख भोजन तत्त्वों का होना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि उन्हें किस प्रकार संग्रहीत किया जाए। यूँ तो प्रायः सब ही वस्तुएँ आवश्यकतानुसार बाज़ार से मोल ली जा सकती हैं किन्तु सब ही वस्तुएँ ताज़ी तो सदा-सर्वदा मिलती नहीं हैं और कभी-कभी मितव्ययिता की दृष्टि से भी गृहिणी को कुछ वस्तुएँ जब सुलभ प्राप्त हों तब ही संग्रह करनी पड़ती हैं। यद्यपि विदेशों में तो खाद्य-वस्तुओं का संग्रह करके उन्हें बहुत दिनों तक सुरक्षित रखने के अनेकों वैज्ञानिक ढंग निकल चुके हैं और निकाले जा रहे हैं किन्तु हमारे देश में अचार और मुरब्बे तथा पापड़, बड़ियाँ, फुलबड़ियाँ आदि बना कर कुछ खाद्य वस्तुओं को देर तक रखा जाता है। सिरके का भी उपयोग अचार डालने में किया जाता है। तेल का अचार अधिक देर तक रह पाता है। रासायनिक पदार्थों को भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यवहार में लाया जाता है जैसे सैलिसिलिक एसिड, बेन्ज़ोइक एसिड आदि। धूप में सुखा कर भी कुछ खाद्य वस्तुएँ सुरक्षित की जाती हैं जैसे आम की खटाई, गोभी, आलू, हरी मटर आदि कुछ तरकारियाँ। अचारों को भी धूप में अवश्य रखा जाता है। लवण भी देर तक खाद्य वस्तुओं को सुरक्षित रख पाता है अतः कई प्रकार की वस्तुएँ नमक में सिझा कर भी देर तक सुरक्षित रखी जाती हैं। विदेशों में तो मांस आदि को भी तरह-तरह के उपायों से सुरक्षित किया जाता है। इस प्रकार के उपायों में सुखाना, अत्यधिक ठंडक (cold storage) में रखना, वायु के प्रवेश से सर्वथा अछूते डिब्बों में बन्द करके रखना, धुँआ देना आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। शरबत आदि भी बना कर रखे जाते हैं किन्तु यथासम्भव गृहिणी को डिब्बे की वस्तुओं का कम से कम उपयोग करना चाहिए।

रसोई घर—अधिकतर खाद्य-पदार्थ पका कर ही खाए जाते हैं अतः हमारे भोजन में रसोई घर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। रसोई घर स्वच्छ, हवादार और खुला तो होना ही चाहिये, वह किसी भी अवस्था में

टट्टी और गुसलखाने अथवा किसी भी अत्यन्त गन्दी नाली के निकट नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था में गन्दगी भोजन में आ जाना सरल होता है। रसोई घर में तीन स्थान तो अवश्य ही होने चाहिये। एक तो पकाने से पूर्व तरकारी आदि धोने का स्थान जहाँ कि पानी की भी सुविधा हो और कई पानी से धोने के लिए गन्दे पानी की निकास की भी पर्याप्त सुविधा हो। दूसरा वह स्थान होना चाहिये जहाँ कि धुली हुई तथा अन्य कच्ची वस्तुएँ रखी और पकाई जाएँ अर्थात् चूल्हा और उसके आसपास के स्थान। ये सब स्थान ऐसे होने चाहिए जहाँ कि खाद्य वस्तुओं तक रोग-कीटाणुओं का प्रवेश सम्भव न हो। सब ही वस्तुएँ ढक कर रखनी चाहिये। तीसरा स्थान वह होना चाहिये जहाँ कि पकी हुए वस्तुएँ रख दी जाएँ। रसोई घर से लगा हुआ गोदाम होना चाहिये किन्तु यह स्थान भी सीला, गंदा एवं अँधेरा नहीं होना चाहिये। यह तो हम देख ही चुके हैं कि हमारा भोजन धूप और प्रकाश से वंचित नहीं होना चाहिये। क्योंकि धूप खाद्य पदार्थों को विटामिन देती है। रसोई घर एवं गोदाम में कहीं भी चूहे आदि का प्रवेश सम्भव एवं सरल नहीं होना चाहिए। वस्तुतः सुगृहिणी के लिए रसोई घर एक ऐसा पवित्र स्थान है जहाँ पर कि उसके परिवार के सब ही सदस्यों का जीवन बनाया जाता है अतः उसे उसकी स्वच्छता एवं पवित्रता की किसी भी मूल्य पर रक्षा करनी ही चाहिए।

भोजन पकाना—विभिन्न खाद्य पदार्थों को विभिन्न प्रकार से पकाया जाता है किन्तु यथासम्भव खाद्य वस्तुओं को अधिक तलना, भूनना और मसालेदार बनाना ठीक नहीं रहता है। सड़ा, गला, बासी तिबासी भोजन यथासम्भव नहीं करना चाहिये किन्तु इतना अधिक भोजन बना कर भी नहीं रखना चाहिये कि वह सड़ता रहे क्योंकि बचे हुए भोजन को फेंकना भी तो अनुचित है। कच्ची तरकारियों का खाना भी हानिकर नहीं होता है अतः कुछ कच्ची तरकारियाँ भी खाने के साथ परोसना चाहिए जैसे मूली, गाजर, खीरा, ककड़ी, टमाटर आदि। भाप पर पका कर भी कुछ तरकारियाँ अत्यधिक स्वादिष्ट बन जाती हैं। भोजन के साथ चटनी, हरी मिर्च, पोदीना, धनिया आदि परोसना भी अच्छा लगता है और भोजन को रुचिकर बना देता है।

भोजन के पश्चात्—भोजन कर चुकने के पश्चात् अधिक हँसना, पढ़ना, अत्यधिक भारी वस्तुएँ उठाना आदि शारीरिक परिश्रम करना हानिकर होता है। अच्छा तो यह हो कि भोजन करके लगभग सौ पग चला जाए और फिर पहले बाईं करवट थोड़ी देर लेटे तत्पश्चात् दाहिनी ओर कुछ लेट ले। भोजन करने के पश्चात् मूत्र त्याग करना अच्छा होता है क्योंकि उससे शरीर के विषैले पदार्थ अधिक निकल जाते हैं। प्रसन्न मन से भोजन करना चाहिये तथा जो भी कुछ बना हो उसी को अच्छा मान कर खाना चाहिए।

भोजन परोसना—गृहिणी के प्रमुख कार्य हैं परिवार के सब ही सदस्यों के लिए भोजन-पत्रिका तैयार करना—इसमें बच्चों, बड़ों, रोगी आदि सब के लिए उपयुक्त भोजन रहना चाहिये—भोजन पकाना, तैयार करना और परोसना। वस्तुतः इन सब कार्यों का अपना अपना महत्त्व है और उन सब ही के द्वारा गृहिणी की कुशलता का पता लगता है।

यदि परिवार के सब सदस्य साथ भोजन करते हों तो अच्छा है अन्यथा पृथक्-पृथक् करने पर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि थाली, कटोरी आदि भली प्रकार स्वच्छ की गई हों और खाने के पश्चात् जूठे बर्तन एक ही स्थान पर रखे जाएँ तथा वह स्थान गन्दा न हो। परोसते समय खाद्य वस्तुएँ कटोरी से बाहर न बहती हुई हों और न किनारों पर ही लगी हुई हों। यदि कुछ वस्तुएँ थाली में भी रखी जाएँ तो भी बहुत ही स्वच्छता से रखी जानी जानी चाहिए।

रोगी को यदि उसके बिस्तर पर ही भोजन देना हो तो उसके पलँग के पास एक छोटी सी मेज अथवा तिपाई रख कर उसपर भोजन की थाली अथवा ट्रे रख दी जानी चाहिये। थाली अथवा ट्रे स्वच्छ होनी चाहिये और भोजन चतुराई से परोस कर रोगी के सम्मुख रखना चाहिये, ताकि उसे अच्छा लगे। खा चुकने पर तुरन्त ही बर्तन रोगी के कमरे से हटा लेने चाहिये ताकि मक्खियाँ आदि न बैठ सकें। गृहिणी के कुशलतापूर्वक यह सब कार्य करने का अर्थ है परिवार के सदस्यों की आयु और स्वास्थ्य में वृद्धि होना।

अध्याय ८

मल-निष्करण-संस्थान

(The Execretory System)

शरीर के विकार निकालने वाला संस्थान—हमारे शरीर के अन्दर जब तक कि हम जीवित हैं बराबर गति और क्रियाएँ होती रहती हैं जैसे मांस-पेशियाँ सुकड़ती और फैलती हैं और इस प्रकार शरीर में गति उत्पन्न करती हैं। आमाशय में पाचन क्रिया होती है। रक्तवाहक संस्थान रक्त का संचालन करता है। स्नायु संस्थान से निरन्तर प्रेरणाएँ आती हैं और संवेदनाएँ जाती हैं। इन सब क्रियाओं के होने से हमारे अंगों, अवयवों और तन्तुओं के सेल (cell) घिसते हैं, छीजते हैं और टूटते-फूटते रहते हैं। इस प्रकार शरीर में क्रियाएँ और गति होते समय सेलों की टूट-फूट की क्रिया को केटाबोलीज़म (Katabolism) कहते हैं।

जब पुराने सेल टूट-फूट जाते हैं तो नये सेलों की उत्पत्ति की आवश्यकता होती है इस कारण शरीर में बराबर नये-नये सेल भी बनते रहते हैं। इस क्रिया को ऐनाबोलीज़म (Anabolism) कहते हैं। इन दोनों क्रियाओं का क्रम शरीर में बराबर एक साथ चलता रहता है और इन दोनों कामों को मिला कर मेटाबोलीज़म (Metabolism) कहते हैं।

शरीर के अन्दर क्रियाओं के होने से सेलों की छीजन होती है और नये सेलों की उत्पत्ति होने के कारण शरीर के अन्दर कई प्रकार के हानिकारक पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जैसे कार्बन डाइ आक्साइड (Carbon-di-oxide) यूरिया (Urea) और यूरिक ऐसिड (Uric acid) तथा पानी की भाप।

हमारे तन्तुओं में कार्बन की मात्रा अधिक होती है और इसी कारण अंगों व अवयवों के तन्तुओं के क्रिया करते समय कार्बन डाइ आक्साइड अधिकता से उत्पन्न होती है। यूरिया और यूरिक ऐसिड नाइट्रोजन पदार्थों के द्वारा उत्पन्न होती है। इन हानिकारक पदार्थों का शरीर के बाहर निकल जाना

अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी कारणवश यह विकार शरीर के बाहर नहीं निकलते हैं तो शरीर में विष फैल जाने के कारण हमारा शरीर अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो जाता है और यदि शीघ्र ही उचित उपाय न किया जावे तो मृत्यु तक हो जाती है।

शरीर के विकार बाहर निकालने वाले अंग निम्नलिखित हैं :—

(१) फेफड़े, (२) गुर्दे, (३) त्वचा।

फेफड़ों के द्वारा शरीर के अन्दर की कार्बन डाइ आक्साइड और पानी की भाप बाहर निकल जाती है। इसके बारे में हम श्वास-क्रिया में सविस्तार पढ़ेंगे। अब शरीर की शुद्धि में गुर्दे किस प्रकार भाग लेते हैं यह जानना आवश्यक है।

गुर्दे (Kidney)

बनावट—गुर्दे गिनती में दो हैं और रीढ़ की हड्डी के एक दाहिनी तरफ और दूसरा बाईं तरफ बारहवीं पसली के सामने स्थित है। यह स्वाधीन मांस-पेशियों से बने अंग हैं। इनका रंग कुछ कालापन लिये हुए गहरा भूरा होता है। बनावट में गुर्दे या वृक्क सेम के बीज की तरह होते हैं। इनकी लम्बाई ४" तथा चौड़ाई करीब-करीब २½" या २¼" होती है। बीज की तरह दोनों तरफ से इनकी पीठ ऊपर को उठी हुई होती है। जो हिस्सा रीढ़ की तरफ होता है उधर गड्ढा-सा होता है और बाहरी हिस्सा थोड़ा उभरा हुआ होता है। गुर्दे के ऊपर चर्बी चढ़ी रहती है और इसके ऊपर एक बिना नली की गिल्टी रहती है। चूँकि यह गुर्दे या वृक्क के ऊपर है इस कारण इस गिल्टी को उपवृक्क की गिल्टी (Supra Renal bodies) कहते हैं। गुर्दे के गड्ढे वाले हिस्से में से हो कर एक रक्त धमनी (Renel Artery) गुर्दे में जाती है और एक शिरा (Renal Vein) बाहर निकलती है। मूत्र की नाली (Ureter) भी यहीं से निकलती है और मूत्र की थैली (Bladder) से जा कर जुड़ जाती है।

मूत्र की थैली—(Bladder) यह स्वाधीन मांस-पेशियों से बनी हुई एक थैली है और बस्तिगह्वर (Pelvic Region) में स्थित है। इसमें दोनों

गुर्दों से मूत्र दोनों नलियों के द्वारा आ कर भरता है। भर जाने के बाद मांस-पेशियों के सुकड़ने से मूत्र मूत्राशय (ureter) के द्वारा निकल जाता है। गुर्दे का जो हिस्सा रीढ़ की ओर होता है उधर के गड्ढे से निकल कर मूत्र की नलियाँ (ureter) मूत्र की थैली (Bladder) से जा कर मिलती हैं। यह करीब १०½" या १२" लम्बी होती हैं। गुर्दे से जो सिरा जुड़ा होता है वह चौड़ा होता है। इसमें से गुर्दे के अन्दर जा कर कई छोटी-छोटी शाखायें हो जाती हैं जो कि गुर्दे के अन्दर गुंबद के आकार के त्रिकोण से जुड़ती हैं। इनमें से ही मूत्र इन नलियों में आता है।

गुर्दे को यदि दो हिस्सों में उसी प्रकार से काट दिया जावे जिस प्रकार बीज के दोनों टुकड़ों को अलग कर दिया जाता है तो हम देखेंगे कि उभरे हुए हिस्से की तरफ कई त्रिकोण की शक्ल के भाग पाये जाते हैं जिनका नोकदार हिस्सा मूत्र की नाली की तरफ होता है। यह त्रिकोण (Pyramids) कहलाते हैं जिनमें असंख्य बारीक बारीक छिद्र होते हैं। त्रिकोण बहुत सी बारीक-बारीक नलियों के पास-पास मिलने से बनते हैं और जो अनेकों छिद्र दिखलाई पड़ते हैं वह इन नलियों के मुँह होते हैं जो कि मूत्र की नाली की शाखाओं में जा कर मिलते हैं। इस प्रकार गुर्दे में असंख्य नलियाँ होती है। इनके अतिरिक्त गुर्दे में गुर्दे की धमनी (Renal Artery) होती है जो कि बारीक-बारीक केशिकाओं में बँटी हुई हैं। गुर्दे की शिरा (Renal Vein), लसिका की केशिकाएँ और स्नायु सूत्र भी गुर्दे में रहते हैं। गुर्दे की धमनी और शिरा में तथा शरीर की दूसरी धमनी और शिरा में अन्तर है। गुर्दे की धमनी में अशुद्ध रक्त अर्थात् यूरिया तथा यूरिक ऐसिड युक्त रक्त होता है जो कि सारे शरीर से इकट्ठा हो कर गुर्दे के अन्दर छन जाने के लिए आता है और इन विकारों के निकल जाने के बाद गुर्दे की शिरा में जाता है। इस प्रकार इस शिरा में शुद्ध रक्त होता है।

गुर्दे के अन्दर बहुत सी बारीक-बारीक नलियाँ होती हैं जो केवल अनुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से ही देखी जा सकती हैं। यह नालियाँ सीधी नहीं होती हैं परन्तु मुड़ी हुई लहरियेदार होती हैं। इनके चारों ओर अनेकों बारीक-बारीक खून की केशिकाओं का जाल रहता है जो कि नलियों

से बंधक तंतुओं (Connective tissues) के द्वारा बँधी रहती हैं। यह नलियाँ गुर्दे की पीठ वाले हिस्से (Cortex) की ओर से शुरू होती हैं और चक्कर लगाती हुई त्रिकोण वाले भाग में चली जाती हैं। खून में से विकार छन-छन कर इन्हीं नलियों में जाता है।

गुर्दे में रक्त का स्वच्छ होना—रक्त महाधमनी (Aorta) की शाखाओं, प्रशाखाओं में होता हुआ एक धमनी के द्वारा दोनों गुर्दों में पहुँचता है। यह रक्त विकार युक्त होता है। गुर्दे में जा कर यह धमनी अनेकों केशिकाओं में बँट जाती है। यह केशिकाएँ गुर्दे के अन्दर की नलियों के बिलकुल पास-पास होती है और नलियों के चारों ओर जाल सा फैलाये हुए हैं। केशिकाओं की पतली दीवार से छन छन कर यूरिया तथा यूरिक ऐसिड लसीका की केशिकाओं में चला जाता है और वहाँ से छन-छन कर गुर्दे की नलियों में जाता है। रक्त की केशिकाओं में से पानी का बहुत सा भाग मूत्र के रूप में नलियों में जाता है। पतली-पतली नलियों में से हो कर यह तरल विकार युक्त पदार्थ या मूत्र बड़ी नली में पहुँचता है और वहाँ से हो कर मूत्र की थैली (Bladder) में इकट्ठा हो जाता है।

इस प्रकार गुर्दे छलनी का काम करते हैं और रक्त तथा लसीका में से विकारों को छान कर बाहर कर देते हैं।

मूत्र में पाये जाने वाले विकार—मूत्र में पानी में घुले हुए नाइट्रोजन (Nitrogen) से बने हुए पदार्थ, जैसे यूरिया (Urea) और यूरिक एसिड (Uric acid) जो कि जिगर और मांस-पेशियों में बनते हैं, होते हैं। मूत्र का रंग हलके पीले रंग का होता है परन्तु ज्वर की दशा में गहरे पीले रंग का हो जाता है। किसी बीमारी में, जैसे मधुमेह (Diabeties) में मूत्र में शक्कर भी आती है और कभी-कभी एलब्यूमन (Albumen) भी आता है। मूत्र के द्वारा यदि यूरिया तथा यूरिक ऐसिड शरीर के बाहर किसी कारणवश नहीं निकलते हैं तो गठिया नामक रोग हो जाता है जिसमें यूरिक ऐसिड जोड़ों पर जा कर इकट्ठा हो जाता है। इससे जोड़ों में सूजन हो जाती है और बहुत अधिक पीड़ा होती है। रोगी चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। यदि ठीक

प्रकार से चिकित्सा और परहेज़ न किया जावे तो दिल पर यूरिक ऐसिड के जम जाने से मृत्यु होने तक की सम्भावना होती है।

त्वचा (Skin)

हमारा सारा शरीर त्वचा से ढका हुआ है, और यह हमारे कई कार्य करती है।

त्वचा के काम—(१) यह हमारे शरीर की मांस पेशियों की रक्षा करती है।

(२) यह शरीर के विकारों को पसीने की शक्ल में बाहर निकालती है।

(३) त्वचा शरीर के तापमान (Temperature) को ठीक दशा में रखती है।

(४) यह हमारी शरीर की ज्ञानेन्द्रियों में से एक है और स्पर्श का अनुभव कराती है।

त्वचा की दो तहें होती है। ऊपर की तह को Epidermis कहते हैं। और अंदर की तह को Dermis कहते हैं।

बाहरी त्वचा (Epidermis)—बनावट—यह सारे शरीर को ढके हुए है और बाहरी हिस्से के ढकने वाले सेलों (Epithelial Cells) से बनी हुई है। इसका रंग हर मनुष्य में अलग-अलग है। किसी का रंग काला और किसी का गोरा होता है। रंग की भिन्नता जलवायु पर निर्भर है। गर्म देशों के मनुष्य काले और ठंडे देशों के रहने वाले गोरे होते हैं। इसका असल कारण यह है कि बाहरी त्वचा के नीचे रंग देने वाले कण पाये जाते हैं। गोरे मनुष्यों में रंगों के कण संख्या में कम होते हैं और काले मनुष्यों में अधिक होते हैं। यह रंग देने वाले कण हमारे शरीर की गर्मी से रक्षा करते हैं और यही कारण है कि काले मनुष्यों को गोरे मनुष्यों की अपेक्षा कम गर्मी लगती है। ऊपरी त्वचा की मोटाई शरीर के सब स्थानों में एक सी नहीं है। इसकी मोटाई चेहरे पर सब से कम और पैर की एड़ी में सब से अधिक होती है। इसके सेल बराबर घिसते रहते हैं और उनकी जगह पर दूसरे सेल आ

जाते हैं। इसमें रक्त की नलियाँ नहीं होती है इसी कारण बाहरी त्वचा के कट जाने पर रक्त नहीं निकलता है। इसके सेल लसीका की नलियों से अपना पोषक पदार्थ लेते हैं जो कि भीतरी त्वचा में स्थित लसीका की नलियों में से निकलता रहता है। इसमें स्नायु सूत्र भी नहीं होते हैं जिसके कारण ऊपरी त्वचा के कट जाने से पीडा का अनुभव भी नहीं होता है। हमारे शरीर पर बहुत से रोयें या बाल दिखाई देते हैं। यदि हम अनुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से देखें तो हमारे सारे शरीर में असंख्य बारीक-बारीक छिद्र हैं जिनमें से यह बाल या रोएँ निकले हुए हैं। इन्हीं छिद्रों (Pores) के रास्ते हमारे शरीर का विकार पसीने के रूप में बाहर निकला करता है।

हमारे शरीर के कुछ भागों में श्लैष्मिक झिल्ली (Mucus membrane) पाई जाती है जैसे मुँह के भीतरी भाग में, होठों पर और पलकों के भीतरी भाग में तथा नाक के अन्दर इत्यादि। श्लैष्मिक झिल्ली बहुत ही बारीक झिल्ली है और इसमें बहुत शीघ्र प्रभावित हो जाने का गुण है। कोई हलका रासायनिक पदार्थ अथवा दवा जिसका बाहरी त्वचा पर कोई असर नहीं पड़ता है यदि श्लैष्मिक झिल्ली वाले स्थानों पर डाल दी जावे तो वह स्थान एकदम प्रभावित हो जायेगा।

भीतरी त्वचा (Dermis)—बनावट—यह त्वचा ऊपरी त्वचा के नीचे पाई जाती है और बन्धक तन्तु (Connective Tissue) के द्वारा बनी हुई है जो कि ऊपर की तरफ तो एक दूसरे से मजबूती से बँधे हैं परन्तु नीचे हलके बँधे हैं। इन तन्तुओं के निचले भाग में चर्बी पाई जाती है जिससे शरीर में गर्मी और शक्ति रहती है। इन तन्तुओं के नीचे एक और प्रकार के तन्तु पाये जाते हैं जो (Sub-cutaneous Tissue) कहलाते हैं। यह तन्तु आपस में मजबूती से नहीं बँधे हैं और इनमें चर्बी की मात्रा भी अधिक होती है जो कि शरीर के भीतरी हिस्सों के गड्ढों को भर कर शरीर को एक जैसा और चिकना दिखाते हैं। भीतरी त्वचा में स्नायु सूत्र, रक्त की केशिकाएँ और लसीका की नलियाँ भी होती हैं। भीतरी त्वचा की ऊपरी सतह पर लम्बे-लम्बे उँगलियों की तरह के उभार पाये जाते हैं। यह एक दूसरे से बराबर की दूरी पर एक लाइन में होते

हैं। प्रत्येक उभार के बीच में रक्त की केशिकाओं का एक गुच्छा और स्नायु सूत्रों का समूह भी रहता है। हमारी त्वचा स्पर्श का अंग है और स्पर्श का अनुभव उन स्नायु सूत्रों द्वारा होता है जो उभारों के बीच में रहते हैं। जिन स्थानों में उभारों की संख्या अधिक होती हैं जैसे तलुवे में, वे भाग स्पर्श से बहुत शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। ऐसे स्थानों पर बाहरी त्वचा (Epidermis) पतली होती है। भीतरी खाल में दो प्रकार की गिल्टियाँ पाई जाती हैं।

(१) एक प्रकार की गिल्टियाँ चिकनाई या तेल जैसा पदार्थ निकालती हैं। यह गिल्टियाँ (Sebaecous glands) कहलाती है। यह शरीर के बाल या रोओं के नीचे स्थित हैं।

(२) पसीने की गिल्टियाँ (Sweat glands)—पसीने की गिल्टियों से हमारे शरीर के अन्दर का विकार पसीने के रूप में निकलता है। पसीने में तीन वस्तुएँ होती हैं—जल, सोडियम क्लोराइड (Sodium chloride) या Common salt और यूरिया (Urea)। पसीने की गिल्टी का रूप एक नाली की तरह है और इसका निचला हिस्सा भीतरी त्वचा के नीचे के हिस्से में रहता है। यह नीचे का हिस्सा जिस प्रकार सर्प कुंडली मार कर बैठता है उस तरह का होता है और चारों ओर से रक्त की केशिकाओं से घिरा रहता है। रक्त की केशिकाओं की दीवारें अत्यन्त बारीक सैलों से बनी होती है जिनमें से छन-छन कर पसीना इन गिल्टियों में चला जाता है और पसीने के रूप में बाहरी त्वचा में जो रोम-छिद्र होते हैं उनके रास्ते से बाहर निकलता है। कभी-कभी पसीना त्वचा पर निकलते ही उड़ जाता है और दिखाई नहीं देता है। जब पसीना अधिक मात्रा में निकलता है तो शरीर पर पानी की बूँदों के रूप में दिखलाई पड़ता है। पसीने का कम और अधिक होना कई बातों पर निर्भर है :—

(१) मौसम—गर्मियों में अधिक पसीना निकलता है।

(२) मेहनत और व्यायाम—अधिक दौड़ने या कठिन परिश्रम करने से भी शरीर से पसीना अधिक मात्रा में निकलता है क्योंकि रक्त की केशिकाएँ फैल जाती है और रक्त तेजी से बहने लगता है। इस प्रकार पसीना भी अधिक

निकलता है।

पसीने से लाभ—(१) पसीने से शरीर ठंडा रहता है—जब ग्रीष्म में अथवा कठिन परिश्रम या व्यायाम के बाद पसीना शरीर के ऊपर आता है तो वह भाप बन कर उड़ जाता है। भाप बनने के लिए शरीर से ताप लेता है। इस प्रकार शरीर का ताप कम हो जाने से शरीर को शीतलता मिलती है।

(२) शरीर के विकार बाहर निकल जाते हैं। यदि किसी प्रकार से शरीर का पसीना निकलना बन्द हो जावे तो एक तो गुर्दों को दुगना काम करना पड़ जायेगा, दूसरे शरीर के विकार पूरी मात्रा में न निकलने के कारण शरीर रोग-ग्रस्त हो जावेगा।

(३) शरीर का तापक्रम एक सा रहता है यानी स्वास्थ्य की अवस्था में "९८·४" रहता है।

नाखून और बाल—यह दोनों चीज़ें बाहरी त्वचा (Epidermis) से ही बनती है। इनमें बाहरी त्वचा के सेल कड़े पड़ जाते हैं और इस प्रकार उनकी शक्ल बदल जाती है। यह सेल बहुत जल्द बढ़ते हैं। नाखून की जड़ में भीतरी त्वचा रहती है। इसमें बहुत सी रक्त की नलियाँ भी रहती है। यही कारण है कि कभी-कभी बहुत गहरा नाखून कट जाने से रक्त बहने लगता है। पीछे की तरफ के सेल आगे को बढ़ते जाते हैं और कठिन पड़ते जाते हैं। इस प्रकार से नाखून बढ़ते रहते हैं।

बाल—यह बाहरी खाल से पैदा होते हैं। बाल की जड़ में एक बहुत बारीक सा सूराख होता है और सूराख एक गिल्टी में खुलता है जिसमें से एक प्रकार का तेल जैसा पदार्थ निकलता रहता है जो बालों को मुलायम और चिकना रखता है और उनको पोषक पदार्थ देता है। प्रत्येक बाल का सम्बन्ध एक स्वाधीन मांसपेशी से है। इसी की गति के कारण अर्थात् सुकड़ने के कारण हमारे शरीर के रोयें खड़े हो जाते हैं।

स्वच्छता—त्वचा के विषय में पढ़ने से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि शारीरिक स्वच्छता कितनी आवश्यक है। यदि हमारी त्वचा स्वच्छ न रहेगी तो उसके ऊपर धूल, ऊपरी त्वचा के सेल और पसीना सब मिला

कर एक ऐसी तह-सी बना देंगे कि त्वचा के रोम छिद्र बन्द हो जावेंगे। इस प्रकार की अस्वच्छता के कारण कई प्रकार के रोग कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं जैसे सिर के बालों में जूँ, शरीर में खुजली इत्यादि। त्वचा के अनेकों प्रकार के रोग और फोड़े फुंसी होने लगेंगे। जब पसीना त्वचा के द्वारा न निकलेगा तो गुर्दे को अपने कार्य के साथ-साथ त्वचा का विकार निकालने का काम भी करना पड़ेगा जिससे एक तो शरीर के पूरे-पूरे विकार निकल न सकेंगे, दूसरे दुगुना कार्य पड़ने से गुर्दे को भी हानि पहुँचती है। तीसरी बात है कि शरीर का तापक्रम भी बढ़ जावेगा। इस कारण अपनी त्वचा को प्रतिदिन अच्छी प्रकार से स्नान करके स्वच्छ रखना चाहिये, केवल शरीर ही नहीं अपितु अपने सिर और बालों को भी। स्नान जाड़ों में एक बार परन्तु ग्रीष्म ऋतु में जब कि पसीना अधिक निकलता है तो दो बार प्रातः और सायं करना चाहिये।

शारीरिक तापक्रम को बनाये रखना (Maintenance of Body Heat)—शरीर के वह तन्तु जिनमें किसी प्रकार की रासायनिक क्रिया होती है, गर्मी उत्पन्न करते है। शरीर की मास पेशियाँ, गिल्टियाँ और स्नायु-केन्द्रों में रासायनिक क्रिया के साथ-साथ गर्मी भी उत्पन्न होती है। शारीरिक तन्तुओं में कार्बन की मात्रा अधिक होती है और आक्सीजन के सम्पर्क में आने से कार्बन डाइ आक्साइड और गर्मी उत्पन्न होती है। इस कारण जितना अधिक कार्य यह अंग करेंगे उतनी ही अधिक गर्मी उत्पन्न होगी। हमारे शरीर में अधिक या कम गर्मी का उत्पन्न होना भोजन के तत्त्वों पर निर्भर है। प्रोटीन युक्त भोजन से अधिक श्वेतसार पदार्थों से गर्मी उत्पन्न होती है और वसा से तो सब से अधिक गर्मी उत्पन्न होती है। यही कारण है कि शीत ऋतु में हम अधिक चिकनाई-युक्त भोजन करते हैं; जैसे—मेवे, घी, तेल से तली हुई वस्तुएँ; परन्तु गर्मी की ऋतु में ऐसी वस्तुओं की अधिकता से पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है। भोज्य-पदार्थों के द्वारा हमारे शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है परन्तु शारीरिक तापक्रम को स्थिर रखने के लिए शरीर की गर्मी का निकलना भी आवश्यक है। पसीने के द्वारा भी शरीर की गर्मी निकलती है परन्तु जाड़े में जब कि पसीना नहीं

निकलेगा तब तापक्रम इस प्रकार स्थिर रहता है कि शरीर का ताप आस-पास की वायु से अधिक गर्म होता है। वह वायु शरीर के सम्पर्क में आने से गर्मी को खींच लेती है और इस प्रकार शारीरिक तापक्रम ९८.४° रहता है।

जाड़ों में वायु के अधिक ठंडे होने से शारीरिक गर्मी को बचाने के लिए हम लोग मोटे ऊनी कपड़े पहनते हैं। यदि ऊनी कपड़े न पहनें तो शीत ऋतु में ठंड से शरीर काँपने लगता है और रोएँ खड़े हो जाते हैं क्योंकि मांस-पेशियाँ सुकड़-सुकड़ कर गर्मी उत्पन्न करती है और रक्त की नालियाँ खाली होती हैं तथा सिकुड़ती रहती हैं। जब कि रक्त त्वचा की केशिकाओं में शीघ्रता से बहता है जैसे कि व्यायाम या कठिन परिश्रम से, तो हम गर्मी का अनुभव करते हैं। इस प्रकार शरीर का तापक्रम स्नायु संस्थान के द्वारा भी संचालित होता है क्योंकि रक्त के बहने का और मांस-पेशियों का स्नायु-संस्थान से भी सम्बन्ध है।

अध्याय ९

रक्त परिभ्रमण संस्थान

रक्त की बनावट (The Composition of Blood)—रक्त एक प्रकार का तरल पदार्थ है जो कि शरीर के प्रत्येक भाग में पाया जाता है। रक्त ही हमारा जीवन है। यह शरीर को पुष्ट रखता है। रक्त में तीन मुख्य वस्तुएँ पाई जाती हैं (१) लाल रक्त कण (२) श्वेत रक्त कण और (३) हलके पीले रंग का तरल पदार्थ जिसको रक्तवारि (Plasma) कहते हैं।

लाल रक्त कण—यदि इनको हम अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखें तो प्रत्येक लाल रक्तकण जो लाल दिखाई देता है असल में पीला सा होता है परन्तु रक्त कणों के बहुत अधिक संख्या में होने के कारण रक्त लाल लगता है। रक्त कण अत्यन्त सूक्ष्म हैं और हम अपनी आँखों से इनको नहीं देख सकते हैं। ये केवल अनुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से ही देखे जा सकते हैं। लाल रक्त कण के ऊपर एक तरह का लचकीला खोल चढ़ा रहता

है। यह कण गोल होते हैं और दोनों ओर से कुछ पिचके से रहते हैं। इनके अन्दर एक प्रकार का रासायनिक पदार्थ भरा रहता है। इस रासायनिक पदार्थ को (Haemoglobin) कहते हैं। इन (Haemoglobin) में आक्सीजन ले लेने की शक्ति होती है। लाल रक्त कण हड्डी के अन्दर की मजा में बनते हैं परन्तु जन्म के पहले ये कण जिगर और प्लीहा में ही बनते हैं। लाल रक्त कणों के बीच में न्यूक्लियस (Neucleus) नहीं होता है।

लाल रक्त कणों का कार्य—जो वायु हम श्वास में लेते हैं उसमें से रक्त आक्सीजन ग्रहण करता है और सारे शरीर में दौरा करते समय शरीर के तन्तु और सैलों को आक्सीजन दे देता है। शरीर के अन्दर जो बराबर क्रियाएँ होती रहती हैं जैसे मांस-पेशियाँ सुकड़ती हैं और फैलती हैं, दिल धड़कता रहता है, आमाशय अपना काम रहता है और गुर्दे अपना कार्य करते हैं, इन सब गति व क्रियाओं के होने से तन्तु व सैल घिसते रहते हैं। इनके घिसने व छीजने से जो विकार उत्पन्न होते हैं उनमें एक कार्बन डाइ आक्साइड भी है। रक्त जब शरीर में दौरा करता है तो लाल रक्त कण आक्सीजन के बदले में कार्बन डाइ-आक्साइड ले लेते हैं और जब अशुद्ध रक्त फेफड़ों में पहुँचता है तो श्वास के द्वारा उसे बाहर निकाल देते हैं।

श्वेत रक्त कण—श्वेत रक्त कणों का कोई विशेष रंग नहीं होता है। इनका आकार भी कोई विशेष नहीं है। इनका आकार एक बहुत सूक्ष्म जन्तु के समान होता है जो कि तालाब में तैरता है और अमीबा कहलाता है। यह संख्या में लाल रक्त कणों की अपेक्षा बहुत कम होते हैं। प्रायः ५०० लाल रक्त कण के पीछे एक सफेद रक्त कण होगा। यह अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक होते हैं तथा रक्त की केशिकाओं की दीवार से जो कि बहुत बारीक होती हैं, बाहर निकल आते हैं। यह अस्थि के अन्दर की मज्जा, प्लीहा, आँतों के तन्तुओं में और लसीका की गिल्टियों में बनते रहते हैं।

श्वेत रक्त कणों के कार्य—शरीर के अन्दर जो विकार अथवा रोग के कीटाणु प्रवेश करते हैं तो ये उनके चारों ओर इकट्ठे हो कर उनको खा जाते हैं और इस प्रकार रोग से हमारी रक्षा करते हैं। यदि हमारा शरीर अस्वस्थ

अथवा दुर्बल होता है तो रक्त कण भी दुर्बल होते हैं। ऐसी अवस्था में रोग के कीटाणु प्रबल हो कर शरीर को रोग-ग्रस्त कर देते हैं।

रक्त वारि (Plasma)—यह एक प्रकार का तरल पदार्थ है जिसमें लाल और श्वेत रक्त कण तैरते रहते हैं। इस तरल पदार्थ का रंग हलके पीले रंग का होता है। इसका अधिकांश पानी है और इसका १०% अंश रासायनिक पदार्थ होते हैं जैसे प्रोटीन (Protein) बसा (fats) और लवण इत्यादि। इसमें कई प्रकार की गैसें जैसे कार्बन डाइ-आक्साइड, आक्सीजन, नाइट्रोजन मिली रहती हैं तथा शरीर के विकार जैसे यूरिया तथा यूरिक एसिड भी मिले रहते हैं जो कि गुर्दे में से छन कर मूत्र तथा पसीने के साथ शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

रक्त के काम—रक्त के अनेक कार्य हैं। रक्त ही हमारा जीवन है। यदि हमारा रक्त स्वस्थ अवस्था में है तो शरीर में बहुत शीघ्र कोई रोग होने की सम्भावना नहीं रहती है। रक्त शरीर में भोजन से बनता है परन्तु भोजन ऐसा होना चाहिए जिससे स्वस्थ रक्त बन सके। स्वस्थ रक्त बनने के लिए हमको ऐसा भोजन करना चाहिये जिसमें कि भोजन के छहों तत्त्व पाये जावें अर्थात् उसमें प्रोटीन, श्वेतसार, लवण, बसा, जल और विटामिन हों। रक्त का शुद्ध होना भी अत्यन्त आवश्यक है इसलिए शुद्ध और स्वस्थ रक्त के लिए शुद्ध वायु का होना भी आवश्यक है।

रक्त हमारे शरीर के सारे अवयवों, तन्तुओं और सैलों को आक्सीजन देता है और उनकी आवश्यकता के अनुसार पोषक पदार्थ भी देता है तथा तन्तुओं और सैलों से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस और यूरिया तथा यूरिक ऐसिड को शरीर के बाहर निकालने में सहायक होता है।

रक्त का जमना—रक्त जब हवा के सम्पर्क में आता है तो वह जम जाता है। इस प्रकार यदि किसी जगह के कट जाने से रक्त निकलने लगता है, तो जब हवा लगती है तो वह जम जाता है। इस प्रकार रक्त के जम जाने से हमारे जीवन की रक्षा होती है क्योंकि इस प्रकार घाव का मुँह बन्द हो जाता है; अन्यथा अधिक रक्त बह जाने से मृत्यु हो जाने का भी भय रहता है।

रक्त जम जाने से एक और लाभ है कि जीवाणु इत्यादि घाव में हो कर अन्दर नहीं जाने पाते हैं। शुद्ध रक्त लाल रंग का और चमकीला होता है। विकार युक्त अथवा अशुद्ध रक्त थोड़ा नीलापन लिये हुए होता है। रक्त वारि में एक प्रकार का प्रोटीन जो फाइब्रीनोजन (Fibrinogen) कहलाता है हवा के सम्पर्क में आने के कारण जम जाता है जो कि फाइब्रिन (Fibrin) कहलाता है। फाइब्रिन (Fibrin) में एक प्रकार के रेशों का जाल-सा बन जाता है जिसमें रक्त कण फँस जाते हैं। वे इस प्रकार जम कर घाव का मुँह बन्द कर देते हैं।

रक्त भ्रमण (Circulation of Blood)—रक्त शरीर में किस प्रकार भ्रमण करता है यह जानना अति आवश्यक है। इस बात को जानने के पहले हमको रक्त भ्रमण के कार्य में जो अंग काम करते हैं उनके विषय में जान लेना आवश्यक है। रक्त भ्रमण में निम्नलिखित अंग कार्य करते हैं—

हृदय (Heart), धमनी (Artery), शिरा (Vein), केशिकाएँ (Capillaries) तथा लसिका की गिल्टियाँ और नलियाँ।

शरीर में हृदय का महत्त्व बहुत अधिक है। जब तक हृदय अपना कार्य करता रहता है हमारे शरीर में जीवन के लक्षण रहते हैं किन्तु जैसे ही हृदय अपना कार्य करना बन्द कर देता है व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। हृदय बराबर गति करता रहता है अर्थात् सुकड़ता है और फैलता है। हृदय की इस गति को हृदय की धड़कन कहते हैं। इस धड़कन को हम नाड़ी से ज्ञात करते हैं। इसी क्रिया के द्वारा हृदय रक्त को रक्त नलिकाओं के द्वारा शरीर के सब अवयवों, तन्तुओं और सैलों में भेजता है।

हृदय स्वाधीन मांसपेशियों से बना है और आकार में हर एक मनुष्य की बँधी हुई मुट्ठी के बराबर होता है। यह छाती में दोनों फेफड़ों के बीच में स्थित है। इसका नीचे का हिस्सा थोड़ा नोकीला और बाईं ओर को झुका रहता है। हृदय एक बारीक दोहरी झिल्ली से ढका रहता है। इस झिल्ली को पेरीकार्डियम (Pericardium) कहते हैं। इस झिल्ली में से एक प्रकार का तरल पदार्थ निकलता रहता है जो कि हृदय को चिकना रखता है। हृदय अन्दर से

एक मोटे मांस के पर्दे से दो भागों में बँटा हुआ है जो कि दाहिना और बायाँ भाग कहलाता है। दाहिने और बाएँ भाग में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। दाहिना और बायाँ भाग भी दो दो हिस्सों में बँटे हुए हैं। ऊपर के हिस्से नीचे के हिस्सों से छोटे होते हैं और बाएँ तथा दाएँ ग्राहक कोष्ठ (Left and Right Auricles) कहलाते हैं। नीचे के हिस्से बाएँ और दाहिने क्षेपक कोष्ठ (Left and Right Ventricles) कहलाते हैं। इस प्रकार हृदय में चार कोष्ठ होते हैं। बाएँ और दाहिने ग्राहक कोष्ठ से बाएँ और दाहिने क्षेपक कोष्ठ में रक्त के जाने का मार्ग रहता है जिसमें बहुत पतले-पतले किवाड़ जो कि सौभिक तन्तु के बने होते हैं, लगे रहते हैं। यह किवाड़ नीचे की तरफ तो खुलते हैं परन्तु यदि रक्त नीचे से ऊपर की ओर अर्थात् क्षेपक कोष्ठ (Ventricles) से ग्राहक कोष्ठ (Auricles) में जाना चाहे तो नहीं खुलते हैं। इन दरवाजों में दाहिनी ओर तीन तिकोनी शकल के किवाड़ लगे हैं और बाईं ओर दो कोने के किवाड़ लगे हैं। तीन कोने के किवाड़ ट्राईक्सपिड वाल्व (Tricuspid Valve) कहलाते हैं और दो कोने के बाईक्सपिड वाल्व (Bicuspid Valve) कहलाते हैं। इन किवाड़ों (Valves) की विशेषता यह है कि इनमें इस प्रकार के बन्धन लगे हैं जो कि इनको ग्राहक कोष्ठ में खुलने नहीं देते हैं। इससे रक्त वापिस ग्राहक कोष्ठ में नहीं जाने पाता है। बाएँ भाग के कोष्ठ की दीवारें दाहिने भाग की दीवारों से अधिक मोटी व दृढ़ होती है क्योंकि इस भाग में शुद्ध रक्त आता है। हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ (Left auricles) में दोनों फेफड़ों से दो-दो शिराएँ शुद्ध रक्त ला कर डालती हैं। इनको पलमनरी शिरा (Pulmonery Veins) कहते हैं। हृदय के बाएँ क्षेपक कोष्ठ (Left Ventricles) से शुद्ध रक्त को महाधमनी (Aorta) ले कर सारे शरीर में पहुँचाती है। हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ (Right auricles) में शरीर के ऊपरी भाग से विकार युक्त अशुद्ध रक्त एक बड़ी शिरा द्वारा पहुँचाया जाता है। इसको ऊपरी महाशिरा कहते हैं। इसी प्रकार शरीर के नीचे के भाग से जो अशुद्ध रक्त ला कर दाहिने ग्राहक कोष्ठ में डालती है वह नीचे की महाशिरा कहलाती हैं। हृदय के दाहिने क्षेपक कोष्ठ से विकार युक्त अशुद्ध रक्त को फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए

पहुँचाने वाली एक धमनी है जो पलमनरी धमनी (Pulmonery Artery) कहलाती है। यह हृदय के बाहर जा कर दो शाखाओं में बँट जाती है और रक्त को दाहिने और बाएँ फेफड़े में शुद्ध करने के लिए ले जाती है। हृदय का संचालन स्नायु संस्थान के अधीन है।

धमनी (Artery)—रक्त नलिकाएँ जो हृदय से रक्त ले कर शरीर के अंगों की ओर जाती है, उनको धमनी कहते हैं। अधिकतर तो धमनियों में शुद्ध रक्त ही बहता है परन्तु केवल पलमनरी धमनी (Pulmonery Artery) में अशुद्ध रक्त रहता है जो कि वह हृदय से ले कर फेफड़ों में शुद्ध करने के लिये ले जाती है। धमनी की दीवारें स्वाधीन मांसपेशियों से बनी हैं परन्तु इनका संचालन भी स्नायु संस्थान के अधीन है। धमनी की दीवारें मोटी होती हैं क्योंकि रक्त हृदय से तेजी के साथ धमनी की ओर बहता है। यदि दीवारें पतली होतीं तो धमनियों के फट जाने का डर रहता। धमनी के अन्दर की बनावट भी इस प्रकार की होती है जैसे हृदय की। रक्त हृदय से शरीर की ओर ही बहता है परन्तु हृदय की ओर उलट कर नहीं बह सकता है इसका कारण धमनियों के अन्दर जो कपाट (Value) लगे हैं, उनकी बनावट है। इनके अन्दर तीन अर्धचन्द्र की तरह के पर्दे से लगे रहते हैं जो कि रक्त को उलटी दिशा में नहीं जाने देते हैं। धमनियाँ अनेकों शाखा प्रशाखाओं में बँट जाती हैं जो कि फिर इतनी बारीक हो जाती हैं कि शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग में भी पहुँच सकें। इन बारीक धमनियों को केशिकाएँ कहते हैं। शरीर की सबसे बड़ी धमनी महाशिरा (Aorta) कहलाती है।

शिराएँ (Veins)—रक्त नलिकाएँ जो शरीर से विकार युक्त और दूषित रक्त ला कर हृदय की ओर आती हैं, शिरा (Vein) कहलाती है। केवल चार शिराएँ जो पलमनरी शिराएँ (Pulmonery Veins) कहलाती है, फेफड़ों से शुद्ध रक्त ला कर हृदय के बायें ग्राहक कोष्ठ में डालती हैं। अन्य सब शिराओं में अशुद्ध रक्त बहता है। शिराएँ भी स्वाधीन मांसपेशियों से बनी हैं और स्नायु संस्थान के अधीन हैं। इनकी दीवारें धमनी की दीवारों की अपेक्षा पतली होती है। शिराओं के अन्दर भी इस प्रकार के कपाट लगे हैं जो

कि रक्त को एक ही दिशा की ओर बहने देते हैं। बारीक-बारीक केशिकाओं के मिलने से शिरायें बनती है। शिराओं में रक्त धीरे-धीरे हृदय की ओर बहता है। शरीर में दो बड़ी शिराएँ हैं ऊपरी महाशिरा (Superior Vena Cava) और नीचे की महाशिरा (Inferior Vena Cava)। यह दोनों शरीर का अशुद्ध रक्त ला कर हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में डालती हैं।

केशिकाएँ (Capillaries)—शरीर का कोई भी हिस्सा यदि कट जावे तो रक्त निकलने लगता है। शरीर का ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ रक्त न हो। धमनियाँ अनेकों शाखा प्रशाखाओं में बँटते-बँटते बहुत ही बारीक नलिकाओं में जाती हैं तब वह बारीक नलिकाएँ केशिकाएँ कहलाती है। केशिकाएँ धमनी और शिराओं के मध्य में पाई जाती है अर्थात् धमनी केशिकाओं में बँट जाती है और बारीक-बारीक केशिकाओं के मिलने से शिराएँ बन जाती है। केशिकाओं की दीवारें अत्यन्त सूक्ष्म सैलों की बनी होती है और उनमें मांस पेशियाँ नहीं होती हैं। यह नलियाँ इतनी बारीक होती जाती हैं कि किसी किसी जगह की केशिका यन्त्र की सहायता से ही देखी जा सकती है। केशिकाओं की पतली दीवारों से ही रक्त का पोषक पदार्थ जो लसीका कहलाता है, लसीका की नलियों में जाता है और सैलों को पोषक पदार्थ देता है। श्वेत रक्त कण भी केशिकाओं की दीवारों में से बाहर निकल आते हैं और बाहर से आये हुए जीवाणुओं का नाश करते हैं। इसी प्रकार रक्त में से विकार जैसे यूरिया और यूरिक एसिड गुर्दे में केशिकाओं की दीवार में से छन जाते हैं। कार्बन डाइ-आक्साइड भी फेफड़ों में केशिकाओं की दीवार से छन कर श्वास के साथ बाहर निकल जाता है। इस प्रकार केशिकाएँ छलनी का काम करती हैं।

लसीका की गिल्टियाँ (Lymphatic Glands)—रक्त में एक पदार्थ और होता है जो लसीका कहलाता है। लसीका में वह सब पदार्थ पाये जाते हैं जो कि हम भोजन में खाते हैं अर्थात् प्रोटीन (Protein), वसा अथवा चिकनाई (fats), शक्कर (Sugar) और खनिज पदार्थ (mineral salts)। शरीर के सैल लसीका से ही अपनी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ लेते हैं और अपने-अपने विकार लसीका को दे देते हैं। रक्त की केशिकाओं के समान

लसीका की भी केशिकाएँ होती हैं। रक्त केशिकाओं की दीवारों में से छन-छन कर लसीका अथवा लसीका नलियों में आता है। लसीका की केशिकाएँ आपस में मिला कर एक बड़ी लसीका की नली बनाती हैं जो (Thoracic duct) कहलाती है और हमारी छाती के बाएँ भाग में जहाँ गर्दन और कन्धे की शिराएँ मिलती है, जाकर मिल जाती है। एक दूसरी नली दाहिनी तरफ की शिरा में मिलती है। लसीका की नली की दीवारें केशिकाओं की दीवारों की अपेक्षा अधिक बारीक होती है और दिखलाई नहीं पड़ती हैं। लसीका की कुछ नलियाँ गिल्टियों से भी निकलती हैं अर्थात् गिल्टी के एक सिरे से भीतर जाती हैं और दूसरी ओर निकलती हैं। लसीका की गिल्टियाँ बगल, जाँघ और गर्दन में पाई जाती हैं। ये लसीका की गिल्टियाँ (Lymphatic glands) कहलाती हैं। इन गिल्टियों में श्वेत रक्त कण बनते हैं। शरीर के विकार और जीवाणु भी गिल्टियों में नष्ट होते हैं। आँतों में लसीका की नलियाँ होती हैं। वह (Lacteals) कहलाती हैं क्योंकि उनके अन्दर के पदार्थ का रंग दूध के समान होता है। इसका कारण यह है कि जो भोजन हम करते हैं उसमें से वसा का बहुत सा अंश उनमें चला जाता है। इस प्रकार लसीका और लसीका की गिल्टियाँ हमारे लिए बहुत आवश्यक अंग हैं।

रक्त संचालन (Circulation of Blood)—रक्त का भ्रमण सब से पहले हृदय से आरम्भ होता है परन्तु पहले यह जानना आवश्यक है कि शुद्ध रक्त कहाँ से आता है। सब से पहले दोनों फेफड़ों से रक्त शुद्ध हो कर चार शिराओं (Pulmonery Veins) के द्वारा हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ (Left auricle) में आता है। जब यह कोष्ठ भर जाता है तब उसकी मांस पेशियाँ सुकड़ने लगती हैं और उस क्रिया से ग्राहक कोष्ठ और क्षेपक कोष्ठ के बीच में लगे हुए कपाट खुल जाते हैं और रक्त बाएँ क्षेपक कोष्ठ (Left Ventricle) में चला जाता है। जब क्षेपक कोष्ठ शुद्ध रक्त से भर जाता है तब उसकी मांस पेशियों के सुकड़ने से रक्त महाधमनी (Aorta) में जाता है। यह धमनी शरीर की सब से बड़ी धमनी है और इसके अन्दर के लगे हुए कपाट रक्त को हृदय की ओर लौट कर नहीं जाने देते हैं तथा धमनी की पेशियों के

सिकुड़ने से रक्त शरीर की ओर ढकेला जाता है। महाधमनी हृदय के ऊपर की ओर जा कर लगभग दो इञ्च की दूरी पर हृदय के पीछे की ओर जाती है। हृदय से निकल कर महाधमनी से तीन बड़ी शाखाएँ निकलती हैं। एक शाखा हँसली के नीचे की हड्डी के नीचे जाकर दो शाखाओं में बँट जाती है और गर्दन के दाहिने भाग की ओर जाती है। यह गर्दन और सिर के दाएँ भाग को रक्त देती है। दूसरी शाखा हँसली के नीचे से हो कर दाहिने हाथ की ओर जाती है। कोहनी के पास पहुँच कर दो शाखाओं में बँट जाती है और दोनों कोहनी के आगे के भाग में जाती हैं। महाधमनी में से निकली हुई दूसरी बड़ी शाखा गर्दन के बाएँ भाग में जाती है और गर्दन तथा सिर के बाएँ भाग को रक्त पहुँचाती है। महाधमनी की तीसरी बड़ी शाखा बाईं हँसली के नीचे से होती हुई बायें हाथ में जाती है और उसके बाद कोहनी के पास आ कर दो शाखाओं में बँट कर अग्रबाहु की ओर जाती है। महाधमनी (Aorta) में से और भी अनेक शाखाएँ निकलती हैं जो छाती की मांस पेशियों, भोजन की नली तथा फेफड़ों इत्यादि को रक्त पहुँचाती हैं।

महाधमनी (Aorta) हृदय के पीछे की ओर गोलाई से मुड़ जाती है और महा प्रचीरा (Diaphgram) पेशी में से होती हुई नीचे को चली जाती है। यहाँ पर शाखाएँ निकल कर आमाशय, जिगर, प्लीहा, आँतों, गुर्दों इत्यादि को रक्त देती हुई वस्तिगह्वर (Pelvic Region) के पास पहुँच जाती हैं। यहाँ आ कर धमनी दो बड़ी शाखाओं में बँट जाती है और यह दोनों बड़ी शाखाएँ भी दो और शाखाओं में बँट जाती हैं। पहली दो शाखाएँ वस्तिगह्वर के अंगों को रक्त पहुँचाती है और दूसरी दोनों शाखाएँ दोनों जाँघों में जाती हैं। घुटने के पास पहुँच कर फिर यह दो भागों में बँट जाती है और पैर के नीचे के भाग की ओर अग्रसर होती है। शरीर के बहुत से भागों में महाधमनी की शाखाएँ, प्रशाखाएँ होती जाती हैं और अंत में यह बहुत ही बारीक रक्त-नलिकाओं में बँट जाती है, जो केशिकाएँ कहलाती है। इस प्रकार रक्त शरीर के प्रत्येक तन्तु व सैल में पहुँचता और पोषक पदार्थ तथा आक्सीजन देता जाता है और विकार अपने में लेता जाता है। शुद्ध रक्त चमकीला और गहरे लाल रंग का होता है

परन्तु सारे शरीर में दौरा करते-करते उसमें विकारों के मिल जाने से रक्त गाढ़ा और थोड़ा नीलापन लिये हुए लाल होता है। अब रक्त को शुद्ध होने की आवश्यकता होती है और इसलिए अब उसे लौट कर हृदय की ओर जाना होता है। रक्त को हृदय की ओर ले जाने का काम शिराओं के द्वारा होता है। केशिकाओं के अंत से शिराएँ आरम्भ हो जाती है। छोटी-छोटी बहुत-सी केशिकाएँ मिल कर पहले छोटी शिराएँ बनाती है। इस प्रकार सिर और गर्दन के दाहिने और बाएँ भाग में शिराएँ निकलती है। ये सब मिल कर एक बड़ी ऊपरी महाशिरा (Superior Vena Cava) बनाती हैं, जो हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में अशुद्ध रक्त ला कर डालती है। इसी प्रकार शरीर के नीचे के भाग से अशुद्ध रक्त लेकर एक बड़ी शिरा जो नीचे की महाशिरा कहलाती है हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में अशुद्ध रक्त डालती है। आमाशय, आँतों, प्लीहा, और क्लोम की शिराएँ मिल कर एक बड़ी शिरा बनाती है जो प्रतिहारिणी शिरा (Portal Vein) कहलाती है और जिगर में पहुँच कर बहुत सी छोटी-छोटी केशिकाओं में बँट जाती है। प्रतिहारिणी शिरा (Portal Vein) आमाशय और आँतों की ओर से आने के कारण पोषक-पदार्थ से भरी होती है और यकृत को पोषक-पदार्थ देती है। इस प्रकार जिगर को शुद्ध रक्त तो धमनी के द्वारा मिलता है और पोषक पदार्थ एक शिरा के द्वारा मिलता है।

जब दाहिना ग्राहक कोष्ठ अशुद्ध रक्त से भर जाता है तब उसकी दीवारों की मांस-पेशियों के सिकुड़ने से ग्राहक और क्षेपक (Aurticle & Ventricles) के बीच में लगे हुए कपाट खुल जाते हैं और रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ में चला जाता है। इसके भर जाने पर अशुद्ध रक्त को फेफड़ों में जाने की आवश्यकता होती है, इसलिए यहाँ से रक्त एक धमनी में, जो फेफड़ों की धमनी (Pulmonery Artery) कहलाती है, जाता है। यह दो शाखाओं में बँट जाती है। एक शाखा दाहिने फेफड़े में जाती है, और दूसरी बाएँ फेफड़े में जाती है। फेफड़ों में जाकर यह धमनी बारीक-बारीक केशिकाओं में बँट जाती है और जब हम श्वास लेते हैं तब केशिकाओं की पतली दीवारों से छन कर कार्बन डाइ आक्साइड वायु में मिल कर श्वास के साथ

बाहर निकल जाती है तथा शुद्ध वायु में से आक्सीजन लाल रक्त कण में से हीमोग्लोबिन नामक पदार्थ अपने में ले लेता है। इस प्रकार विकार निकाल कर आक्सीजन के साथ मिल कर रक्त शुद्ध चमकीले लाल रंग का हो जाता है और दोनों फेफड़ों से चार बड़ी शिराओं के द्वारा शुद्ध रक्त हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ (Left auricle) में पहुँचता है।

हृदय में शुद्ध रक्त भरा रहता है परन्तु उससे हृदय की मांस पेशियों को रक्त नहीं मिलता है। महाधमनी की एक शाखा हृदय के भीतर जाकर केशिकाओं में बँट जाती है और रक्त तथा पोषक पदार्थ देती है।

इस प्रकार रक्त हृदय से निकल कर सारे शरीर का चक्कर लगाने के बाद फिर हृदय में ही लौट आता है। इसी क्रम को रक्त भ्रमण कहते हैं।

हृदय की धड़कन के बारे में यह जानना आवश्यक है कि पहले दोनों ग्राहक कोष्ठ एक साथ रक्त से भरते हैं और फिर एक साथ सुकड़ते हैं फिर दोनों क्षेपक कोष्ठ एक साथ रक्त से भरते और एक साथ सुकड़ते हैं।

हृदय की पेशियों के सुकड़ने और फैलने से ही रक्त धमनियों में जाता है और आगे को बढ़ता है। हृदय के सुकड़ने और फैलने की गति ही हृदय की धड़कन, नाड़ी अथवा नब्ज कहलाती है। यह नाड़ी या धड़कन जन्म से एक साल की आयु तक के बच्चों में एक मिनट में ६० से १२० बार होती है। शिशुओं में एक मिनट में १०० से १३० बार। युवावस्था में ७२ से ८० बार और वृद्धावस्था में और भी कम हो जाती है। रोगावस्था जैसे तीव्र ज्वर की दशा में १६० तक हो जाती है। नाड़ी से मतलब केवल धमनी की गति से ही है, शिरा या केशिका से नहीं।

रक्त परिभ्रमण के प्रमाण—सत्रहवीं शताब्दी में विलियम हार्वे ने सब से पहले यह प्रमाणित किया था कि रक्त शरीर में दौरा करता है। उसके प्रमाण ये थे :—

(१) यदि कोई धमनी कट जावे तो रक्त हृदय की धड़कन की ही तरह एक झोंके के साथ निकलता है।

(२) धमनी का रक्त शुद्ध चमकीला लाल रंग का दिखाई देता है क्यों

कि धमनी हृदय से शुद्ध रक्त लेकर शरीर को पोषक पदार्थ देती है।

(३) धमनी तथा शिराओं में इस प्रकार कपाट लगे हैं कि रक्त एक ही दिशा में बहता है तथा उलटी दिशा में नहीं बहता है।

(४) यदि रक्त की नली में किसी प्रकार का विष पहुँच जावे (जैसे साँप काटने की अवस्था में) तो वह विष सारे शरीर में फैल जाता है।

(५) यदि किसी जीवित मनुष्य के शरीर पर किसी धमनी को बाँध दिया जावे तो वह हृदय की ओर फूल जाती है और दूसरी तरफ से खाली हो जाती है। इसी कारण यदि कहीं पर धमनी से रक्त स्राव होने लगता है तो धमनी पर हृदय की दिशा में दबाव (Pressure) डालने से रक्त बन्द होता है।

(६) यदि जीवित मनुष्य की शिरा को बाँधा जावे तो वह हिस्सा जो हृदय की उलटी तरफ है, फूल जाता है और हृदय की तरफ से खाली हो जाता है इसी कारण जब कोई शिरा कट जाती है तो हृदय की उलटी दिशा की ओर दबाव (pressure) डालने से रक्त का निकलना बन्द हो जाता है।

(७) यदि किसी मेंढक के पैर को जो कि जालीदार होता है यन्त्र से देखा जावे तो रक्त की नलियों में रक्त बहता हुआ दिखाई देता है।

हृदय तथा रक्त की नलियाँ स्वाधीन मांसपेशियों से बनी हैं अर्थात् हमारी इच्छा के अधीन नहीं है परन्तु स्नायु संस्थान के द्वारा संचालित हैं, उदाहरण के लिए डर अथवा घबराहट की अवस्था में हृदय तेजी के साथ धड़कने लगता है। इसका कारण यह है कि मस्तिष्क से जो स्नायुओं का दसवाँ जोड़ा भीतरी अंगों में अपनी शाखाएँ भेजता है और प्राणदा नाड़ी (Vagus Nerve) कहलाता है, हृदय में एक शाखा ले जाता है और उस पर नियंत्रण करता है।

अध्याय १०

श्वास क्रिया

श्वास और जीवन का आपस में बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। जब तक हम साँस लेते रहते हैं हम में जीवन के लक्षण रहते हैं। साँस रुकते ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। श्वास क्रिया के अर्थ है साँस को अन्दर लेना और बाहर निकालना। साँस लेने में जो शुद्ध वायु हमारे अन्दर पहुँचती है उसमें स्थित आक्सीजन हमारे फेफड़े के अन्दर अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर देती है अर्थात् कार्बन डाइ-आक्साइड बाहर आ जाती है और आक्सीजन रक्त के साथ मिल जाता है। हमारे लिए रक्त बहुत ही आवश्यक वस्तु है और रक्त की शुद्धता हमारे शुद्ध वायु में साँस लेने और निकालने पर निर्भर है।

शरीर के विकार कई रीतियों से बाहर निकलते हैं और भिन्न-भिन्न अंग इस कार्य के लिए नियुक्त है जैसे गुर्दें, फेफड़े और त्वचा। जब रक्त भ्रमण करता हुआ इन स्थानों में पहुँचता है तो यह अंग रक्त में से विकार ले लेते हैं और शरीर के बाहर निकाल देते हैं, जैसे गुर्दें शरीर के विकार को मूत्र के रूप में निकालते हैं, फेफड़े कार्बन डाइआक्साइड और त्वचा पसीने के रूप में।

अब यह जानना आवश्यक है कि विकार शरीर के अन्दर किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। यह बताया जा चुका है कि शरीर के अन्दर अनवरत क्रियाएँ और गति होती रहती है; जैसे स्नायु अपना कार्य करते हैं, हृदय अपना कार्य करता है, आमाशय अपना कार्य करता है। इसी प्रकार शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जो किसी न किसी कार्य में न लगा हुआ हो। इन क्रियाओं व गति के कारण शरीर के सैल टूटते फूटते हैं और कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ बनते हैं जिनमें से कुछ हमारे शरीर और स्वास्थ के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं और यदि वे शरीर के बाहर न निकाल दिये जावें तो विष फैल जाने से मृत्यु हो जाने की संभावना होती है। कार्बन डाइआक्साइड (Carbon-di-oxide) एक इसी प्रकार का विकार है। यह शरीर में बहुत अधिकता से बनता है। इसका

कारण यह है कि तन्तुओं में कार्बन (Carbon) बहुतायत से पाया जाता है। इस कारण शरीर में क्रियाओं के होने से सैल टूटते है और कार्बन डाइ-आक्साइड गैस उत्पन्न होती है। रक्त भ्रमण के समय रक्त के लाल रक्त कण सैलों को अक्सीजन दे देते हैं और कार्बन-डाईआक्साइड (Carbon-di-oxide) गैस ले लेते हैं। जब फेफड़ों में रक्त पहुँचता है तो केशिकाओं की पतली-पतली दीवारों में से छन कर कार्बन डाइ-आक्साइड बाहर जाने वाली साँस के साथ मिल कर शरीर के बाहर निकल जाती है। इस कारण श्वास क्रिया का कार्य है रक्त को आक्सीजन देना और कार्बन डाइ-आक्साइड को बाहर ले आना।

वायु—कोई भी जीव भोजन के बिना कुछ सप्ताह जीवित रह सकता है, पानी के बिना कुछ घंटे जीवित रह सकता है परन्तु वायु के बिना कुछ मिनट ही जीवित रह सकता है। इस कारण वायु हमारा जीवन है। वायु कई गैसों से मिल कर बनी है। शुद्ध वायु में मुख्य गैस आक्सीजन (Oxygen) और नाइट्रोजन (Nitrogen) हैं। इसके अतिरिक्त पानी की भाप और जरा सा कार्बन डाइ-आक्साइड भी होता है। जो वायु हम शरीर के बाहर साँस के रूप में निकालते हैं उसमें कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा अधिक हो जाती है और पानी की भाप की मात्रा भी बढ़ जाती है।

साँस ली हुई शुद्ध वायु		बाहर निकाली हुई अशुद्ध वायु	
नाइट्रोजन	७६·००%	नाइट्रोजन	७६·०%
आक्सीजन	२०·९६%	आक्सीजन	१६·५%
कार्बन डाइ आक्साइड	०·०४%	कार्बन डाइ आक्साइड	४·५%
पानी की भाप	थोड़ी	पानी की भाप	अधिक

हवा में पानी की भाप (Water Vapour) की मात्रा स्थान और मौसम पर निर्भर है। समुद्री स्थानों की वायु में और वर्षाकाल की वायु में पानी की भाप अधिक होती है परन्तु मैदानों और ग्रीष्मकाल में पानी की भाप वायु में बहुत कम होती है। जो साँस हम बाहर निकालते हैं उसमें पानी की भाप बहुत कम होती है। पानी की भाप के अतिरिक्त उसमें सैलों के टूट फूट जाने से बहुत से कण भी होते हैं।

हम जो साँस बाहर निकालते हैं उसमें कार्बन डाइआक्साइड गैस वर्तमान है। इसका प्रमाण है इसके प्रयोग के लिए एक बर्तन में चूने का पानी ले कर उसमें फूँकने से चूने के पानी का रंग दूध के रंग का हो जावेगा। इसका कारण यह है कि कार्बन डाइ आक्साइड और चूने के मिलने से कैलशियम कार्बोनेट (Calcium Carbonate) बन जाता है।

जो वायु हम श्वास के द्वारा बाहर निकालते हैं वह गर्म होती है क्योंकि जाड़ों के मौसम में हाथ में जब अधिक ठंड लगती है तो उसे फूँक कर गर्म करते हैं। साँस के साथ पानी की भाप भी होती है। इसका परीक्षण एक शीशे के ऊपर फूँकने से किया जा सकता है क्योंकि शीशे के ऊपर भाप जम जाती है।

श्वास क्रिया के अंग निम्नलिखित हैं—

(१) नाक (२) साँस की नली (Trachea) (३) हवा की नलियाँ (Bronch) और (४) फेफड़े (Lungs)।

नाक—वायु सबसे पहले नाक या मुँह के द्वारा गले में पहुँचती है। मुँह से साँस लेना ठीक नहीं है। नाक ही साँस लेने का असली रास्ता है क्योंकि वायु नाक में पहुँचने पर वहाँ पर लगी हुई श्लैष्मिक झिल्ली के द्वारा गर्म हो जाती है और इस प्रकार हमारे फेफड़ों को हानि नहीं पहुँचाती है। दूसरी बात यह है कि नथुनों के अन्दर जो बहुत बारीक-बारीक बाल होते हैं वह साँस की वायु में से धूल के कण और जीवाणुओं को अपने में फँसा कर रोक लेते है। साँस की नली (Trachea) की लम्बाई करीब ४½" या ५" होती है। यह हमारे गले में सामने की ओर रहती है और इसके पीछे भोजन की नली (Gullet) रहती है। इसका ऊपरी हिस्सा कुछ मोटा और चौड़ा होता है। इसका नाम स्वर यंत्र (Larynx) है। इसके ऊपर एक पत्ते की शक्ल की झिल्ली लगी रहती है जिसको इपिग्लोटिस (Epiglottis) कहते हैं। भोजन करते समय जब हम निगलते हैं तो यह स्वर यन्त्र के मुँह को बन्द कर देती है जिससे भोजन वायु की नाली के अन्दर नहीं जाने पाता है। यदि कभी खाते समय बहुत हँसने के कारण भोजन का ज़रा सा भी कण श्वास की नली में चला जाता है तो बहुत

ज़ोर की खाँसी उठती है और कण बाहर निकल जाता है। स्वर यंत्र (Larynx) के नीचे का भाग वायु की नली (Trachea) कहलाता है। इसका आगे का हिस्सा गोल होता है परन्तु पीछे की तरफ भोजन की नली से चिपका होने के कारण चपटा होता है। हवा की नली कार्टीलेज (Cartilege) के छल्लों से मिल कर बनी है। यह छल्ले गिनती में १५ से २० तक होते हैं और एक के ऊपर एक रक्खे हुए होते हैं। पीछे के हिस्से में यह खुले होते हैं और एक झिल्ली के साथ भोजन की नली से जुड़े रहते हैं। साँस की नली के छल्ले आपस में सौभिक तंतु से बँधे रहते हैं। साँस की नली की भीतरी दीवार पर एक बारीक श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी रहती है।

वायु की नलियाँ—(Bronchii) गले के नीचे पहुँच कर साँस की नली दो शाखाओं में बँट जाती है। यह वायु की नली (Bronchii) कहलाती है। इसकी दीवार भी साँस की नली की दीवार के समान कार्टीलेज के छल्लों से बनी है। यह छल्ले भी सौभिक तन्तुओं से आपस में बँधे हैं और इनकी भीतरी दीवार पर भी श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी हुई है। इसकी झिल्ली के ऊपर बहुत बारीक रोएँ होते हैं जो सिलिया (cilia) कहलाते हैं। यदि साँस के साथ किसी भी प्रकार धूल के कण अन्दर पहुँच जाते हैं तो यह वहीं रोक लेते हैं और फेफड़ों में नहीं जाने देते हैं तथा खाँसी के द्वारा बाहर फेंक देते हैं। वायु की नलियों में से एक शाखा दाहिने फेफड़े में जाती है और दूसरी शाखा बाएँ फेफड़े में जाती है। फेफड़ों में पहुँचने पर इन साँस की नलियों की कई शाखा प्रशाखाएँ हो जाती हैं। फेफड़े (Lungs) हमारी छाती के भीतर स्थित हैं, एक दाहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर। इनका रंग कुछ गहरा धूसर-सा होता है। दाहिना फेफड़ा बाएँ फेफड़े से कुछ चौड़ा और भारी होता है। फेफड़े एक तरफ पतले और कम चौड़े होते हैं, लेकिन दूसरी तरफ मोटे और अधिक चौड़े होते हैं। इनका चौड़ा हिस्सा पेट की तरफ महा प्राचीरा पेशी (Diaphgram) पर रहता है। फेफड़े बनावट में स्पंज की तरह होते हैं और देखने में चिकने तथा चमकदार होते हैं। हर एक फेफड़े के ऊपर दो तह की एक पतली झिल्ली चढ़ी रहती है। इस झिल्ली को प्लूरा (Pleura)

कहते हैं। इस की भीतरी तह फेफड़े से लगी रहती है और बाहरी तह छाती की दीवार से लगी रहती है। इन दोनों तहों के बीच में एक तरह का तरल पदार्थ रहता है जो फेफड़ों को चिकना रखता है। जब इन तहों में सूजन आ जाती है अथवा पानी भर जाता है तो एक तरह की बीमारी हो जाती है जो प्लूरसी (Pleursy) कहलाती है। वायु की नलियाँ फेफड़ों में आकर बहुत बारीक-बारीक शाखाओं में बँट जाती है और हर एक साँस की नली के अंत में एक प्रकार के थैले से लगे हैं। इस प्रकार फेफड़ों के अन्दर असंख्य साँस की नलियाँ और थैले होते हैं। इन थैलों की दीवार सैलों से बनी होती है। फेफड़ों के अन्दर रक्त की केशिकाएँ, लसिका की केशिकाएँ और स्नायु सूत्र भी रहते हैं।

श्वास-क्रिया—साँस अन्दर लेना—जब हम साँस अन्दर लेते हैं तो वायु सब से पहले नाक या मुँह के द्वारा गले के अन्दर जाती है। वायु नाक की श्लैष्मिक झिल्ली के सम्पर्क में आने के कारण शरीर के तापमान की हो जाती है और वायु में जो धूल के कण अथवा जीवाणु होते हैं वह नथुने के अन्दर के बालों में फँस कर रह जाते हैं। गले से वायु की नलियों (Bronchii) में होती हुई फेफड़ों में पहुँचती है जिससे वायु की नलियों से लगे हुए वायु के असंख्य थैले उस से भर जाते हैं। वायु के फेफड़ों में पहुँचने पर महाप्राचीरा पेशी पेट की तरफ सुकड़ती है और दब जाती है। पसलियों की मांसपेशियाँ फैलती है जिसकी वजह से पसलियाँ ऊपर को उठती हैं। इस प्रकार फेफड़ों को वायु से फूलने के लिए काफी जगह मिल जाती है और वायु के थैलों में वायु भर जाने से फेफड़े खूब फूल जाते हैं। यह क्रिया साँस लेना कहलाता है।

साँस का बाहर निकालना—वायु से फेफड़ों के भर जाने के बाद पसलियों की मांसपेशियाँ सुकड़ती है जिसके कारण पसलियाँ अपनी जगह पर आ जाती हैं। महाप्राचीरा पेशी भी अपनी जगह पर आ जाती है। फेफड़ों पर दबाब पड़ने से फेफड़े दबते हैं जिसकी वजह से वायु के थैले भी दबते हैं और वायु फेफड़ों के बाहर निकल जाती है। यह क्रिया साँस का बाहर निकलना कहलाती है।

साँस का अन्दर लेना और बाहर निकलना दोनों क्रियाएँ मिल कर श्वास क्रिया (Respiration) बनाती हैं।

जब साँस बाहर निकालते हैं तो फेफड़े वायु से बिलकुल खाली नहीं हो जाते हैं। उनमें वायु की कुछ मात्रा रह जाती है और जब गहरी साँस ली जाती है अथवा कसरत करते समय वायु साँस के साथ अधिक मात्रा में पहुँचती है और आक्सीजन भी अधिक पहुँचता है तो उतनी ही मात्रा में कार्बन डाइ-आक्साइड बाहर निकलता है। इससे गहरी साँस लेना अथवा व्यायाम करना हमारे लिए बहुत लाभदायक है जिससे आक्सीजन अधिक मात्रा में अन्दर पहुँचे और रक्त को शुद्ध करे तथा शरीर के विकार भी अधिक मात्रा में शरीर के बाहर निकल सकें। इस प्रकार हमारे शरीर में शुद्ध रक्त होने से शरीर स्वस्थ होता है और रोग नाशक शक्ति (Immunity) बढ़ती है।

फेफड़ों में रक्त की स्वच्छता—फेफड़ों में अशुद्ध रक्त हृदय के दाहिने हिस्से (Pulmonery) में धमनी या फेफड़े की धमनी के द्वारा पहुँचता है। यह धमनी हृदय के दाहिने क्षेपक कोष्ठ से निकलती है और ऊपर की ओर जा कर दो शाखाओं में बँट जाती है। एक शाखा दाहिने फेफड़े को जाती है और दूसरी शाखा बाएँ फेफड़े को जाती है। फेफड़ों में पहुँच कर फेफड़े की धमनी की असंख्य शाखाएँ हो जाती हैं और बारीक-बारीक केशिकाओं में चली जाती है। रक्त की केशिकाओं की दीवारें अत्यन्त बारीक सैलों की बनी होती हैं और वायु के थैलों के बिलकुल पास होती हैं। जब साँस लेते समय वायु के थैले वायु से भर जाते हैं तो केशिकाओं में बहने वाले अशुद्ध रक्त में से कार्बन डाइ आक्साइड केशिकाओं की दीवार से छन कर वायु में चला जाता है और रक्त के लाल कणों में जो होमोग्लोबिन नामक रासायनिक पदार्थ होता है वह वायु में से आक्सीजन ले लेता है। तब रक्त चमकीले लाल रंग का हो जाता है। फेफड़े में कई बारीक-बारीक केशिकाएँ मिल कर शिरा बनाती हैं। कई शिराओं के मिलने से दो बड़ी शिराएँ बनती हैं जो फेफड़े की शिरा (Pulmonery Veins) कहलाती हैं। इन शिराओं में शुद्ध आक्सीजन युक्त चमकीला रक्त बहता है। यह चारों शिराएँ शुद्ध रक्त को हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ में डालती हैं।

श्वास क्रिया पर स्नायु संस्थान का प्रभाव—श्वास क्रिया के सब अवयव स्वाधीन मांस पेशियों से बने हैं और स्नायु संस्थान के द्वारा संचालित हैं। महाप्राचीरा पेशी का श्वास क्रिया और मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध है और स्वतन्त्र स्नायु संस्थान से स्नायु इसको संचालित करते हैं।

व्यायाम—शरीर के विभिन्न अंगों के विकास के लिए उनका हिलना डुलना अत्यन्त आवश्यक है। यदि शरीर के किसी अंग विशेष से बिलकुल ही काम न लिया जाय तो वह कुछ काल पश्चात् निकम्मा हो जायेगा। शरीर के विभिन्न अंगों से आवश्यकतानुसार कार्य करवाते रहने से उनका विकास भी होता है और उनकी कार्यकारिणी शक्ति भी बढ़ती है।

साधारणतया व्यायाम करने से शरीर के जिस भी भाग को हिलाया जाए वहाँ रक्त परिभ्रमण अधिक शीघ्रता से होता है। जिसके फलस्वरूप उस स्थान को रक्त द्वारा अधिक पौष्टिक तत्त्व मिलते हैं तथा विषैले पदार्थ निकलते हैं। अतः वह हिस्सा अधिक स्वस्थ रहता है। व्यायाम करने के फलस्वरूप कार्बन डाइ ओक्साइड गैस तन्तुओं के भीतर बनती है और अधिक हो जाने पर वह मस्तिष्क में श्वास प्रक्रिया केन्द्र को उत्तेजित करती है जिसके कारण श्वास शीघ्र लेना आरम्भ हो जाता है तथा जिससे वह विषैली गैस शरीर से बाहर निकल जाती है और औक्सीजन भीतर ले ली जाती है। औक्सीजन शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक होती है। व्यायाम अवश्य करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और कार्य करने योग्य रहता है। इससे शरीर की काम करने की शक्ति बढ़ती है। बाल्य काल से ही व्यायाम करते रहने से शरीर दृढ़ होता है और बड़ी आयु तक स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है।

अध्याय ११

स्नायु अथवा नाड़ी संस्थान

(Nervous System)

हमारे शरीर का नाड़ी संस्थान अथवा स्नायु-संस्थान बहुत ही महत्त्व का संस्थान है। इसी के द्वारा हमारे समस्त शरीर का संचालन होता है। इसका काम है शरीर के अंगों व अवयवों की गति का संचालन करना, गिल्टियों से जो रस निकलते हैं उन पर नियन्त्रण रखना और शरीर की संवेदनाओं को अनुभव करना। जिस प्रकार एक योग्य शासक अपने स्थान पर रहने पर भी अपने राज्य का उचित ढंग से नियमपूर्वक शासन करता है और समाचार ग्रहण करता है, उसी प्रकार हमारा मस्तिष्क जो कि नाड़ी-मंडल का मुख्य केन्द्र है मस्तिष्क रूपी किले में बैठे रहने पर भी शरीर में (विविध अंगों, अवयवों, मांसपेशियों और गिल्टियों इत्यादि में) विविध प्रकार से प्रेरणाएँ भेजता है जिससे सब अंग अवयव, मांसपेशियाँ और गिल्टियाँ उसी की आज्ञानुसार अपना कार्य्य करते हैं और जो भी अनुभव हमारे शरीर में होते हैं जैसे सोचना, विचारना, सुख, दुःख, ठंडा, गर्म, आराम, कष्ट आदि के समाचार उसके पास पहुँचते रहते हैं। यदि हमारे नाड़ी संस्थान के किसी भाग में कुछ खराबी हो जावे तो उस भाग से सम्बन्धित अंग और अवयव बेकार हो जाते हैं अर्थात् अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं।

नाड़ी संस्थान को दो भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) मस्तिष्क सुषुम्ना नाड़ी मंडल संस्थान अथवा मध्यस्थ स्नायु संस्थान (Cerebro-Spinal Nervous System)

(२) पिंगल नाड़ी मंडल अथवा स्वतन्त्र स्नायु संस्थान (Sympathetic Nervous System)

(१) मध्यस्थ स्नायु संस्थान के भाग—मध्यस्थ स्नायु संस्थान (Cerebro Spinal Nervous System) में तीन अंग सम्मिलित हैं—

नियंत्रण रहता है। शोक में मनुष्य को भूख नहीं प्रतीत होती है, अथवा भय की अवस्था में चेहरा पीला पड़ जाता है, खुशी की अवस्था में चेहरे पर रौनक आ जाती है। इस सब का कारण यही है, कि जो भी भाव अथवा विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं उनका प्रभाव स्वतन्त्र स्नायु संस्थान पर पड़ता है और वे वहाँ से निकले हुए स्नायु सूत्रों द्वारा रक्त नलिकाओं पर प्रभाव डालते हैं। जब रक्त की नलियों में रक्त कम आता है तो चेहरा पीला पड़ जाता और जब अधिक आता है, तो चेहरे पर चमक व रौनक आ जाती है।

स्नायु संस्थान के विषय में पढ़ने से हमको ज्ञात हो गया है कि यह संस्थान कितना महत्त्वपूर्ण है और इसी के उचित संचालन से हमारे विविध अंग व अवयव अपना-अपना कार्य करते हैं। इस कारण स्नायु संस्थान के स्वास्थ्य का बहुत अधिक ध्यान रखना उचित है। हमारे सम्पूर्ण शरीर की ही तरह स्नायु संस्थान को उचित ढंग के पुष्टिकर भोजन, व्यायाम तथा विश्राम की आवश्यकता है।

स्नायु तथा स्नायु सूत्र और न्यूरोन—हमारा स्नायु संस्थान जिस पदार्थ से बना है वह दो प्रकार का होता है, धूसर (Grey) तथा श्वेत (White)। सैल एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जिसको आँखों से नहीं देखा जा सकता है। हमारा शरीर असंख्य सैलों का समूह है। जिस प्रकार एक मिट्टी के खिलौने में अनेकों मिट्टी के कण होते हैं उसी प्रकार हमारे शरीर में भी असंख्य सैलों के समूह है। शरीर में कई प्रकार के सैल पाये जाते हैं जैसे हड्डी के सैल, मांसपेशी बनाने वाले सैल, रक्त सैल इत्यादि। इन सब सैलों की बनावट में थोड़ा सा ही अन्तर है।

स्नायु सैल को यदि अनुवीक्षण यन्त्र से देखा जावे तो उसके बीच में एक प्रकार का धूसर पदार्थ है जो जीवोज (Proto plasm) कहलाता है। इसके बीच में कुछ गाढ़ा सा पदार्थ होता है जो मींगी (Nucleus) कहलाता है। सैल की चैतन्यता इसी मींगी में रहती है। सैल के चारों ओर शाखा प्रशाखाएँ निकली होती हैं। इन शाखा प्रशाखाओं के बीच एक शाखा ऐसी होती है

जिसकी कोई और प्रशाखा नहीं निकलती है। यह और शाखाओं से लम्बी होती है और इसके ऊपर एक प्रकार का खोल चढ़ा रहता है। यह खोल चर्बी का होता है और इसे मेदावरण कहते हैं। यही शाखा **स्नायु सूत्र** कहलाती है। किसी किसी स्नायु सूत्र के ऊपर यह चर्बीदार खोल नहीं भी चढ़ा होता है।

एक स्नायु सैल अपनी शाखा प्रशाखाओं तथा स्नायु सूत्र के साथ न्यूरोन कहलाता है।

यह स्नायु सैल एक दूसरे से पृथक् हैं परन्तु एक सैल की शाखाएँ दूसरे सैल की शाखाओं से उलझी रहती हैं। इसी प्रकार एक सैल का दूसरे सैल से सम्बन्ध रहता है।

मस्तिष्क में दो प्रकार के पदार्थ अर्थात् धूसर तथा श्वेत पदार्थ पाये जाते हैं। धूसर पदार्थ स्नायु सैलों के समूह से बनता है तथा श्वेत पदार्थ स्नायु सूत्रों के समूह से बनता है।

एक स्नायु के बनाने में दो या दो से अधिक स्नायु सूत्र पाये जाते हैं। इस प्रकार एक स्नायु के बनाने में कई बारीक स्नायु सूत्र प्रयुक्त होते हैं जिस प्रकार एक रस्सी के बनाने में कई बारीक-बारीक डोरियाँ मिला कर उसे बँटा जाता है। ये सफेद रंग के होते हैं और आपस में बंधक तंतु (Connective tissue) के सहारे बँधे रहते हैं। अधिकतर स्नायु के ऊपर एक चर्बीदार खोल चढ़ा होता है परन्तु किसी-किसी पर नहीं भी होता है।

हमारे शरीर में दो प्रकार के स्नायु पाये जाते हैं। एक तो वह स्नायु हैं जो मस्तिष्क या सुषुम्ना के केन्द्रों से प्रेरणाएँ ले कर शरीर के अंगों, अवयवों, पेशियों तथा गिल्टियों में पहुँच कर उनका संचालन करते हैं अथवा गति उत्पन्न करते हैं जैसे देखना, सुनना, भागना, दौड़ना, रक्त का संचार होना, भोजन का पचना इत्यादि। ये **केन्द्र त्यागी स्नायु** (Efferent Nerve) कहलाते हैं। जब केन्द्रत्यागी स्नायु की प्रेरणा से किसी गिल्टी में से रस निकलता है तो वह स्नायु **रस उत्पादनी स्नायु** (Secretory Nerve) कहलाती है। इसी प्रकार यदि कोई स्नायु किसी रक्त नलिका में गति उत्पन्न करती है अर्थात् उसको फैलाती है अथवा सुकेड़ती है तब वह **रक्त संचालक**

स्नायु (Vasomotor Nerve) कहलाती है। जब वह किसी पेशी में गति उत्पन्न करती है तब गति उत्पादक स्नायु (Motor Nerve) कहलाती है। दूसरी प्रकार की स्नायु वह है जो शरीर से मस्तिष्क को समाचार पहुँचाती है। इसे केन्द्रगामी स्नायु (Afferent Nerve) कहते हैं। इन स्नायु से हमारे शरीर में किसी भी प्रकार की संवेदना का अनुभव होता है जैसे किसी वस्तु के छू जाने का अनुभव अथवा शरीर में ठंडक या गर्मी का अनुभव होना इत्यादि। ये स्नायु सांवेदनिक स्नायु (Sensory Nerve) कहलाती हैं।

इन स्नायुओं में कुछ सांवेदनिक होती हैं तथा कुछ संचालक होती हैं और कुछ स्नायु सांवेदनिक तथा संचालन दोनों प्रकार का कार्य करती हैं अर्थात् उनमें दोनों प्रकार के सूत्र पाये जाते हैं, सांवेदनिक और चालक (Sensory and Motor Nervefibers); और दोनों प्रकार के कार्य करते हैं जैसे गति उत्पन्न करना और मस्तिष्क को समाचार देना।

मस्तिष्क

मस्तिष्क मध्यस्थ स्नायु संस्थान का बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग है। मस्तिष्क खोपड़ी में स्थित है। खोपड़ी आठ चपटी हड्डियों से मिल कर बनी है। इन हड्डियों के किनारे आरी की भाँति होते हैं। नवजात शिशु में यह हड्डियाँ आपस में जुड़ी नहीं होती हैं परन्तु बड़े होते होते आपस में खूब मजबूती से जुड़ जाती हैं। इनके जोड़ अचल हैं। इन हड्डियों से बनी हुई खोपड़ी में मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। मस्तिष्क के ऊपर तीन झिल्लियाँ चढ़ी होती हैं। सब से ऊपर की झिल्ली (Dura mater) मोटी और मजबूत झिल्ली है। यह खोपड़ी की हड्डियों के नीचे रहती हैं।

दूसरी झिल्ली (Arachinoid) है। यह मुलायम और पतली होती है। इसके ऊपर और नीचे एक प्रकार का तरल पदार्थ रहता है जो कि मस्तिष्क को चिकना रखता है और उसे किसी बाहरी धक्के से, जैसे कूदने इत्यादि में उत्पन्न होते हैं, बचाता है। तीसरी झिल्ली (Piamater) बहुत ही पतली झिल्ली है। मस्तिष्क में बहुत सी दरारें जो सिताएँ कहलाती हैं उनमें यह

झिल्ली घुसी रहती है। इस झिल्ली में ही रक्त की नलियों अर्थात् केशिकाओं का जाल सा बिछा रहता है जिससे मस्तिष्क को रक्त मिलता है और मस्तिष्क पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है।

मस्तिष्क को हम चार भागों में बाँटते हैं :—

(१) बड़ा मस्तिष्क (Cerebrum)।

(२) छोटा मस्तिष्क (Cerebellum)।

(३) सेतु (Pons Varolii)।

(४) सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongata)।

बड़ा मस्तिष्क (Cerebrum)

यह मस्तिष्क का सब से बड़ा हिस्सा है। यह दो भागों में बँटा हुआ है एक दाहिना भाग और दूसरा बाँयाँ भाग जो हमारे मस्तिष्क के दाहिने तथा बाँये भाग में स्थित है। यह गोलार्द्ध (Cerebral hemispheres) कहलाते हैं। ये गोलार्द्ध ऊपर से तो अलग-अलग हैं और इनके बीच में एक दरार है परन्तु नीचे के हिस्से में यह गोलार्द्ध एक दूसरे से स्नायविक तन्तुओं के द्वारा जुड़े हुए हैं। यह जोड़ महासंयोजक कहलाता है। इसका रंग श्वेत होता है।

मस्तिष्क में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। एक तो धूसर (Grey) और दूसरा श्वेत (White)। मस्तिष्क में श्वेत पदार्थ अन्दर की ओर है और धूसर पदार्थ उसको ढके हुए है। यह धूसर पदार्थ स्नायु सैलों से बना होता है और श्वेत पदार्थ स्नायु सूत्रों से बना होता है। धूसर पदार्थ मस्तिष्क में बल्क (Cortex) कहलाता है क्योंकि एक बल्क या छिलके की भाँति वह श्वेत पदार्थ को ढके रहता है।

मस्तिष्क के इस स्नायविक पदार्थ में बहुत से उभार तथा दरारें या नालियाँ होती हैं। यह उभार चक्राङ्क (Convolutions) तथा घाइंयाँ या दरार सिताएँ (Fissures) कहलाती हैं।

मस्तिष्क में उस के कार्य के अनुसार अलग-अलग भाग बन गये हैं। इन भागों या केन्द्रों के नाम उनके काम के अनुसार रहते हैं, जैसे दृष्टि

केन्द्र का सम्बन्ध दृष्टि और देखने से है; श्रवण केन्द्र का सम्बन्ध सुनने से है, इत्यादि। मस्तिष्क का प्रत्येक गोलार्द्ध भीतर से खोखला होता है और यह खाली कोष्ठ मस्तिष्क कोष्ठ (Lateral Ventricle) कहलाते हैं।

बड़े मस्तिष्क (Cerebrum) के कार्य्य—इसके कार्य बहुत प्रकार के और जटिल हैं। संवेदनाएँ (Sensations) जैसे सोचना विचारना, स्मरण रखना, इच्छा शक्ति अथवा संकल्प करना सब इसी के कार्य हैं। अनेक प्रकार की भावनाएँ (Emotions) जैसे प्रेम, घृणा, क्रोध, भय, विषाद, आनन्द भी यहीं उत्पन्न होती हैं। यही बुद्धि और ज्ञान का भी केन्द्र है। इसी से हम भले, बुरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नाक, मुँह, कान तथा त्वचा) द्वारा निरीक्षण तथा अनुभव करते हैं और सोचते समझते हैं। मस्तिष्क में दोनों प्रकार के केन्द्र हैं, सांवेदनिक केन्द्र (Sensory Centres) जो शरीर की उत्तेजनाएँ ग्रहण करते हैं और संचालक केन्द्र (Motor Centres) जो शरीर को प्रेरणाएँ भेज कर गति उत्पन्न करवाते हैं। यदि किसी कारण से बड़े मस्तिष्क में कोई खराबी हो जावे तो उस मनुष्य में सोचने विचारने या अपनी इच्छा से कार्य करने की शक्ति नहीं रहती है क्योंकि यह बड़े मस्तिष्क का कार्य है। वह सुषुम्ना शीर्षक तथा सुषुम्ना से जो प्रेरणाएँ मिलती हैं उसी के अनुसार कार्य करता है।

मेंढक के ऊपर परीक्षण करके देखा गया है कि यदि किसी मेंढक का बड़ा मस्तिष्क नष्ट कर दिया जावे तो वह साधारण रीति से श्वास लेगा, देखेगा और यदि उसके मुँह में कुछ रख दिया जावे तो निगल लेगा परन्तु अपने आप से भोजन पाने का प्रयत्न नहीं करेगा। यदि उसको उलटा कर दिया जावे तो घूम कर फिर बैठ जावेगा। यदि पानी में छोड़ा जावे तो आप से आप तैरने लगेगा। यदि ऐसे ही उसको बैठे रहने दिया जावे तो जब तक कि मर नहीं जाता है बराबर सीधा बैठा रहेगा। इन बातों से यही ज्ञात होता है कि बड़े मस्तिष्क के नष्ट हो जाने के कारण उसकी अपने आप से कार्य करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है, और बाहर से जो उत्तेजनाएँ मिलती है उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप सुषुम्ना और सुषुम्ना शीर्षक से जो प्रेरणाएँ उसको मिलती हैं वह उसी के

सहारे काम कर पाता है।

यदि किसी मनुष्य के सिर पर चोट लगे और उसके फलस्वरूप मस्तिष्क पर आघात लगे तो वह तत्काल अचेत हो कर गिर पड़ेगा। बहुत सेवा सुश्रूषा से वह होश में आ जाता है और ठीक भी हो जाता है; परन्तु यदि बहुत भारी चोट लगती है तो मनुष्य की अचेतनावस्था में मृत्यु तक हो जाती है।

कुछ बच्चों का मस्तिष्क जन्म से ही छोटा रहता है, जिसके कारण वे मंद बुद्धि होते हैं। जिनका मस्तिष्क बड़ा होता है, वे सदैव ज्ञानवान पाये गये हैं। जिस प्रकार व्यायाम करने वाले मनुष्य के हाथ पैर और पेशियाँ पुष्ट होती हैं उसी प्रकार मस्तिष्क से अधिक काम लेने से, जैसे सोचना, विचारना, पढ़ना, लिखना, मस्तिष्क उन्नति करता है और मानसिक शक्तियाँ जीवन भर काम देती हैं।

नशीली वस्तुओं का हमारे मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। नशा करने वाले मनुष्य में संयम नहीं रहता है और न बुद्धि बल एवं इच्छा-शक्ति ही रह पाती है। बहुत अधिक नशे की दशा में मनुष्य बेहोश हो जाता है और कभी-कभी पागल भी हो जाता है तथा उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

छोटा मस्तिष्क (Cerebellum)—छोटा मस्तिष्क बड़े मस्तिष्क के नीचे स्थित है और यह बड़े मस्तिष्क की अपेक्षा बहुत छोटा होता है। यह भी दो भागों में बँटा हुआ है। इसके ऊपर भी घाइयाँ तथा सिताएँ पाई जाती हैं। यह घाइयाँ बड़े मस्तिष्क की घाइयों की अपेक्षा अधिक गहरी होती हैं और एक दूसरे के पास होती हैं। सब से अन्दर की झिल्ली (Piamater) इन घाइयों के अन्दर तक पहुँची रहती है। इसमें भी धूसर पदार्थ बाहर रहता है और श्वेत पदार्थ को ढके रहता है।

छोटे मस्तिष्क के कार्य—छोटे मस्तिष्क का कार्य है हमारी पेशियों में ठीक तरह से गति उत्पन्न करना और शरीर में समता तथा संतुलन शक्ति रखना। यहीं पर पेशियों, जोड़ों तथा नलियों से सांवेदनिक सूचनाएँ आती हैं और यहीं से चालक प्रेरणाएँ भेजी जाती हैं; जैसे भागना, दौड़ना, कूदना इत्यादि। साइकिल चलाना, बाजा बजाना, ड्राइंग करना, ये सब संतुलन

शक्ति द्वारा किये जाने वाले कार्य भी इसी मस्तिष्क से संचालित होते हैं।

छोटे मस्तिष्क के दाहिने भाग का बड़े मस्तिष्क के बाएँ भाग से सम्बन्ध रहता है और छोटे मस्तिष्क के बाएँ भाग का बड़े मस्तिष्क के दाहिने भाग से सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार हमारे शरीर के बाएँ भाग की गतियाँ छोटे मस्तिष्क के दाहिने भाग पर निर्भर हैं और शरीर के दाहिने भाग की गतियाँ मस्तिष्क के बाएँ भाग पर निर्भर हैं।

यदि छोटे मस्तिष्क में किसी प्रकार चोट लगने से अथवा किसी और प्रकार से हानि पहुँचे तो सिर में चक्कर आने लगते हैं और शरीर की समता तथा संतुलन शक्ति नहीं रहती है। फलस्वरूप उसका चलना-फिरना भागना आदि रुक जाता है।

सेतु (Pons Varolii)—यह छोटे मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाता है और इस प्रकार पुल का कार्य करता है। यह सुषुम्ना शीर्षक के ऊपर है। यह श्वेत पदार्थ से बना हुआ है। बड़े मस्तिष्क से स्नायु सूत्र यहीं से हो कर जाते हैं और बड़े मस्तिष्क के दाहिने भाग से स्नायु सूत्र यहीं से हो कर शरीर के बाएँ भाग को जाते हैं तथा बाएँ भाग के स्नायु सूत्र शरीर के दाहिने भाग को जाते हैं। यह स्नायु सूत्र हमारी स्वाधीन पेशियों और अंगों को संचालित करते हैं। इससे यदि बड़े मस्तिष्क के दाहिने भाग में कोई हानि हो जावे तो उससे सम्बन्धित बायें भाग में इच्छाधीन गतियाँ रुक जाती हैं अर्थात् हम अपनी इच्छा से अपना हाथ या पैर नहीं उठा पाते हैं तथा उस भाग में किसी प्रकार की संवेदना का बोध भी नहीं कर पाते हैं। इन संवेदनाओं तथा गतियों के रुक जाने के कारण को उस भाग में लकवा मार जाना कहा जाता है। सेतु के सामने एक छोटी सी गिल्टी लटकती है जिसको पिट्युट्री गिल्टी (Pituitary) कहते हैं। यह लालपन लिये हुए कुछ भूरी सी गिल्टी है इसमें दो प्रकार के रस निकलते हैं। सामने के भाग से जो रस निकलता है उससे शरीर ठीक प्रकार से बढ़ता है और पुष्ट होता है। यदि अधिक रस निकलता है तो उसका प्रभाव ठीक नहीं रहता है। फलस्वरूप शरीर बहुत लम्बा हो जाता है, हाथ पैर भी बहुत लम्बे हो जाते हैं और सिर भी बहुत लम्बा हो जाता है। यदि कम रस निकलता है तो

शरीर दुर्बल रहता है और पूरा-पूरा बढ़ नहीं पाता है। इस गिल्टी के पिछले भाग से जो रस निकलता है उसका प्रभाव आँत, रक्त की नलियों और गुर्दों पर पड़ता है। इस भाग के रस की कमी से शरीर की शक्कर वसा में परिवर्तित हो जाती है। फलस्वरूप मनुष्य मोटा तथा चिन्ता रहित हो जाता है। उसको भूख भी अधिक लगने लगती है।

सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongata) यह सेतु से लगा हुआ है और खोपड़ी के अन्दर रहने वाला सुषुम्ना का वह भाग है जो मस्तिष्क और सुषुम्ना को आपस में मिलाता है। यह छोटे मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच में स्थित है। इसमें श्वेत पदार्थ बाहर की ओर है और धूसर पदार्थ बीच में है।

यह हमारे स्नायु संस्थान का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि जो स्नायु सूत्र सुषुम्ना से निकल कर मस्तिष्क को जाते हैं इसी में से होकर जाते हैं। इसमें शरीर के बहुत से महत्त्वपूर्ण केन्द्र है जैसे रक्त संचार, श्वास लेना, निगलना इत्यादि। सुषुम्ना शीर्षक पर मनुष्य का जीवन निर्भर है। यदि इसमें कड़ी चोट लग जाती है तो तत्काल मृत्यु हो जाती है।

मस्तिष्क की नाड़ियाँ अथवा स्नायु (Cranial Nerves)—मस्तिष्क से जो नाड़ियों के जोड़े निकलते हैं उनमें से छः जोड़े तो सुषुम्ना शीर्षक के सामने मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों से निकलते हैं और बाकी के छः जोड़े सुषुम्ना के दाहिने, बाएँ भाग से निकलते हैं।

मस्तिष्क के सामने के भाग से जो बारह जोड़े निकलते हैं उनकी गिनती सामने से आरम्भ हो कर पीछे की ओर होती है। ये स्नायु छोटे छोटे छेदों से होकर खोपड़ी से निकलते हैं और ज्ञानेन्द्रियों, जैसे आँख, नाक, कान, मुँह में तथा सिर की पेशियों में और त्वचा में जाते हैं, परन्तु ६, १०, ११ तथा १२वें स्नायु के जोड़े अपनी शाखाएँ शरीर के दूसरे अंगों में भेजते हैं। मस्तिष्क स्नायुओं में कुछ चालक स्नायु हैं, कुछ सांवेदनिक और कुछ चालक और सांवेदनिक दोनों का कार्य करते हैं।

मस्तिष्क की नाड़ियों के जोड़े

घ्राण स्नायु (Olfactory Nerves)—इनका सम्बन्ध नाक से है। ये सांवेदनिक स्नायु हैं और नाक की श्लैष्मिक झिल्ली में समाप्त होती हैं। ये गंध रूपी संवेदना को मस्तिष्क के केन्द्र में पहुँचाती हैं।

नेत्र स्नायु (Optic Nerve)—इनका सम्बन्ध नेत्रों से है। ये स्नायु आँख के गोले तक जाती हैं। ये देखने की स्नायु हैं और ये मस्तिष्क के निचले भाग में पिट्युट्री गिल्टी के सामने एक दूसरे को पार करते हैं।

तीसरे, चौथे और छठे जोड़ों का भी नेत्रों से सम्बन्ध है। ये स्नायु नेत्रों की गति का संचालन करती हैं। इसी कारण इन्हें चालक स्नायु कहते हैं। हमारे प्रत्येक नेत्र में छः पेशियाँ हैं, चार सीधी और दो तिरछी। यह पेशियाँ आँखों को चारों तरफ घुमाती हैं। ऊपर की जो तिरछी पेशी हैं उनका संचालन चौथा जोड़ा (Trachlear Nerve) करता है। बाहरी सीधी पेशी का संचालन छटी स्नायु का जोड़ा (Abducent Nerve) करता है और बाकी की चार पेशियाँ तीसरे स्नायु के जोड़े (Qeulo Motor Nerve) के द्वारा संचालित होती हैं। आँख के गोले की मुख्य चालक स्नायु यह तीसरा जोड़ा ही है।

त्रिशाखा—पाँचवाँ जोड़ा मिली जुली स्नायु का है अर्थात् इसमें चालक स्नायु भी है और सांवेदनिक भी है। इसकी तीन शाखाएँ हैं इसी कारण से यह स्नायु त्रिशाखा स्नायु (Trigeminal Nerve) कहलाती है। इसकी एक शाखा सांवेदनिक है जो आँख के गोले, नाक, मुँह, दाँत, गाल में फैली हुई है और जीभ के सामने के भाग में जाकर समाप्त होती है। यह स्नायु स्वाद तथा दाँतों और चेहरे की पीड़ा का बोध कराता है और मस्तिष्क को तत्सम्बन्धी समाचार पहुँचाता है। इसकी दूसरी दो शाखाएँ चालक नाड़ियाँ हैं और उन पेशियों तक जाती हैं जो भोजन चबाते समय जबड़ों को चलाती हैं।

मौखिक स्नायु (Facial Nerve)—यह चालक स्नायु है और चेहरे की पेशियों का संचालन करती है।

श्रावणी स्नायु (Auditory Nerve)—ये स्नायु कान के सब से

अन्दर वाले भाग (Internal Ear) में पाई जाती हैं। इनका सम्बन्ध सुनने से है।

जिह्वा कण्ठ स्नायु—यह मिली जुली स्नायुओं का जोड़ा है। इसकी दो शाखाएँ हैं। एक शाखा सांवेदनिक (Sensory) है और जीभ के पिछले भाग में फैली हुई है। यह स्वाद की स्नायु है और स्वाद का बोध कराती है। दूसरी शाखा चालक है और गले की पेशियों का संचालन करती है जिसके कारण निगलने की क्रिया होती है। इसलिये इस स्नायु का नाम जिह्वा कण्ठ स्नायु (Glossopharyngeal Nerve) है।

भ्रामक स्नायु—इसमें भी दोनों प्रकार की स्नायु पाई जाती है और भीतरी अंगों में जैसे हृदय, जिगर, फेफड़े और आमाशय को जाती है। यह जोड़ा बहुत से भागों में जाता है। इस कारण इसे भ्रामक स्नायु (Vagus Nerve) कहते हैं। इसकी शाखाएँ फेफड़े और आमाशय में भी फैलती है। इस कारण यह न्यूमोगैस्टिक स्नायु (Pneumogastric) भी कहलाती है।

सौषुम्निक स्नायु—यह चालक स्नायु है और गर्दन की पेशियों का संचालन करती है। इसे मुख्य सहायक अथवा सौषुम्निक स्नायु (Spinal accessory Nerve) कहते हैं।

जिह्वाधोवर्ती स्नायु—यह भी चालक स्नायु है और जीभ के नीचे की पेशियों का संचालन करती है। इसी कारण यह जिह्वाधोवर्ती स्नायु (Hypo-glossal Nerve) कहलाती है।

सुषुम्ना (Spinal Cord)

सुषुम्ना खोपड़ी के छिद्र (Foreman magnum) से शुरू होकर रीढ़ की हड्डी में हो कर नीचे उतरती है और कमर के दूसरे मोहरे (Lumber Verte-brane) के पास जा कर समाप्त होती है और यहाँ पर नाड़ियों के गुच्छे के रूप में फैल जाती है। इसका आकार रस्सी की तरह है। इसमें श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ अन्दर रहता है। मस्तिष्क की तरह इस पर तीन झिल्लियाँ चढ़ी हुई हैं। इसकी लम्बाई करीब-करीब १८" होती है परन्तु यह तो मनुष्य की लम्बाई

पर निर्भर है। सुषुम्ना के आगे और पीछे की तरफ दो घाइयाँ होती हैं जो कि इसको दो भागों में बाँटती हैं। यह दोनों घाइयाँ पूर्व और पाश्चात् परिखा (Anterior & Posterior fissures) कहलाती हैं। इन दोनों भागों के बीच में एक नली होती है जो सुषुम्ना नली (Central canal of the spinal cord) कहलाती है। यह नली मस्तिष्क से मिली रहती है। सुषुम्ना से दोनों भागों में से थोड़ी-थोड़ी दूर पर सुषुम्ना की स्नायु निकलती हैं। इन स्नायुओं के ३१ जोड़े होते हैं। प्रत्येक स्नायु सुषुम्ना से दो जड़ों से जुड़ी रहती है। यह अगली जड़ (Anterior root) और पिछली जड़ (Posterior root) कहलाती है। थोड़ी सी दूरी पर यह दोनों जड़ें उस स्थान पर आपस में जुड़ जाती हैं जहाँ कि दो रीढ़ के मोहरे आपस में जुड़ते हैं। इन दोनों जड़ों के मिल जाने से पूरी स्नायु बनती है।

सुषुम्ना की स्नायु मिश्रित स्नायु है। इस स्नायु में एक तार सांवेदनिक और दूसरा चालक होता है। इस स्नायु की अगली जड़ (Anterior root) से जो तार निकलते हैं वह विभिन्न अंगों की ओर जाते हैं और पेशियों की गति को संचालित करते हैं इसी कारण इन्हें चालक कहते हैं। पिछली जड़ के तार भीतरी अंगों की ओर से आते हैं और सुषुम्ना के अन्दर जाते हैं, इस कारण इन्हें सांवेदनिक कहते हैं। इन स्नायुओं में यदि किसी की अगली जड़ (Anterior root) नष्ट हो गई हो तो उस तार से सम्बन्धित पेशी में गति रुक जावेगी परन्तु संवेदना का बोध होता रहेगा जैसे, यदि सुई चुभाई जावे या गर्म वस्तु छुवाई जावे तो उसे अनुभव होगा। इसी प्रकार यदि पिछली जड़ (Posterior root) नष्ट कर दी जावे तो उस तार से सम्बन्धित पेशी में गति तो हो सकेगी परन्तु किसी प्रकार की संवेदना का बोध नहीं होगा।

सुषुम्ना में धूसर पदार्थ अन्दर है जो कि अंग्रेज़ी के अक्षर एच (H) के समान प्रतीत होता है। उसके दोनों ओर की पंक्तियाँ कुछ मुड़ी-सी होती हैं और सुषुम्ना की नली के छेद के दोनों ओर रहती हैं। ये दोनों पंक्तियाँ एक पुल के समान हिस्से से मिली रहती हैं। इसके आगे के सिरे को अगली सींग (Anterior Horn) और पिछले सिरे को पिछली सींग (Posterior Horn)

कहते हैं। सुषुम्ना से जो स्नायु निकलते हैं, उनकी दो जड़ें होती हैं। अगली जड़ अगली सींग (Anterior Horn) से और पिछली जड़ पिछली सींग (Posterior Horn) से निकलती है। अगली जड़ के तार चालक हैं और सुषुम्ना केन्द्रों से प्रेरणाएँ लेकर पेशियों तक जाते हैं। पिछली जड़ के तार सांवेदनिक है और पेशियों से खबरें ले कर पिछली सींग से जुड़ते हैं।

सुषुम्ना की बनावट स्नायविक मस्तिष्क के स्नायविक पदार्थ की तरह है अर्थात् न्यूरोन (Neuron) और उससे निकले हुए सूत्रों से मिल कर बना है। सुषुम्ना के श्वेत पदार्थ के स्नायु सूत्रों के ऊपर चर्बीदार खोल चढ़ा रहता है। यह सूत्र मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों से आते हैं और मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों को जाते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि हमारे शरीर के दाहिने भाग के स्नायु सूत्र मस्तिष्क के बाएँ भाग से सम्बन्ध रखते हैं और शरीर के बाएँ भाग के स्नायु सूत्र मस्तिष्क के दाहिने भाग से सम्बन्ध रखते हैं। सुषुम्ना के स्नायु सूत्र मिश्रित हैं (चालक और सांवेदनिक)।

सुषुम्ना के कार्य—सुषुम्ना का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।इसके स्नायु सूत्र और स्नायु केन्द्र बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। सुषुम्ना स्नायु सूत्रों द्वारा अर्थात् श्वेत पदार्थ के द्वारा ही मस्तिष्क में (शरीर के दाहिने भाग से मस्तिष्क के बाएँ भाग में और शरीर के बाएँ भाग से मस्तिष्क के दाहिने भाग में) संवेदनाएँ तथा प्रेरणाएँ आती जाती हैं। यदि सुषुम्ना के किसी भाग में सांघातिक चोट लग जावे या किसी प्रकार की बीमारी हो जावे तो सुषुम्ना की चालक और सांवेदनिक स्नायुओं का कार्य भी रुक जावेगा। ऐसी अवस्था में न प्रेरणाएँ वहाँ से जा सकेंगी और न संवेदनाओं का ही बोध हो सकेगा। फलस्वरूप सुषुम्ना के उस भाग के नीचे का शरीर का हिस्सा बेकार हो जावेगा। तब न तो हम अपनी इच्छा से हाथ या पैर उठा सकेंगे और न किसी प्रकार के कष्ट का उस भाग में अनुभव कर सकेंगे। इस प्रकार शरीर के उस भाग के निष्काम हो जाने को फालिज या लकवा मारना कहते हैं। सुषुम्ना के गर्दन से नीचे के भाग में हानि होने पर या चोट लगने पर शरीर में फालिज मार जाता है। यदि सुषुम्ना के गर्दन के ऊपर वाले भाग में कोई हानि हो गई हो तो तुरन्त मृत्यु

हो जाती है। इसका कारण यह है कि स्नायु के तार सुषुम्ना के गर्दन के ऊपरी भाग से महाप्राचीरा पेशी को जाते हैं और उसका संचालन करते हैं। महाप्राचीरा पेशी का श्वास क्रिया से घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि सुषुम्ना के गर्दन के ऊपरी भाग में हानि होने से वहाँ से निकले हुए स्नायु तार अपना कार्य बन्द कर दें तो महाप्राचीरा पेशी का संचालन बन्द हो जावेगा। इस प्रकार श्वास क्रिया में बाधा पहुँचेगी और मृत्यु हो जावेगी।

सुषुम्ना का धूसर पदार्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। सुषुम्ना के धूसर पदार्थ के मज्जा सैल उन पेशियों की गति से सम्बन्ध रखते हैं जिनके भीतर सुषुम्ना के स्नायु के तार अगली जड़ से निकल कर फैलते हैं। यह चालक तार होते हैं। मस्तिष्क के धूसर पदार्थ और सुषुम्ना के धूसर पदार्थ में भेद है। मस्तिष्क के धूसर पदार्थ के सैल अपनी इच्छा से गति पैदा कर सकते हैं परन्तु सुषुम्ना के धूसर पदार्थ अपनी इच्छा से गति नहीं कर सकते हैं। सुषुम्ना में चोट लगने के कारण उस चोट के नीचे के हिस्से के स्नायु सूत्र जिन अंगों तथा पेशियों में जाते हैं उनका संचालन नहीं कर सकेंगे और हम अपनी इच्छानुसार उस अंग को हिला डुला नहीं सकेंगे क्योंकि उन अंगों का सम्बन्ध मस्तिष्क से टूट ही गया है अतः मस्तिष्क से उन अंगों तक आज्ञा पहुँच ही नहीं सकेगी। कर्ता के इच्छानुसार कार्य लेना मस्तिष्क के ऊपर ही निर्भर है परन्तु यदि उस अंग में किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाया जावे जैसे सुई चुभाई जावे तो अपने आप बिना हमारी इच्छा के ही उसमें गति हो जावेगी। कारण यह है कि संवेदनिक तार अपना कार्य करेंगे और समाचार सुषुम्ना के केन्द्रों तक पहुँचावेंगे। फलस्वरूप सुषुम्ना चालक तार के द्वारा प्रेरणा भेज देगी। इसमें मष्तिष्क का कोई हाथ नहीं रहेगा। इस प्रकार बिना हमारी इच्छा के या बिना हमारे मस्तिष्क की प्रेरणा के किसी अंग में गति के होने की क्रिया को परावर्तित क्रिया (Reflex action) कहते हैं। मस्तिष्क के जो केन्द्र हैं वह उच्च श्रेणी के केन्द्र हैं और मस्तिष्क के केन्द्रों द्वारा संचालित होते हैं। सुषुम्ना के केन्द्र किसी भी अंग में हमारी इच्छानुसार गति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। केवल मशीन के समान कार्य करते हैं।

परावर्तित क्रिया (Reflex action)—बिना हमारे मस्तिष्क या बिना हमारी इच्छा के जाने हुए केवल बाहरी उत्तेजनाओं के कारण अर्थात् संवेदनिक स्नायु की उत्तेजना के कारण किसी अंग में जो गति उत्पन्न होती है उसे परावर्तित क्रिया (Reflex action) कहते हैं।

परावर्तित क्रिया के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे अंधेरे से उजाले में जाने पर आँख की पुतली सुकड़ जाती है और इसमें हमारी इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार उजाले से अँधेरे में जाने पर पुतली फैल जाती है और इसका हमको कोई ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार अचानक कोई छोटी सी भी वस्तु आँख पर गिरती है तो तुरन्त पलक बन्द हो जाते हैं और हमको ज्ञान भी नहीं होता है। सोते रहने पर भी यदि कोई हमारे तलवे में गुदगुदी करे तो हमारा पैर आप से आप उस स्थान से हट जावेगा। चटपटे खाने को देख कर ही हमारी लार की गिल्टियों से रस निकलने लगता है। इस प्रकार जब कोई क्रिया बिना हमारी इच्छा के या शरीर में किसी प्रतिक्रिया के रूप से होती है तो उसे परावर्तित कहते हैं।

यदि हमारी सुषुम्ना में किसी प्रकार की चोट चपेट अथवा दोष नहीं होता है तो सब से पहले केन्द्रगामी स्नायु के तार द्वारा अंगों, पेशियों आदि से समाचार सुषुम्ना के केन्द्रों तक जाता है और वहाँ से समाचार मस्तिष्क तक भेज दिया जाता है। जब पहले समाचार सुषुम्ना तक आता है तब सुषुम्ना चालक तारों द्वारा अंगों को प्रेरणा भेज देती है और उसी के अनुसार शरीर में क्रिया हो जाती है। जब समाचार मस्तिष्क में जाता है तो मस्तिष्क यदि चाहे तो सुषुम्ना की आज्ञा के विरुद्ध दूसरी आज्ञा भी दे सकता है; उदाहरणार्थ मान लो एक बालक की अंगुली गर्म लोहे से छू गई और जलने का बोध हुआ, यह समाचार सुषुम्ना के सांवेदनिक तारों द्वारा हाथ को प्रेरणा देता है कि हाथ वहाँ से हटा लो और हाथ हटा भी लिया जाता है। इसके बाद केन्द्रगामी तार की बड़ी शाखा इस हाथ के जलने के समाचार को मस्तिष्क के केन्द्र में पहुँचाती है। अब यदि मस्तिष्क चाहे तो आज्ञा भेज सकता है और बालक भाग जाता है अथवा रोने लगता है अथवा सुषुम्ना की आज्ञा के विरुद्ध आज्ञा भेजता है और

वह फिर से गर्म लोहे को छूता है। सुषुम्ना के केन्द्र एक छोटे आफीसर का काम करते हैं और मस्तिष्क का केन्द्र बड़े आफीसर का काम करता है। इस प्रकार परावर्तित क्रिया शरीर की रक्षा का काम करती है।

बहुत से काम जो आरम्भ में सीखने पड़ते हैं और मस्तिष्क द्वारा सोचने से होते हैं बाद में परावर्तित क्रिया में बदल जाते हैं जैसे तैरना, साइकिल चलाना। आरम्भ में इन बातों में सोचना, समझना पड़ता है, परन्तु बाद में वह परावर्तित क्रिया में परिवर्तित हो जाती है और अपने आप हमारे हाथ पैर काम करने लगते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ (Sensory Organs)—हमारे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ हैं जो कि ज्ञानेन्द्रियाँ है अर्थात् इनके द्वारा हम बाहरी ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है मुँह, आँख, कान, नाक और त्वचा। मुँह अथवा जिह्वा के द्वारा हम स्वाद का अनुभव करते हैं। आँख के द्वारा हम देखते हैं और बाहरी संसार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। नाक के द्वारा हम सुगंधि अथवा दुर्गंधि का अनुभव करते हैं। कान के द्वारा हम सुनते हैं और त्वचा के द्वारा सर्दी, गर्मी और स्पर्श का अनुभव करते हैं। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्नायु संस्थान से निकले हुए स्नायु सूत्रों द्वारा संचालित हैं अर्थात् केन्द्रगामी स्नायु सूत्र यहाँ से अनुभव को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं और इस प्रकार हमको विविध चेतनाओं अथवा अनुभवों का ज्ञान प्राप्त होता है। दुःख और ताप का अनुभव एक प्रकार का संवेदन है जिसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। इसी प्रकार भूख, निर्बलता तथा थकान भी संवेदनाएँ हैं और इनका प्रभाव भी सारे शरीर पर पड़ता है। भूख का सम्बन्ध केवल आमाशय से ही है। यह सामान्य संवेदना है। इसका कारण यह है कि स्नायु जाल या सूत्र पर किसी लीवर के अंग अथवा का प्रभाव पड़ता है तब इस प्रकार के अनुभव होते हैं।

मांस पेशियों को भी एक सांवेदनिक ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि मांसपेशी किसी विशेष अवयव के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं करती है बल्कि अपने तक ही सीमित रखती है अर्थात् किसी वस्तु के भारी अथवा हलके होने का ज्ञान करा सकती हैं।

विशेष ज्ञान तथा इन्द्रियाँ—जब संवेदनिक स्नायु सूत्र किसी संवेदना को मस्तिष्क के केन्द्रों तक पहुँचाते हैं तब वहाँ पर जो अनुभव होता है उसको संवेदना (Sensation) कहा जाता है। जो अंग उस उत्तेजना अथवा संवेदना को लेता है और स्नायु सूत्र सम्बन्धी उत्तेजना में बदल देता है उस विशेष अंग को ज्ञानेन्द्रिय (Sense organ) कहते हैं। विशेष ज्ञान जैसे छूने, सूँघने, देखने तथा सुनने के लिए हमारे शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो कि इस प्रकार का अनुभव करने के लिये और अपना अपना कार्य करने के लिये एक विशेष प्रकार से बनी हुई हैं तथा बाहरी अनुभव एवं उत्तेजनाओं से प्रभावित होती हैं, जैसे आँख प्रकाश से, नाक गंध से।

कोई भी सांवेदनिक स्नायु किसी भी कारण से प्रभावित अथवा उत्तेजित हो तो उसका प्रभाव उससे सम्बन्धित अंग पर पड़ता है।

स्पर्श (Sensation of Touch, skin) त्वचा—स्पर्श का अनुभव हमारे सारे शरीर को ढकने वाली त्वचा में होता है। त्वचा, मुँह और नाक में जो श्लैष्मिक झिल्ली है उसमें सांवेदनिक स्नायु के तार की उत्तेजना से स्पर्श ज्ञान का अनुभव होता है। शरीर के किसी किसी भाग में स्पर्श का अनुभव बहुत तीव्र होता है जैसे जिह्वा, उँगलियाँ, नाक की नोक और निचला होठ इत्यादि। इसका कारण यह है कि स्पर्श ज्ञान के कण यहाँ बहुत होते हैं। यह स्पर्श ज्ञान कण सैलों से बने होते हैं और सांवेदनिक स्नायु तार की शाखाएँ यहाँ पर समाप्त होती हैं। इसी कारण यहाँ पर स्पर्श का अनुभव बहुत अधिक और शीघ्र होता है।

दुःख तथा तापक्रम (Pain and Temperature)—शरीर में गर्मी अथवा सर्दी अनुभव करने के दूसरे प्रकार के कण होते हैं जो कि बाहरी खाल (Epidermis) के नीचे स्थित हैं। यह कण स्पर्श के कणों से भिन्न हैं। तापक्रम का सब से शीघ्र और अधिक अनुभव करने वाले अंग जीभ की नोक, पलकें, गाल, होंठ और हथेलियाँ हैं। त्वचा तापक्रम के ठीक ठीक अनुभव का ज्ञान नहीं करवा सकती है क्योंकि यदि हम अपने दायें हाथ को गर्म पानी में डुबो रक्खे और बाएँ को बर्फ के पानी में कुछ देर रक्खे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को एक साथ साधारण तापक्रम के पानी में डालें तो दाहिने हाथ को पानी ठंडा

मालूम होगा और बाएँ हाथ को पानी गर्म प्रतीत होगा। यह अनुभव रक्त की नालियों में रक्त के होने या न होने पर निर्भर है। जब दायाँ हाथ गर्म पानी में था तो त्वचा के नीचे की रक्त नलिकाओं में अधिक रक्त आ जाने के कारण साधारण तापक्रम का पानी ठंडा मालूम होगा और बायाँ हाथ ठंडे में रहने से रक्त नलिकाएँ रक्त से खाली हो जाने पर गर्म पानी का अनुभव करेगी।

स्वाद (Organ of Taste, Tongue)—जीभ—जीभ स्वाद जानने का अंग है। यह इच्छाधीन मांस पेशी से बनी है। यह मुँह के अन्दर रहती है और इसका पिछला हिस्सा गले से एक श्लैष्मिक झिल्ली से जुड़ा रहता है। इसके ऊपर भी एक श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी हुई है। इसकी ऊपर की सतह पर बहुत बारीक-बारीक दाने होते हैं, जिससे यह थोड़ी खुरदरी सी दिखाई देती है। यह दाने पैपिले (Papillae) कहलाते हैं। जिह्वा का निचला हिस्सा चिकना होता है। जीभ के ऊपर के दानों में एक सैलों का समूह होता है, जो स्वाद सैल (Taste buds) कहलाते हैं। स्नायु के तार इन स्वाद सैलों में आकर समाप्त हो जाते हैं।

जीभ में मस्तिष्क से तीन जोड़े स्नायुओं के आते हैं, पाँचवाँ, नवाँ तथा बारहवाँ। पाँचवीं स्नायु सांवेदनिक स्नायु है और जीभ के सामने के भाग में समाप्त होती है। नवीं स्नायु जीभ के बीच के भाग में रहती है। यह भी सांवेदनिक स्नायु है। इस प्रकार पाँचवी तथा नवीं स्नायु स्वाद की नाड़ियाँ हैं। बारहवीं स्नायु जीभ के पिछले भाग में रहती है और जीभ की गति का संचालन करती है, जैसे, बोलने में, भोजन करते समय, इधर-उधर चलाने में। इसी कारण यह चालक स्नायु है।

खाई जाने वाली वस्तु जब घुली हुई होती है, तब स्वाद सैलों के सम्पर्क में आने पर सैल उत्तेजित होते हैं तथा यह समाचार स्नायविक सूत्रों द्वारा मस्तिष्क केन्द्रों में पहुँचता है और इस प्रकार हमको स्वाद का बोध होता है। स्वाद का अनुभव होने के लिये यह आवश्यक है कि खाई हुई वस्तु या तो घुली हुई हो अथवा लार में घुल सके। यदि वस्तु ठोस अवस्था में होगी और मुँह में लार न हो तो स्वाद का अनुभव नहीं होगा। उदाहरण के लिये यदि जिह्वा

को अच्छी तरह से पोंछ कर उस पर नमक की डली को रक्खा जावे तो तब तक स्वाद का अनुभव न होगा जब तक कि डली लार में घुल नहीं जावेगी।

स्वाद रस चार प्रकार के होते हैं, कड़वा (bitter), मीठा (Sweet) नमकीन (Salt) और खट्टा (acid)। जीभ का आगे का भाग मीठे रस का और पिछला भाग कड़वे रस का अधिक अनुभव करता है। बाकी के रस इन्हीं चार रसों से मिल कर बनते हैं। स्वाद के साथ गंध का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि बहुत-सी खाने वाली वस्तुओं का स्वाद उसकी सुगन्धि पर भी निर्भर रहता है। जब कोई कड़वी अथवा बुरी गंध की औषधि पीनी होती है, तो लोग नाक को बन्द कर लेते हैं तथा जुकाम की अवस्था में स्वाद का ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता है।

गन्ध (Organ of Smell, Nose)—गंध का अनुभव नाक के द्वारा होता है। नाक की बनावट में तीन हड्डियाँ हैं। इधर-उधर दो हड्डियाँ (Nasal bones) हैं और बीच की हड्डी (Vomer bone) नाक को दोनों नथुनों में बाँटती है। नाक के दोनों नथुनों के अन्दर एक-एक स्पंज की तरह की हड्डी (Spongy bone) है। नाक के नथुनों में श्लैष्मिक झिल्ली रहती है। इसमें बहुत से बारीक-बारीक रोएँ या बाल होते हैं जो कि हमारे लिए बहुत ही लाभकारी हैं। जब हम श्वास लेते हैं तो वायु के साथ जो धूल के कण अथवा किसी प्रकार के जीवाणु (germs) होते हैं उन्हें रोएँ नथुनों में ही रोक लेते हैं जिससे हमारे फेफड़ों की रक्षा होती है। दूसरी बात यह है जो वायु हम श्वास के द्वारा नथुनों में खींचते हैं, वह हमारे शरीर के तापमान से भिन्न होती है अर्थात् ठंडी होती है। नथुनों में पहुँचने पर श्लैष्मिक झिल्ली के सम्पर्क में आने पर वह शरीर के तापक्रम के अनुसार हो जाती है और इस प्रकार हमको हानि नहीं पहुँचाती है। यदि ऐसा न होता तो सर्द वायु के पहुँचने से फेफड़ों को हानि पहुँचती, जैसा कि जुकाम में होता है।

मस्तिष्क से जो स्नायु के जोड़े निकलते हैं, उनमें पहला जोड़ा (Olfactory Nerves) नाक की श्लैष्मिक झिल्ली में जाकर समाप्त होता है। यह स्नायु सांवेदनिक स्नायु है और गंध से उत्तेजित हो कर संवेदना को

मस्तिष्क के केन्द्रों तक पहुँचाती है। इस प्रकार हम सुगंधि अथवा दुर्गंधि का अनुभव करते हैं। हमारी नाक के अगले सिरे का गंध से कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल नाक का पिछला भाग गंध का अनुभव करता है। जब हम मामूली साँस लेते हैं, तो गंध के तीव्र न होने की अवस्था में हम किसी प्रकार की भी गंध का अनुभव नहीं करते हैं। यदि हमको गंध का अनुभव करना हो तो हमें साँस के द्वारा जोर से अन्दर वायु खींचनी चाहिए। इससे सूँघने वाली स्नायु उत्तेजित होती है और हम गंध का अनुभव करते हैं। गंध के स्नायु गंध से उस समय उत्तेजित होते हैं जब कि गंध वाला पदार्थ वाष्प के रूप में गंध के सैलों के सम्पर्क में आता है। उस उत्तेजना को स्नायु मस्तिष्क के केन्द्रों तक पहुँचाते हैं और हम गंध का अनुभव करते हैं। जब हमको जुकाम हो जाता है तब हम गंध का अनुभव नहीं करते हैं। कारण यह है कि नथुनों के अन्दर की श्लैष्मिक झिल्ली जुकाम की अवस्था में सूज जाती है जिसके कारण वायु का भीतरी भाग में पहुँचना कठिन हो जाता है, जहाँ कि गंध के सैल तथा गंध के स्नायु स्थित हैं और इस प्रकार गंध का अनुभव जुकाम की अवस्था में नहीं होता है।

आँख (Organ of sight, Eye)—बनावट—आँखें देखने के अंग हैं। यह नाक के दाहिनी और बाईं ओर दोनों गड्ढों में रहती हैं। यह गड्ढे ओरबिट (orbits) कहलाते हैं। आँखें आकार में गोली के समान हैं। मस्तिष्क से निकली हुई स्नायु के जोड़े आँखों को मस्तिष्क से सम्बन्धित करते हैं। आँखों के ऊपर पलकें होती हैं जो कि आँखों को ढकती हैं और उनकी रक्षा करती हैं। पलकें त्वचा और मांस-पेशियों से बनी हैं और वे गति कर सकती हैं। पलकों की भीतरी सतह पर पतली श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी है। इसको नेत्राच्छादनी झिल्ली (Conjunctiva) कहते हैं। यही झिल्ली उलट कर आँख के गोलों पर चढ़ी हुई है। पलकों के किनारों पर बारीक-बारीक बाल होते हैं जो बरौनी (Eye lashes) कहलाते हैं। पलकों में जो मांस पेशियाँ होती हैं, उनके सुकड़ने से पलकें बन्द होती हैं। ऊपरी पलक पर एक पेशी और होती है जो कि पलक को ऊपर उठाती है।

आँख के गोलों की रक्षा—आँख हमारे शरीर की एक ज्ञानेन्द्रिय है

जिसके द्वारा हम देखते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हैं। आँखें दो हैं और खोपड़ी में बने हुए गड्ढों में नाक के दाहिनी और बाईं ओर स्थित है। आँख की बनावट एक गोली की तरह है। मस्तिष्क से निकले हुए दूसरे स्नायु के जोड़े (Optic Nerves) के द्वारा यह मस्तिष्क से संचालित है। पलकें हमारी आँखों के गोलों की रक्षा करती हैं। पलकें मांसपेशियों से बनी हैं और उनके ऊपर खाल चढ़ी रहती है। पलकों के भीतरी भाग में श्लैष्मिक झिल्ली रहती है। यह झिल्ली आँख के गोलों पर चढ़ी हुई है और नेत्रों को ढकने का काम करती है।

नेत्राच्छादनी झिल्ली (Conjunctiva)—यह एक झिल्ली है जो कि आँख के गोलों को ढके रहती है। आँख के गोलों के ऊपरी बाहरी हिस्से में एक गिल्टी होती है जो कि आँसू की गिल्टी (Tear gland) कहलाती है। इसमें से पानी की तरह का खारा खारा पतला तरल पदार्थ निकलता है जिसको आँसू कहते हैं। आँख की झिल्ली इस पानी से भीगी रहती है और आँखों को धो कर साफ करती है। आँसू आँख के भीतरी कोने में इकट्ठा हो जाता है और दो छोटे छोटे छेदों के द्वारा नाक की नलियों से नाक में पहुँचता है। परन्तु कभी कभी जैसे धूआँ लगने से या किसी मानसिक दुःख के कारण जब आँसू अधिक निकलते हैं तो नाक की नलियों के द्वारा बाहर नहीं निकल पाते हैं और आँख से बाहर निकलने लगते हैं।

आँख के गोलों की गति (Movement of the eyes)—आँख के गोलों में जो मांसपेशियाँ लगी है उनकी गति के कारण आँख के गोले चारों तरफ घूम सकते हैं। आँख में लगी हुई मांसपेशियाँ गिनती में छः हैं, चार मांसपेशियाँ सीधी है और दो तिरछी हैं। चार सीधी मांसपेशियाँ आँख के गड्ढे में पीछे की ओर से आती है और प्रत्येक आँख के गोले के ऊपर, नीचे, दाहिनी और बाईं ओर लगी हुई है। इस प्रकार मांसपेशियाँ आँख के गोले को अपनी गति के कारण ऊपर नीचे अन्दर और बाहर की ओर घुमाती हैं। तिरछी मांसपेशियों में एक (Superior oblique) ऊपर की तरफ और दूसरी (Inferior oblique) नीचे की ओर लगी है। इन्हीं पेशियों के कारण आँखें तिरछी घूमती

हैं। इन सब मांसपेशियों की एक साथ भी गति होती है और ये अलग अलग भी गति करती हैं तथा आँख के गोलों को प्रत्येक दिशा में घुमाती हैं। साधारणतया तो दोनों आँखों में एक साथ ही गति होती है और ये एक ही दिशा में घूमती है जिससे कि दोनों के दृष्टि लक्ष्य (Axes) समानान्तर पर रहते हैं। पास की वस्तु देखने के लिए दोनों आँखों को कुछ भीतर की ओर घूमना पड़ता है परन्तु यदि आँख की पेशी में कोई खराबी हो जाने के कारण आँखें एक ही प्रकार से नहीं घूमती है तो यह मालूम नहीं हो पाता है कि आँख बाईं ओर देख रही है या दाहिनी ओर तथा एक साथ एक ही वस्तु दो वस्तुओं के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार की आँख की दशा को भेंगा होना कहते हैं।

आँख के गोले (The Eyeballs)—आँख के गोले बिल्कुल गोल नहीं हैं। दाँएँ से बाँएँ इनकी लम्बाई एक इंच हैं। आँख के गोलों का सामने का उभरा हुआ हिस्सा कनीनिका (Cornea) कहलाता है। आँख के गोलों की दीवार तीन तहों से बनी है। दो तहें तो पूरे कोष्ठ बनाती हैं और इनमें एक प्रकार का स्वच्छ तरल पदार्थ भरा रहता है। बाहर से भीतर की ओर इन तहों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) बाहरी तह या श्वेत पटल और कनीनिका।
(२) बीच की तह या काला भाग और उपतारा।
(३) अन्दर की तह या दृष्टि परदा।

(१) श्वेत पटल—यह आँख के गोलों का सफेद भाग है। यह सौभिक तंतुओं से बनी हुई मोटी तह है और आँख के गोलों के $\frac{5}{6}$ भाग को ढके हुए है। आगे की ओर इसी से आँख का पारदर्शक गोल भाग जिसे कनीनिका कहते हैं, बनता है। कनीनिका आगे की तरफ को उभरा हुआ भाग है। इसका रंग किसी मनुष्य में नीला, किसी में भूरा और किसी में काला होता है। परन्तु असल में कनीनिका में किसी प्रकार का रंग नहीं होता है। यह तो पारदर्शी होता है। उसके पीछे जो उपतारा (Iris) होता है, उसी का रंग कनीनिका में से दिखाई देता रहता है। श्वेत पटल के पीछे एक छेद होता है। उसमें एक स्नायु, जो दृष्टि स्नायु कहलाती है, लगी रहती है।

श्वेत पटल के बाहर के भाग में कई छोटी-छोटी मांस-पेशियाँ हैं, जो आँख के गोलों को इधर-उधर घुमाती हैं।

(२) बीच की तह या काला भाग—यह एक काले रंग की भूरापन लिये हुए झिल्ली है, जो बाहरी तह (श्वेत पटल) के भीतर की ओर उससे चिपकी हुई है। यह बन्धक तंतुओं से बनी हुई है। इसमें बहुत-सी रक्त की नलियाँ और रंगों के सैल पाये जाते हैं। इस तह का काम आँख की कोठरी को अँधेरा रखना और अन्दर आने वाली रोशनी की चमक को रोकना है। इसमें भी श्वेत पटल की तरह दृष्टि स्नायु पीछे छिद्र में से हो कर लगी हुई है। सामने के भाग में यह तह अन्दर के उपतारा वाले परदे से जुड़ जाती है। उपतारा एक गोल रंगीन झिल्ली है और कनीनिका के पीछे थोड़े से फ़ासले पर रहती है। उपतारा बनने के कुछ पहले मध्य पटल (choroid) के भीतरी हिस्से में बहुत सी सुकड़नें होती हैं। ये मध्य पटल के बाहर एक घेरे में मांस-पेशियाँ हैं जो कि सिलियरी पेशी (ciliary muscles) कहलाती हैं। सिलियरी पेशी बाहरी तह और कनीनिका के मिलने की जगह से भीतरी हिस्से से निकल कर पीछे की तरफ़ जाती है। यह मध्य पटल तथा उपतारा के मिलने के स्थान से बाहरी सतह में पहुँचने के लिए पीछे की तरफ़ को जाती है और फैल जाती हैं। जब यह पेशी सुकड़ती है तो मध्य पटल को सिलियरी पेशी आगे की ओर को बढ़ाती है। ऐसा होने से आँख का लैंस (Lens) ढीला हो जाता है और बाहर की ओर को उभर (convex) आता है।

उपतारा या वर्ण पटल—यह एक गोल घेरेदार परदा है। यह कनीनिका में से जो कि पारदर्शी है दिखाई देता है। इसका रंग हर मनुष्य में भिन्न होता है, किसी का नीला, किसी का भूरा और किसी का काला। इसके बीच में एक गोल छेद होता है जिसे आँख की पुतली (Pupil) कहते हैं। उपतारा मांस-पेशियाँ रेशेदार होती हैं। ये कुछ गोलाई से पुतली को चारों तरफ़ से घेरे रहती हैं और कुछ चारों तरफ़ किरणों की तरह फैली रहती हैं। गोल मांस-पेशियाँ जब सुकड़ती हैं तो पुतली छोटी हो जाती है। अधिक प्रकाश में पुतली छोटी हो जाती है और आँख को प्रकाश

की अधिकता से हानि पहुँचाने से बचाती है। किरणों की तरह की पेशियों के सुकड़ने से पुतली फैल कर बड़ी हो जाती है। अँधेरे में पुतली बड़ी हो जाती है। यह दोनों गोलाकार और किरणों के आकार की पेशियाँ स्वाधीन हैं और उनकी गति अथवा क्रिया एवं **परावर्तित क्रिया (Reflex action)** होती रहती है क्योंकि बिना हमारे ज्ञान के प्रकाश में आँख खुली होने पर पुतली सुकड़ कर छोटी हो जाती है और अंधकार में पुतली फैली रहती है।

वर्ण पटल भी बन्धक तन्तुओं से बना है और इसमें रंग देने वाले सैल पाये जाते हैं। जो कि पिगमेन्ट सैल (pigment cell) कहलाते हैं। वर्ण पटल का पीछे का भाग काला होता है।

(३) अन्दर की तह (Retina)—यह बीच की तह या काले भाग के भीतर और उससे चिपका रहता है। दृष्टि स्नायु के सूत्र आगे फैल कर ही आँख के इस भाग को बनाते हैं। दृष्टि स्नायु की शाखा कई शाखाओं में बँट जाती है और आँख के गोले के भीतरी हिस्से के $\frac{2}{3}$ भाग को घेरती है। जहाँ से फिर दृष्टि स्नायु आँख के गोले के अन्दर जाती है उसे काला धब्बा (Blind Spot) कहते हैं। यहाँ पर प्रकाश का कोई असर नहीं पड़ता है। इस तह के बीच में एक पीले रंग का धब्बा होता है, जिसे पीला धब्बा (yellow spot) कहते हैं। इस स्थान पर देखने की सब से अधिक शक्ति होती है।

इस तह की बनावट को यदि हम अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखें तो उसमें अनेकों तहें दिखाई देंगी और इनमें से एक तह जो रौड्स और कोन्स तह (Rods and cones layer) कहलाती है, सब से महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं के द्वारा प्रकाश का बोध होता है। अन्दर की तह के किसी हिस्से में अधिक और किसी में कम प्रकाश की संवेदना का होना इन्हीं की गिनती पर निर्भर है। काले धब्बे पर यह सबसे कम होते हैं अर्थात् बिलकुल नहीं होते हैं। पीले धब्बे पर यह सबसे अधिक होते हैं। इसी कारण इस स्थान पर देखने की सब से अधिक शक्ति होती है। दृष्टि स्नायु, जो कुछ कि हम देखते हैं, उसका समाचार मस्तिष्क को पहुँचाते हैं और इस प्रकार हम देखने का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

आँख की भीतरी कोठरी (The chambers of the eye)—आँख

के भीतरी भाग को उपतारा, जो कि एक खड़े पर्दे की तरह से है, दो भागों में बाँटता है। ये आँख के कोष्ठ कहे जाते हैं। आगे का कोष्ठ (Anterior chamber) छोटा है और यह उपतारा और कनीनिका के बीच का हिस्सा है। पीछे का कोष्ठ (Posterior chamber) बड़ा है और वर्ण पटल के पीछे है। आगे के कोष्ठ (Anterior chamber) में एक प्रकार का स्वच्छ पानी की तरह का तरल पदार्थ जो कि पारदर्शी होता है, रहता है। इसे जालीय रस (Agueous Humour) कहते हैं। पीछे के कोष्ठ (Posterior clamber) में भी एक गाढ़ा लसदार तरल पारदर्शी पदार्थ रहता है। इसे स्वच्छ या स्फटिक रस (Vitreous humour) कहते हैं। यह पदार्थ एक सफेद झिल्ली में लिपटा रहता है। यह वर्ण पटल के पीछे लगे हुए लैंस को सहायता देता है। लैंस पारदर्शी होता है और पुतली (Pupil) के ठीक पीछे लगा हुआ है तथा दोनों ओर से उभरा (Convex) हुआ है। दोनों प्रकार के जालीय रस और स्फटिक रस और लैंस (Lens) तीनों मिल कर आँख के अन्दर एक माध्यम (Refractive media) का काम करते हैं जिससे प्रकाश की किरणें तिरछी हो कर इस प्रकार पड़ती हैं और दृष्टि तह पर इकट्ठी (Focus) हो जाती हैं इससे हम उस वस्तु को भली प्रकार देख सकते हैं।

दृष्टि (Vision)—किसी भी वस्तु के दृष्टिगोचर होने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रकाश की किरणें दृष्टि तह (Retina) पर इकट्ठी (Focus) हों। प्रकाश की किरणें जो कि यदि पास से देखी जावें तो तिरछी पड़ेंगी और दूरी से सीधी और समानान्तर दिखलाई पड़ती हैं। जब प्रकाश की किरणें आँख में प्रवेश करती हैं तो वह माध्यम (Refractive media) जो कि जालीय रस, स्फटिक रस और लैंस से मिल कर बनता है, उन किरणों को तिरछा करके दृष्टि तह (Retina) पर केन्द्रीभूत (focus) कर देता है जिससे अन्दर की तह पर एक बिलकुल स्पष्ट चित्र सा बन जाता है। तत्पश्चात् दृष्टि स्नायु की उत्तेजना से संवेदना मस्तिष्क के केन्द्रों में पहुँचती है और हमको वह वस्तु दिखलाई पड़ने लगती है। माध्यम के द्वारा दृष्टि तह (Retina) पर किसी भी वस्तु का प्रतिविम्ब उलटा पड़ता है। जिस प्रकार कैमरे में उलटा

प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है परन्तु जब कार्ड पर छापा जाता है तो सीधा छपता है, इसी प्रकार अन्दर की तह (Retina) पर भी प्रतिबिम्ब उलटा पड़ता है परन्तु मस्तिष्क में सीधे का बोध होता है।

वस्तुओं को भिन्न-भिन्न अन्तर से देखने की शक्ति—जो भी वस्तुएँ हमको दिखलाई पड़ती हैं वे भिन्न-भिन्न दूरी पर होती हैं, परन्तु आँख में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह सदा लैंस से एक जैसी दूरी पर रहता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि लैंस में एक ऐसी शक्ति होती है जिसके कारण वस्तु के दूर या पास होने पर लैंस अथवा दृष्टि तह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। साधारणतया जो आँखें अच्छी हैं उनमें ज्यादा दूर की आई हुई किरणें आदि इसी शक्ति के दृष्टि तह पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं। परन्तु २० फुट से अधिक दूरी की वस्तु को देखने के लिए इसी शक्ति को सहायक होना पड़ता है। लैंस और दृष्टि तह के बीच का अन्तर सदैव एक सा रहता है परन्तु पास की वस्तु देखते समय लैंस के बन्धन ढीले हो कर आगे को उभर आते हैं अर्थात् उसका उभरा हिस्सा ऊपर को उठ जाता है। इस काम में सिलियरी पेशी के सुकड़ने से लैंस आगे को उठता है। इस कारण इस पेशी पर अधिक जोर पड़ता है और यदि बराबर इसी प्रकार की क्रिया होती रहे तो यह पेशी दुर्बल हो जाती है तथा आँखें दूर के पदार्थ देखने योग्य ही (Long sighted) रह जाती हैं अर्थात् पास से वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती है और दूर से ठीक प्रकार से दिखाई देती है।

दोनों आँखों से एक ही वस्तु दिखाई पड़ना (Binocular vision)—जब हम अपनी दोनों आँखों से किसी वस्तु को देखते हैं तो वह वस्तु दो नहीं दिखाई पड़ती हैं, एक ही दिखाई पड़ती है। इसका कारण यह है कि दोनों आँखों की दृष्टि तह पर उस वस्तु की परछाहीं एक सी पड़ती है और एक ही स्थान पर अर्थात् पीले धब्बे पर पड़ती है। पेशियों के एक साथ काम करने से और शक्ति विशेष के कारण दोनों आँखों से देखने पर भी वस्तु एक ही दिखाई पड़ती है।

दृष्टि सम्बन्धी बातें (Some visual sensations)—यदि हम एक ही वस्तु को देर तक देखते रहें तो हमारी दृष्टि थक जाती है। हम किसी

चमकीली वस्तु या प्रकाश की ओर देखने के बाद सफेद दीवार या कागज की ओर देखें तो वहाँ पर एक काला धब्बा दिखलाई पड़ेगा। इससे दृष्टि का थक जाना ज्ञात होता है। दृष्टि तह का यह गुण है कि देखी हुई वस्तु को एक सैकिंड तक अपने पास रखती है। यदि चित्र चलते हुए दिखाये जावें तो वे जीवित सरीखे ज्ञात होंगे। सिनेमा में यही नियम चलता है।

प्रकाश में सात रंग पाये जाते हैं, जामनी (Violet), नीला (Indigo), आसमानी (Blue), हरा (Green), पीला (Yellow), नारंगी (Orange), और लाल (Red)। जो लोग रंगों के अंधे (Colour blind) होते हैं वे रंगों में भेद नहीं कर पाते हैं। इसका कारण दृष्टि में कोई खराबी होना होता है।

दृष्टि दोष (Defects of vision)—हमारी आँखें इस प्रकार से बनी हैं कि २० फुट से अधिक की दूरी की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दृष्टि तह पर बिलकुल ठीक पड़ता है। यह ठीक आँख होती है।

कभी-कभी किरणें आँख के गोले के छोटे होने के कारण दृष्टि तह के पीछे जा कर पड़ती हैं जिससे वस्तुओं की परछाँही दृष्टि तह पर ठीक नहीं पड़ती है।

आँखों का दूसरा दोष पास की ही वस्तु देख पाना (Short sight) है। इसमें यदि आँख का गोला साधारण से अधिक लम्बा होता है तो दूर से किरणें आ कर दृष्टि तह पर पढ़ने के स्थान पर बीच में इकट्ठी होती हैं। इस कारण से उस पर प्रतिबिम्ब साफ नहीं पड़ता है। ऐसी दशा में कौनकेव लैंस की ऐनक का इस्तेमाल करना होता है।

दो प्रकार की दृष्टि (Astigmatism)—इस दशा में आँख का कुछ हिस्सा दूर की वस्तु को देख सकता है और कुछ पास की वस्तु को। इसका कारण कनीनिका की गोलाई का एक सा न होना होता है।

जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है और ४० साल के बाद साधारणतया किसी न किसी प्रकार का दृष्टि दोष हो जाता है। बच्चों की आँखें बारीक अक्षरों की पुस्तक पढ़ने से अथवा मंद प्रकाश में पढ़ने से दूषित हो जाती है।

आँख हमारे शरीर का बहुत ही प्रमुख अंग है। आँख के बिना संसार

अंधकारमय हो जाता है। इस कारण इसकी रक्षा करना बहुत ही आवश्यक है और इसके लिए आरम्भ से ही आँख के स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिये।

कान (Ear—The Organ of Hearing)—कान भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। इसके द्वारा हम सुनते हैं। जो कुछ भी ध्वनि होती है कान उस ध्वनि की लहरों को इकट्ठा करके स्नायविक प्रेरणा में बदलता है और फिर उसको मस्तिष्क में ले जाता है। कान के बाहरी भाग में एक नली है, जिसको कान की नली (Auditory Canal) कहते हैं। शब्द की तरंगें (Sound waves) पहले बाहरी कान से इस कान की नली में आती हैं और एक पतली झिल्ली से जिसे ढोल (Drum or Tympanie membrane) कहते हैं, टकराती हैं। यह झिल्ली बाहरी कान और मध्य कान के बीच में है।

कान को हम तीन भागों में बाँटते हैं :—

(१) बाहरी कान (External Ear)
(२) मध्य कान (Middle ear)
(३) भीतरी कान (Internal Ear)

बाहरी कान (External Ear)—बनावट—बाहरी कान कार्टिलेज (Cartilege) से बना हुआ है और उसके ऊपर खाल चढ़ी हुई है। इसका आकार सीप की तरह का है। इसमें एक कान की नली (auditory canal) शुरू होती है, जो बिलकुल सीधी नहीं है वरन टेढ़े-मेढ़े रास्ते की तरह से है। इसके भीतरी सिरे पर एक गोल झिल्ली लगी रहती है, जिसे ढोल (Drum) कहते हैं। इसमें अन्दर की तरफ खाल की पतली तह होती है, जिसमें बहुत बारीक-बारीक बाल होते हैं और बहुत छोटी-छोटी गिल्टियाँ भी होती हैं, जिनमें से एक प्रकार का मोम की तरह का गाढ़ा तरल पदार्थ निकलता रहता है, जो कान के भीतरी भाग को चिकना रखता है। यह तरल पदार्थ कान का मैल (Ear wax) कहलाता है। यह कान का मैल और कान के बाल हमारे लिये बहुत सहायक हैं। यह धूल के कणों को और किसी प्रकार के कीड़े इत्यादि को बाहरी कान में ही रोक लेते हैं तथा कान के दूसरे भागों में नहीं जाने देते हैं।

मध्य कान (Middle ear)—कनपटी (Temporal Bones) की

हड्डियों से बनी यह एक छोटी कोठरी है। इसके अन्दर पतली श्लैष्मिक झिल्ली (muscus membrane) चढ़ी रहती है। इसकी दीवार बाहरी कान की ओर रहती है और भीतरी दीवार के बाद से भीतरी कान (Internal Ear) आरम्भ होता है। इस कोठरी में हवा भरी रहती है। इसकी भीतरी दीवार में दो छेद होते हैं, एक गोल और दूसरा अंडे की शक्ल का (oval shape)। मस्तिष्क से यह एक छोटी हड्डी के टुकड़े से अलग किया गया है। इसके ऊपर और नीचे के भाग हड्डियों से बने हुए हैं। मध्य कान और गले का सम्बन्ध एक नली के द्वारा है, जिसको इसचियन ट्यूब (Eustachian tube) कहते हैं। बहुत जोर की ध्वनि या धमाका होने पर मध्य कान की हवा गले में चली जाती है और इस प्रकार मध्य कान और बाहरी कान के बीच की झिल्ली को फटने से बचा देती है। ढोल (Drum) से लेकर मध्य कान में तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ एक लाइन में हैं। ये आपस में बंधक तन्तुओं द्वारा बँधी हुई हैं। ये हिलने घूमने वाले कई जोड़ बनाती हैं। इन तीनों हड्डियों के नाम उनकी बनावट के आधार पर रक्खे गये हैं। सब से पहली हड्डी जो ढोल के पास है, मुगदर हड्डी कहाती है। दूसरी हड्डी को नेहाई और तीसरी हड्डी को रकाब कहते हैं। यह हड्डी भीतरी कान के बिलकुल करीब होती है। शब्द की लहरें सब से पहले बाहरी कान से होती हुई ढोल पर पहुँचती है और फिर इन तीनों हड्डियों से होती हुई भीतरी कान में पहुँचती है।

भीतरी कान—इसकी बनावट बहुत जटिल और विचित्र है। यह कनपटी की हड्डियों से बनी कोठरी (Cavity) के बिलकुल अन्दर रहता है। इसकी बनावट इतनी जटिल होने के कारण इसे घूम घुमैया (Labyrinth) कहते हैं। भीतरी कान बना तो हड्डियों का है परन्तु इसके अन्दर का भाग घूम घुमैया झिल्ली से बना होता है। इस झिल्ली से बने हुए जटिल कोष्ठ में एक प्रकार का तरल पदार्थ (endilymph) भरा रहता है। जब शब्द की तरंगें मध्य कान की हड्डियों से टकराती हुई आती हैं, तो आकर घूम घुमैया की झिल्ली से भी टकराती हैं। इसी कारण इसके अन्दर के तरल-पदार्थ में भी कम्पन होता है और शब्द की लहरें भीतरी कान के इस हिस्से में भी पहुँच जाती हैं। यह भाग कान का

सब से आवश्यक अंग है। इसमें मस्तिष्क से निकले हुए स्नायुओं का आठवाँ जोड़ा (Auditory Nerves) समाप्त होता है। भीतरी कान तीन भागों में बँटा हुआ है।

(१) कर्ण कुटी (Vestibule)

(२) कौक्लिया (Cochlea)

(३) तीन अर्द्ध चक्राकार नलियाँ (Semi circular canals)

कर्ण कुटी—यह भीतरी कान के घूम घुमैया भाग के बीच का भाग है। इसके सामने कौक्लिया और पीछे की तरफ अर्द्ध चक्राकार नलियों (Semi Circular Canals) के भाग हैं। इसकी दीवार में अंडे की शक्ल का एक छिद्र होता है, जिसमें मध्यकान की रकाव नाम की हड्डी का चौड़ा हिस्सा ढकने की तरह लगा हुआ है।

कौक्लिया—इसकी शक्ल शंख से बहुत मिलती जुलती है और कर्ण-कुटी के सामने नीचे की तरफ को घड़ी की कमानी की तरह झुका हुआ है। इसके अन्दर के झिल्ली वाले भाग में स्नायु के सिरे रहते हैं।

अर्द्ध चक्राकार नलियाँ—यह कर्णकुटी के पिछले भाग से निकलती हैं और गिनती में तीन हैं। ये कर्णकुटी के पाँच छिद्रों से जुड़ी हुई हैं और तीन त्रिकोण की शक्लें बनाती हैं। इनके दो सिरे आपस में जुड़ने के बाद कर्णकुटी के एक छिद्र से जुड़ते हैं। इन तीनों नलियों का एक-एक सिरा चौड़ा है, और इनमें स्नायु की शाखाएँ फैली हुई हैं। स्नायु के तार सांवेदनिक हैं और छोटे मस्तिष्क (Cerebellum) के केन्द्रों में जाते हैं तथा शरीर की गति की सूचना देते हैं। छोटा मस्तिष्क शरीर को सन्तुलित रखता है। इस कारण अर्द्ध चक्राकार नलियों और छोटे मस्तिष्क में सम्बन्ध है, और यदि इनमें किसी प्रकार की हानि हो जावे तो सिर में चक्कर आने की बीमारी हो जाती है।

ध्वनि तरंगों का कान में पहुँचना (Transmission of sound waves to the organ of hearing)—जब किसी प्रकार की ध्वनि होती है अथवा किसी भी वस्तु में से आवाज निकलती है तो ध्वनि की तरंगों की थर-थराहट वायु में भी थर-थराहट उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार ध्वनि की

तरंगें वायु में भी तरंगें अथवा लहरें उत्पन्न कर देती हैं। ये वायु तरंगें बहुत तेज चाल से चलती हैं अर्थात् ११०० फुट प्रति सैकेंड की गति से चलती हैं। सब से पहले बाहरी कान के अन्दर पहुँच कर कान की नली से होती हुई ढोल में टकराती हैं, जिसके कारण ढोल में कँपकँपी उत्पन्न होती है और फिर यह तरंगें मध्य कान की तीनों छोटी हड्डियों मुगदर, नेहाई और रकाब में कँपकँपी फैलाती हुई भीतरी कान की झिल्ली में के तरल पदार्थ में लहरें पैदा करती हैं। इन सब लहरों की थरथराहट से स्नायु के सिरे उत्तेजित होते हैं, और मस्तिष्क को प्रेरणाएँ ले जाते हैं। इसी प्रकार हमको शब्द सुनाई पड़ता है।

बहरापन (Deafness)—मनुष्य कई कारणों से बहरा हो जाता है, जैसे—

(१) कान की नली में कान का मैल (Earwax) अधिक होने से भी सुनाई नहीं पड़ता है।

(२) बाहरी कान और मध्य कान के बीच का पर्दा, जिसे ढोल कहते हैं यदि किसी कारण से वह फट जाये तो सुनाई नहीं देता है।

(३) कान के अन्दर किसी प्रकार का रोग हो जाने से; जैसे, फोड़े इत्यादि से।

(४) कभी-कभी गले में सूजन आ जाने के कारण गले और कान के बीच की नाली (Eustachian tube) बन्द हो जाती है और इस प्रकार सुनाई कम पड़ने लगता है।

(५) कान के स्नायु में किसी प्रकार की हानि हो जाने से अथवा मस्तिष्क के श्रवण केन्द्रों में किसी प्रकार का दोष आ जाने से भी श्रवण शक्ति नष्ट हो जाती है।

वाणी और शब्द

स्वर यंत्र (Larynx)—इस अंग के द्वारा ही शब्द उत्पन्न होते हैं। श्वास की नली (Trachea) का यह ऊपर का सिरा ही स्वरयंत्र (Larynx) कहलाता है। यह नौ कार्टिलेजों (Catileges) से मिल कर बना है। यह

कार्टिलेज पेशियों और बंधक तन्तुओं के द्वारा आपस में जुड़े हुए हैं। इसके भीतरी हिस्से में श्लैष्मिक झिल्ली (Muscus membrane) लगी हुई है। यह हिस्सा काफी चौड़ा है और इसका ऊपरी हिस्सा मुँह के साथ और नीचे का हिस्सा श्वास की नली से जुड़ा हुआ है। जिन नौ कार्टिलेजों से स्वर-यंत्र बना है उनमें से चार प्रमुख हैं और वे निम्नलिखित हैं :—

(१) चुल्ली कार्टिलेज (Thyroid)
(२) मुद्रा " (Cricoid)
(३) दो त्रिकोण " (Arytenoid)

स्वर यंत्र के ऊपर एक पीपल के पत्ते की शकल का कार्टिलेज होता है जिसको इपिगलोटिस (Epiglottis) कहते हैं। इसका नीचे का हिस्सा चुल्ली कार्टिलेज से लगा रहता है। जिस समय हम कोई वस्तु खाते हैं तो निगलते समय यह कार्टिलेज श्वास की नली के ऊपर आ जाती है और उसे ढक देती है जिससे वह वस्तु श्वास की नली के अन्दर नहीं जा पाती है। अन्यथा यह कार्टिलेज श्वास लेते समय खड़ी रहती है।

चुल्ली कार्टिलेज (Thyroid)—यह कार्टिलेज स्वरयंत्र के सामने के भाग में रहती है और दोनों तरफ के दाहिने बाएँ भाग का बहुत सा हिस्सा बनाती है। इसके बीच का भाग उभरा हुआ होता है जो आदम का सेब (Adam's apple) कहलाता है। इस हड्डी के दोनों किनारे पीछे एक झिल्ली के द्वारा गले की हड्डी से जुड़े रहते हैं और उसके दोनों सिरे नीचे की तरफ मुद्रा कार्टिलेज से जुड़े रहते हैं।

मुद्रा कार्टिलेज—यह कार्टिलेज चुल्ली कार्टिलेज के नीचे पाई जाती है। वायु की नली में जितनी भी कार्टिलेज पाई जाती है उनमें यही पूरी गोल है। इसकी शक्ल एक अँगूठी के समान है। इसका चौड़ा हिस्सा पीछे की ओर रहता है और मुद्रा कहलाता है तथा अँगूठी की तरह का पतला घेरा आगे की तरफ रहता है। मुद्रा कार्टिलेज और चुल्ली कार्टिलेज के बीच में जो खाली स्थान रहता है उसमें एक झिल्ली लगी रहती है। इसके दोनों तरफ दो तिकोने कार्टिलेज रहते हैं।

त्रिकोण कार्टिलेज (Arytenoids)—ये दो छोटी-छोटी तिकोनी बहुत कुछ पिरामिड की शक्ल की कार्टिलेज होती हैं। यह दोनों मुद्रा कार्टिलेज के ऊपर दोनों तरफ लगी हुई हैं। इनके जोड़ हिलने-डुलने वाले होते हैं। इन तिकोनी कार्टिलेजों और चुल्ली कार्टिलेज की पिछली सतह में दो लचकीले तार लगे होते हैं। यह तार श्लैष्मिक झिल्ली से ढँके रहते हैं। यह तार स्वर के तार कहलाते हैं। ये तार इस प्रकार से लगे हैं कि जब वे खिंच जाते हैं तो उनके किनारे समानान्तर आ जाते हैं और उसमें से वायु के निकलने के लिए एक पतला सा छेद रह जाता है। स्वर तार के ऊपर दोनों तरफ तन्तुओं की दो और तहें हैं। ये स्वर उत्पन्न करने में कोई सहायता नहीं देती हैं और इस कारण झूठे स्वर तार (False Vccal Cords) कहलाती हैं।

कंठ अस्थि (Hyoid Bone)—इसका आकार अंग्रेजी के अक्षर यू (U) से मिलता-जुलता है। यह जीभ के बिलकुल पीछे के भाग में और चुल्ली कार्टीलेज के ऊपर होती है। यह किसी दूसरी हड्डी से जुड़ी नहीं है और खोपड़ी के नीचे के हिस्से से बन्धनों के द्वारा लटकी हुई है। यह जीभ और स्वरयंत्र के साथ बहुत सी मांसपेशियों के द्वारा जुड़ी हुई है।

स्वर और बातचीत करना (Voice and speech)—जब स्वर के तारों में कम्पन होता है तो स्वर उत्पन्न होता है। मामूली श्वास लेते समय स्वर के तार ढीले रहते हैं और गले का छेद चौड़ा रहता है जिससे कि वायु आसानी से आती जाती रहती है। परन्तु बोलते समय या गाते समय हड्डियों में लगी मांसपेशी की गति के कारण स्वर तार खिंच जाते हैं और इस कारण से गले का छेद बिलकुल पतला सा रह जाता है। जब वायु उनके बीच में से निकलती है तो स्वर के तारों में कम्पन होता है और स्वर उत्पन्न होता है।

स्वर के भेद (Pitch of the Note)—स्वर तार के कम्पन के अधिक अथवा कम होने पर ही स्वर का मन्द और तीव्र होना निर्भर रहता है। स्वर का तार जितना छोटा और खिंचा हुआ होगा स्वर उतना ही तीव्र होगा और कम्पन की संख्या भी बढ़ जावेगी।

स्वर के गुण (Quality of the Voice)—स्वर का मीठा होना

अथवा कठोर होना हमारे कई अंगों पर निर्भर है। मुँह, नाक, गले की बनावट और जीभ की स्थिति का स्वर के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य की आवाज भिन्न प्रकार की होती है। स्वरयंत्र की बनावट तो सब की एक सी होती है चाहे वह लड़का हो अथवा लड़की परन्तु लड़कों के बढ़ने के साथ उनके स्वरयंत्र के तारों की लम्बाई बढ़ती जाती है और इस कारण तारों के कम्पन में अन्तर पड़ जाने से स्वर बदल जाते हैं।

बोलना (Speech)—बोलना भी शब्द है जो गाल, होठ और दाँतों के जीभ से टकराने से शब्दों में बँट जाता है। देखने से मालूम पड़ जावेगा कि जब हम बोलते हैं तो हमारी जीभ कभी गालों से, कभी होठ से, कभी दाँतों से और कभी तालू से टकराती है। इस प्रकार स्वर शब्दों में बदल जाते हैं। फुसफुसाहट बिना शब्दों की बातचीत है। इसमें स्वर के तारों में किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता है, केवल वायु के जरिये से होठ और जीभ की गति के द्वारा तनिक सा शब्द होता है।

अध्याय १२

सन्तानोत्पत्ति

सन्तानोत्पत्ति संस्थान पुरुष और स्त्री शरीर में भिन्न-भिन्न होते हैं। स्त्री शरीर में जननेन्द्रिय को दो भागों में बाँट सकते हैं, वाह्य और आन्तरिक। बाहरी इन्द्रियों में बृहत् भगोष्ठ (Mous Pubis, Labia Majora), क्षुद्र भगोष्ठ (Labia Minora), भगनासा (Clitoris) अन्य गर्भ सम्बन्धी अंग (The Vestibute of Vagina, the greater Vestibular glands) आदि होते हैं। इन सब भागों को मिला कर भग (Vulva) कहते हैं।

मोस पुबीस (Mous Pubis)—यह भाग बाहर की ओर होता है। त्वचा के नीचे चर्बी जमा होने से बन जाता है और वयस प्राप्त होने पर बालों से ढक जाता है।

बृहत् भगोष्ठ (Labia Majora) त्वचा की दो लम्बी तहें हैं जिनके नीचे चर्बी रहती है। वयस प्राप्त हो जाने पर इनका आकार बढ़ जाता है। यह भीतर से कोमल होती है और बाहर से इनका रंग भूरा सा होता है।

क्षुद्र भगोष्ठ (Labia Minora) बृहत भगोष्ठ के भीतर की ओर दो कोमल लम्बी त्वचा की तहें होती हैं जो कि ऊपर से भगनासा (Clitoris) से चल कर नीचे और बाहर की ओर होती हुई नीचे आ कर एक दूसरे में मिल जाती हैं।

भगनासा (Clitoris), इरेक्टिल (Erectile) तन्तु (Tissue) का भाग है।

वेस्टिबुल (Vestibule) दोनों क्षुद्र भगोष्ठ के बीच में रहता है। इसमें मूत्रमार्ग (Urethral Opening) और सन्ततिमार्ग (Vaginal Opening) रहते हैं। इस भाग में बहुत सी विशेष प्रकार की ग्रन्थियाँ (Subaceous) रहती हैं। इनमें से एक गीला और लेसवाला पदार्थ निकलता है। मूत्रमार्ग आगे की ओर होता है और योनि (Vagina) पीछे होती है। इसके किनारे थोड़े से उठे रहते हैं। सन्ततिमार्ग (Vaginal opening) मूत्रमार्ग के पीछे की ओर स्थित होती है। यह विरजिन्स (Virgins) में लाइमेन (Lymen) से ढकी रहती है। इसके मध्य में एक छेद होता है जिससे मासिक रक्त स्राव होता है। सन्तति मार्ग के दोनों ओर दो ग्रन्थियाँ होती हैं। यह दो नलियों द्वारा खुलती हैं। इन्हें बड़ी ग्रन्थियाँ (Vestibular) कहते हैं।

स्त्री की आन्तरिक अथवा भीतरी जननेन्द्रियाँ निम्नलिखित भागों अथवा अंगों से मिल कर बनती हैं।

योनि (Vagina), गर्भाशय ग्रीवा (Cervix), गर्भाशय (Uterus), डिम्ब ग्रन्थियाँ (Ovaries)। ये सब अंग पेट के निचले भाग में जो कि हड्डियों के अन्दर होता है, होते हैं :—

योनि (Vagina) सन्ततिमार्ग (Vaginal opening) से आरम्भ हो कर गर्भाशय के मुँह अथवा गर्भाशय ग्रीवा तक जाने वाला एक गोल मार्ग होता है। यह म्यूकस मैमरिन द्वारा ढका होता है और उसमें बहुत सी नन्हीं-नन्हीं

ग्रन्थियाँ होती हैं जो कि योनि (Vagina) में एक प्रकार का रस देती रहती हैं। इससे वहाँ एसिडिक प्रतिक्रिया होती रहती है। इसी कारण साधारणतया यहाँ रोग कीटाणु पनप नहीं पाते हैं।

गर्भाशय ग्रीवा वास्तव में गर्भाशय का ही निचला भाग है। साधारणतया यह मार्ग बन्द रहता है किन्तु मैथुन तथा सन्तानोत्पत्ति काल में खुल जाता है।

गर्भाशय गर्भाशय-ग्रीवा से ऊपर होता है। यह भीतर से त्रिकोण की भाँति होता है। बाहर से यह मांस पेशियों के कारण कुछ लम्बा सा दिखाई देता है। यह भीतर से प्रायः ३" लम्बा २" चौड़ा और ऊपर से १" मोटा होता है। साधारणतया इसका भार ३०-४० ग्राम होता है। सन्तानोत्पत्ति के समय यह बहुत बढ़ जाता है।

गर्भाशय के आगे की ओर मसाना (Urinary bladder) तथा पीछे की ओर मलाशय (Rectum) होता है।

गर्भाशय की भीतरी सतह भी एक विशेष प्रकार की म्यूक्स मैमरिन द्वारा बनी होती है। इसकी मोटाई प्रायः ⅟₄" होती है और इसमें सीधी तथा पेंचदार धमनियाँ खुलती हैं। यह हर मास बाहर निकल आती है और रक्तस्राव होता है।

गर्भाशय के ऊपर के भाग से दोनों ओर दो नलियाँ सी होती हैं। इन्हें डिम्ब प्रणाली (Fallopian tubes) कहते हैं। इनमें से डिम्बग्रन्थि से डिम्ब (अंडा) आता है।

डिम्ब ग्रन्थियाँ गर्भाशय के दोनों ओर थोड़ी दूर पर पीछे की ओर स्थित होती हैं। इनका कार्य डिम्ब (Ova) निर्माण करना तथा दो प्रकार के होरेमोन (Hormones) बनाना होता है। इन पर एक पिटुलरी (Pitulary) नाम की ग्रन्थि के सख्त नियन्त्रण रखते हैं। प्रत्येक मास में बहुत से अंडकोषों में से एक अंडा पककर निकलता है और इन नलों द्वारा गर्भाशय में पहुँच जाता है।

पुरुष की जननेन्द्रियाँ भी कई अंगों से मिल कर बनती हैं।

गोली (Tesles) पुरुष की जनन ग्रन्थियाँ होती है और एक ढीली त्वचा में रहती है। यह शुक्र नली (Spermatic cord) द्वारा लटकी रहती है। इस ग्रन्थि से कई छोटी छोटी नलियाँ निकलती हैं जोकि इपिडिडम्स (Epididymes) बनाती हैं और यही नली ऊपर चढ़ते हुए शुक्रनली का भी काम करती है। ऊपर जा कर यह नली पेट के अन्दर प्रवेश कर जाती है और इसको वास डफरेन्स (Vas deference) कहा जाता है। ज्यों-ज्यों यह नली ऊपर जाती है त्यों-त्यों चौड़ी होती जाती है। फिर मध्य की ओर मसाने के दोनों ओर जा कर थैली सी में पहुँच जाती है। इसके पास ही सेमिनल वेसीकल (Seminal Vesicle) होते हैं। यह भी एक प्रकार की थैलियाँ ही हैं जो कि मसाने के निचले भाग में पीछे की ओर होती हैं। इनमें एक रस (Seminal) भरा रहता है। इसके नीचे के भाग के साथ एक ग्रन्थि (Prostate) लगी रहती है।

एजेकुलेटरी डक्ट (Ejaculatory ducts) दो होते हैं और दोनों ओर की वास डफरेन्स (Vas deference) और सेमीनल वेसीकल (Seminal Vesicle) की नली के मिलने से बनते हैं। यह नली (Prostate) ग्रन्थि के अन्दर से होती हुई मूत्र नलिका में खुल जाती है।

पेविस (Pevis) बाह्य अंग होता है और यह त्वचा से ढका रहता है।

प्रोसटेट (Prostate) एक ग्रन्थि होती है जो कि मसाने के नीचे स्थित होती है। मूत्रनलिका का प्रथम भाग इसमें से ही निकलता है।

दो छोटी पीले रंग की ग्रन्थियाँ होती हैं जिन्हें बल्बो यूरेथल (Bulbo-urethral) ग्रन्थियाँ कहते हैं।

स्त्री के भीतरी जनन अवयव बालक का जन्म से पूर्व पालन करते हैं और वहीं से बालक का जन्म भी होता है।

अध्याय १३

स्वास्थ्य, व्यक्ति तथा परिवार

स्वास्थ्य—स्वस्थ रहने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर की ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना पड़ता है किन्तु साथ ही साथ उसे उस वातावरण अर्थात् घर, मुहल्ले आदि की ओर भी ध्यान देना चाहिए जिनसे कि वह सम्बन्धित होता है।

व्यक्तिगत स्वास्थ्य—व्यक्ति को अपने शरीर की स्वच्छता की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि स्वच्छ शरीर ही स्वस्थ रह सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने दाँत, आँखें, त्वचा, कान, गला, नाखून आदि स्वच्छ रखने चाहिए। प्रतिदिन दाँतों को दातुन अथवा मंजन से भली प्रकार स्वच्छ करना चाहिए। यह आदत बालक में बचपन से ही डाल देनी चाहिये। आँखों को भी स्वच्छ पानी से प्रतिदिन धोना चाहिए तथा कभी भी गन्दे रुमाल अथवा अन्य कपड़ों से नहीं पोंछना चाहिए। आँखों में तिनका आदि भी नहीं डालना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करके शरीर को खुरदरे तौलिए से रगड़ कर पोंछना त्वचा की स्वच्छता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से त्वचा का रोगों से छुटकारा हुआ रहता है। कान में मैल नहीं जमने देना चाहिए। गला भली प्रकार स्वच्छ पानी से गरारे करके प्रतिदिन स्वच्छ करते रहना ही उचित है। प्रायः हमारे देश में हाथों से ही भोजन बनाने और खाने का प्रचलन है अतः किसी भी अवस्था में नाखून अधिक बड़े नहीं रहने देना चाहिए क्योंकि बड़े नाखूनों में मैल भर जाती है और भोजन बनाने में उसका कुछ अंश भोजन के साथ मिल जाता है तथा खाते समय भी उस मैल का कुछ अंश भोजन के साथ मिल कर हमारे भीतर चला जाता है। अतः नाखून बड़े होते ही काट देने चाहिए और उन्हें चाहे जितने बड़े हों प्रतिदिन स्वच्छ करते रहना चाहिए। शरीर के अन्य अंगों तथा अवयवों की स्वच्छता और देखभाल करना भी अत्यन्त आवश्यक है। तनिक भी असावधानी से बालों में जुएँ पड़ जाती हैं तथा अन्य अवयवों में भी रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

और उस जीवन में कुछ एक विचार, विश्वास, धारणाएँ, भावनाएँ, स्वभावगत कार्य-प्रणालियाँ आदि कार्य करती हैं किन्तु यह सब उसे कहाँ से मिलती हैं। हो सकता है कि उनमें से कुछ एक उसकी दृष्टि से मौलिक हों अर्थात् ऐसी हों जिनका कि उसके समाज में प्रचलन नहीं है किन्तु अधिकांश तो ऐसी ही होती हैं जो कि उसे अपने परिवार, गुरुजन, समाज से उत्तराधिकार में मिली हैं। जिन्हें वह मौलिक समझता है, वे भी सर्वथा नवीन ही हों ऐसी बात नहीं है। वे भी बहुत कुछ समाज की ही किसी न किसी रूप में मूलभूत रूप से, देन होती हैं और जो सर्वथा मौलिक ही होती हैं, वे समाज के निर्माण का आधार बनती हैं अर्थात् यदि मानव के लिए, समाज के लिए श्रेयस्कर, हितकर हुई तो समाज द्वारा स्वीकृत हो कर उसका अंग बन जाती हैं। समाज व्यक्ति को अपने सर्वजन-स्वीकृत साँचे में ढालता है। किन्तु एक तो उसका ढालना कभी पूर्णतया ठीक-ठीक नहीं हो पाता है और दूसरे वह साँचा भी परिवर्तनशील होता है।

इतना तो निश्चित ही है कि व्यक्ति जो कुछ करता, जानता, मानता है, वे सब कुछ समाज अर्थात् उसके अतिरिक्त अन्य प्राणियों, मानवों को भी प्रभावित करने वाले होते हैं।

सार्वजनिक स्वास्थ्य—समाज सब ही छोटे बड़े समूहों से मिल कर बनता है। समूह परिवारों से मिल कर बनते हैं और परिवार व्यक्तियों से बनते हैं। यदि व्यक्ति का अस्तित्व ही न हो तो समाज नहीं बन सकता है और यदि समाज के अस्तित्व का होना आवश्यक है तो व्यक्ति का होना और भी अधिक आवश्यक है। समाज का एक प्रकार का अथवा दूसरे प्रकार का होना व्यक्ति के एक प्रकार के अथवा दूसरे प्रकार के होने पर निर्भर रहता है। किसी भी जाति अथवा समाज के स्वास्थ्य को अच्छा अथवा बुरा कहनेका अर्थ यही तो है कि उस जाति अथवा समाज के अधिकांश व्यक्तियों का स्वास्थ्य अच्छा अथवा बुरा है। यही नहीं, यदि समाज में कोई कार्य होना आवश्यक है तो उसके लिए प्रायः सब व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होगी। इसका तात्पर्य यह है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के निर्माण के लिए भी व्यक्ति के सहयोग

की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि व्यक्तियों के स्वास्थ्य को ले कर ही तो सार्वजनिक स्वास्थ्य बनता है और व्यक्तियों के ही परिश्रम, ध्यान और स्वास्थ्यकर स्वभाव से सार्वजनिक अर्थात् सब व्यक्तियों का स्वास्थ्य ठीक बना रहना सम्भव है।

सब क्षेत्रों की भाँति यदि इस क्षेत्र में भी जनता का, नागरिकों का, सब लोगों का सहयोग न हो तो सार्वजनिक स्वास्थ्य की किसी भी प्रकार रक्षा नहीं की जा सकती है। यहाँ तक कि यदि जन स्वास्थ्य को राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार, शासन विभाग का ही कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व मान लिया जाए तो भी जन-सहयोग के बिना वह कर्तव्य पूरा होना कठिन ही नहीं प्रायः असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ—स्वास्थ्य के नियमों में स्वच्छता प्रधान है। घर की ही स्वच्छता से काम नहीं चलता है, वरन् घर के आस-पास की स्वच्छता का भी अत्यधिक महत्त्व होता है। शासन-सत्ता चाहे जितना भी सड़कों और सार्वजनिक स्थानों को स्वच्छ रखने का प्रबन्ध कर ले, यदि सड़क पर चलने वालों में उसे स्वच्छ रखने की भावना और वैसा ही स्वभाव नहीं होगा तो किसी प्रकार भी सड़क स्वच्छ नहीं रह पायेगी। यदि आने जाने वाले छिलके, कागज़ के टुकड़े, थूक तथा अन्य कूड़ा करकट सड़क पर निरन्तर डालते ही रहेंगे तो उसे स्वच्छ रखा ही नहीं जा सकता है।

इसी प्रकार छूत के रोगों को फैलने न देना भी उसी अवस्था में सम्भव हो सकता है जब कि इस प्रकार के रोगी और उनके परिवार के अन्य व्यक्ति इस बात का ध्यान रखें कि उनसे औरों को छूत न लग जाए तथा इस प्रकार के रोगों को न तो छिपाएँ ही और न स्वयं दूसरों तक उन्हें पहुँचाने का साधन ही बनें।

इस स्थान पर यह आवश्यक जान पड़ता है कि हम सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा व्यक्ति के स्वास्थ्य के बीच अन्तर समझ लें। यों तो प्रत्येक व्यक्ति का निजी शरीर है और उस शरीर का स्वस्थ्य अथवा अस्वस्थ रहना व्यक्ति का स्वास्थ्य कहा जा सकता है। यह ठीक है कि अस्वस्थ व्यक्ति अपने लिए तो भार होता ही है दूसरों के लिए भी भार स्वरूप हो जाता है। यही नहीं, जाति, देश

और समाज के लिए भी अकर्मण्य अथवा कार्य करने के अयोग्य हो कर भार ही हो जाता है। ऐसा व्यक्ति देश, जाति और समाज के अन्न आदि का तो भक्षण करता ही है, उसके ऊपर और भी बहुत कुछ व्यय किया जाता है किन्तु वह किसी भी दृष्टि से समाज देश आदि के लिए उपयोगी नहीं होता है। व्यक्तियों से मिल कर समाज बनता है अतः व्यक्ति के स्वस्थ अथवा अस्वस्थ होने का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर भी पड़ता है। अब यह देखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति के शरीर के स्वस्थ एवं अस्वस्थ होने के कारण कौन कौन से हो सकते हैं। सर्वप्रथम और सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व हैं, भोजन और तत्सम्बन्धी आदतें। यह तो निर्विवाद सत्य है कि भोजन और तत्सम्बन्धी आदतें व्यक्ति को स्वस्थ अथवा अस्वस्थ बना सकती हैं। यदि भोजन में सब ही आवश्यक तत्त्व पूर्ण मात्रा में शरीर की आवश्यकता के अनुसार हों और यदि खाद्य वस्तुओं को ठीक समय पर ठीक मात्रा में, ठीक ढंग से चबा कर खाया जाए तथा व्यायाम आदि द्वारा पचाया जाए, तो पाचन-शक्ति पूर्णतया ठीक रहेगी एवं शरीर को सब ही आवश्यक पदार्थ उचित मात्रा में मिलते रहेंगे। ऐसी दशा में शरीर कभी अस्वस्थ हो ही नहीं सकता है। दूसरा आवश्यक तत्त्व है, खुली स्वच्छ वायु। यदि किसी भी मनुष्य के फेफड़ों को भली प्रकार श्वास लेने के लिए स्वच्छ वायु सदा-सर्वदा मिलती रहेगी तो उसका शरीर ठीक बना रहेगा। तीसरी आवश्यकता है खानपान, शरीर, घर मकान और उसके वातावरण आदि की स्वच्छता की। केवल शरीर को ही स्वच्छ रख कर व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता है। चाहे जितना भी स्वस्थ शरीर क्यों न हो यदि घर के पास ही पानी से भरे गढ़े होंगे तो उनमें मच्छर उत्पन्न होंगे और शीघ्र ही वह स्वस्थ शरीर मलेरिया ज्वर द्वारा ग्रस लिया जायेगा। फिर कहाँ रह जायेगा स्वस्थ शरीर? इसी प्रकार यदि मल मूत्र आदि का घर से बाहर निकलने का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं होगा अथवा वह घर से निकाल कर बाहर निकट ही कहीं फेंक दिया जायेगा तो उसमें से दुर्गन्ध उठ कर प्रायः सब ही मुहल्ले वालों के न केवल श्वास लेने वाले वायु को ही वरन सब ही वस्तुओं को दुर्गन्धियुक्त और अस्वच्छ करके उन्हें रोगी कर देगी। इसी प्रकार

स्वच्छ जल, स्वच्छ वायु, स्वच्छ खाद्य पदार्थ, स्वच्छ वस्त्र आदि की शरीर को स्वस्थ रखने के लिए घनी आवश्यकता है। अब देखना यह है कि इन तीन प्रमुख आवश्यकताओं का पालन व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से कहाँ तक कर सकता है।

आज का विश्व पर्याप्त रूप से जटिल हो चुका है। आज व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं उपार्जित एवं एकत्रित नहीं कर पाता है। उन्हें जुटाने के लिए उसे सामूहिक उद्योग पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः जिन खाद्य वस्तुओं पर उसका जीवन निर्भर है उन्हें वह अन्य व्यक्तियों से क्रय करके प्राप्त करता है। वे अन्य व्यक्ति उसे खाद्य वस्तुएँ शुद्ध रूप में देते हैं अथवा अशुद्ध, वह यह नहीं जानता है और स्वयं उपार्जित करने योग्य शक्ति उसके पास नहीं है क्योंकि एक व्यक्ति सारे ही कार्य आज दिन नहीं कर सकता है। यही नहीं, भोजन समय पर ठीक ढंग से किया ही जाए इस प्रकार का स्वभाव बना लेना भी सर्वथा उसके अपने ही वश की बात नहीं है। परिवार, जाति, समाज आदि से जहाँ कि वह और बहुत सी बातें "सामाजिक सांस्कृतिक उत्तराधिकार" के रूप में प्राप्त करता है वहाँ भोजन से सम्बन्धित रुचि और स्वभाव भी वह परिवार आदि से ही प्राप्त करता है। पंजाबी बालक जन्म के कुछ दिन पश्चात् ही परिवार में दूध, दही, लस्सी, मक्खन आदि के प्रति सब का प्रलोभन देखता है और वह स्वयं भी उसी रुचि को अपना लेता है, वही उसका स्वभाव बन जाता है। बंगाली बालक का मछली चावल के प्रति पक्षपात भी उसे "सामाजिक सांस्कृतिक उत्तराधिकार" के ही रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य छोटे मोटे भोजन सम्बन्धी विस्तार आदि भी मनुष्य अपने परिवार आदि से पाता है। अतः भोजन, तत्सम्बन्धी रुचि और स्वभाव व्यक्ति की व्यक्तिगत वस्तु न हो कर बहुत कुछ सामाजिक ही होती है। उसे इन सब बातों के लिए बहुत कुछ समाज, देश, राष्ट्र आदि पर निर्भर रहना पड़ता है।

इसी प्रकार स्वच्छ वायु और स्वच्छता के लिए भी बहुत कुछ समूह उत्तरदायी होता है। बिना सामूहिक रूप से इन सब बातों की ओर ध्यान दिए हुए व्यक्ति अपने शरीर को स्वस्थ रख ही नहीं सकता है। किन्तु समूह भी तो व्यक्तियों से ही मिल कर बनता है, अतः सार्वजनिक दृष्टि से स्वास्थ्य-रक्षा को

देखते हुए व्यक्ति के भी कुछ एक कर्तव्य और उत्तरदायित्व होते ही हैं।

व्यक्ति के उत्तरदायित्व—यदि हमें खाद्य-वस्तुएँ शुद्ध नहीं मिलती हैं तो इसके लिए भी उत्तरदायी तो कुछ व्यक्ति ही हैं, जो कि तनिक से अधिक धन के प्रलोभन में पड़ कर खाद्य-वस्तुओं में अन्य सस्ती वस्तुएँ मिला कर मिलावट वाली खाद्य-वस्तुएँ पूरे मूल्य पर बेचते हैं। इसी प्रकार यदि हमारे घरों के आस-पास कूड़ा है तो वह कूड़ा भी तो कुछ व्यक्ति ही यथास्थान न डाल कर आलस्य के कारण निकट ही डाल देते हैं। इसी प्रकार प्रायः स्वास्थ्य के नियमों का जहाँ कहीं भी उल्लंघन होता है वहाँ यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाए तो किसी न किसी व्यक्ति का कुछ न कुछ दोष अवश्य ही होता है। अतः सार्वजनिक स्वास्थ्य के विषय में चर्चा करते हुए हमें व्यक्ति के उत्तरदायित्व की भी विवेचना करना आवश्यक जान पड़ता है।

एक तो यूँ ही व्यक्ति के न केवल निजी सुख के लिए उसके उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता है वरन् वह एक समाज का सदस्य है, देश और जाति का नागरिक एवं सदस्य है, अतः उस नाते से उसका एक उत्तर-दायित्व यह भी है कि वह अपने शरीर की अर्थात् देश की एक इकाई की इस प्रकार सुरक्षा करे कि वह स्वस्थ एवं उपयोगी बना रहे। इसके अतिरिक्त उसपर समाज, जाति एवं देश का एक ऋण भी तो है जिसे उसे स्वस्थ, सबल एवं उपयोगी रह कर ही चुकाना है। इस विशाल उत्तरदायित्व के भीतर उसके कुछ कर्तव्य भी आते हैं जैसे कि स्वयं तो स्वच्छ रहना ही, अपने वातावरण को भी स्वच्छ रखना। यथासम्भव कूड़ा, करकट, गन्दगी आदि को इधर-उधर फैलने से रोकना। नगर-पालिका आदि की व्यवस्था के अनुसार ही गन्दगी को उसके स्थान पर ही फेंके जाने आदि कार्यों में पूर्ण सहयोग देना। रोग आदि हो जाने पर यथाशक्ति अन्य व्यक्तियों तक उन रोगों को न पहुँचने देना। नगर में छूत के किसी भी रोग की सूचना मिलते ही उससे बचने के लिए स्वयं टीका लेना तथा अपने परिवार को भी टीका लगवा देना आदि व्यक्ति के कर्तव्य होते हैं।

व्यक्ति को अपने सब उत्तरदायित्वों का पूरी तरह पालन करना

चाहिए तथा सदैव यही प्रयत्न करते रहना चाहिए कि यथासम्भव शासन के सार्वजनिक स्वास्थ्य-विभाग के साथ सहयोग किया जाए।

सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा और जन-स्वास्थ्य के प्रमुख विभाग—व्यक्ति और परिवार के स्वास्थ्य पर आस-पास के वातावरण और मानवों का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः जन-स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यों को दो विभागों में बाँटा जा सकता है। एक तो है, जन-स्वास्थ्य-निर्माण और दूसरा जन-स्वास्थ्य की रक्षा। यथा समय ठीक रीतिसे और ठीक मात्रा में उचित भोजन सब लोग करें तथा व्यायाम आदि के द्वारा उसे पचा भी सकें यह देखना पहले विभाग का कार्य है। इससे स्वास्थ्य का निर्माण होता है। कुछ काल पूर्व तक तो भोजन को जन-स्वास्थ्य निर्माण कर अंग माना ही नहीं जाता था किन्तु आज दिन अवस्था कुछ और ही है। आज जन-स्वास्थ्य के विद्वान् यह मान गये हैं, कि स्वास्थ्य की रक्षा से कुछ अधिक नहीं तो कम भी महत्त्व स्वास्थ्य-निर्माण का नहीं है। यूँ तो प्रायः जन-स्वास्थ्य से सम्बन्धित किसी भी नवीन समस्या को समझना और हल करना जटिल कार्य है। फिर भी जन-स्वास्थ्य निर्माण-कारी तत्त्व, भोजन, स्वच्छ वायु और स्वच्छ रहन-सहन में से अपेक्षाकृत नवीन समस्या भोजन का समझना और उसका हल कर पाना तो और भी अधिक कठिन है क्योंकि इस समस्या के औषधिजन्य, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक पहलू भी तो हैं। यदि इस समस्या के सार्वजनिक हल की ओर ध्यान दिया जाए तो उसके लिए भी व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों ही प्रकार के सहयोग की पूर्ण आवश्यकता होगी। भोजन कर लेना और उचित मात्रा में उचित खाद्य-वस्तुएँ खाना मात्र ही स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर पाता है। जब तक कि खाई हुई वस्तुएँ पच नहीं जाती हैं, तब तक शरीर को उससे कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता है। अतः खाई हुई वस्तुएँ पच कर रक्त में मिल कर ही शरीर को बल आदि दे पाती हैं। यूँ तो सब व्यक्तियों के स्वभाव का ही यह अंग हो जाना चाहिए कि वे व्यायाम करें। इसके अतिरिक्त शासन के स्वास्थ्य-विभाग की ओर से पाठशालाओं, दफ्तरों, दुकानों आदि सब स्थानों पर पढ़ने अथवा कार्य करने वाले व्यक्ति उचित भोजन और व्यायाम

करें, यह देखा जाना चाहिए। पाठशालाओं और विशेषतया नन्हें बच्चों के स्कूलों और छात्रावासों में ठीक भोजन ठीक मात्रा में दिया जाए तथा दूध और पानी स्वच्छ मिल सके इसकी देखभाल भी पूरी तरह होनी चाहिए तथा समय-समय पर डाक्टरी परीक्षा करवा के यह भी पता लगाते रहना चाहिए कि नन्हें बच्चों, देश के भावी नागरिकों को उचित एवं पुष्टिकर भोजन मिल रहा है तथा उनकी भोजन सम्बन्धी आदतें ऐसी डाली जा रही हैं, जो कि स्वास्थ्य-वर्द्धक हैं। किसी भी प्रकार की भोजन तत्त्व सम्बन्धी न्यूनता के लक्षण जैसे ही किसी बच्चे के शरीर पर देखे जाएँ, उसका ठीक-ठीक निदान तथा चिकित्सा अर्थात् भोजन चिकित्सा होनी चाहिए।

फैक्टरियों, भोजनालयों आदि का कड़ा निरीक्षण समय-समय पर होता रहना चाहिए जिसमें कि खाद्य पदार्थों की मात्रा और प्रकार तथा भोजनालय, रसोई आदि की स्वच्छता देखी जानी चाहिए। शासन को यह भी देखना चाहिए कि सब प्रकार के आवश्यक भोजन तत्त्वों युक्त खाद्य पदार्थ सस्ते भी मिल सकें और जनता को यह ज्ञान हो कि कौन से सस्ते पदार्थ में कितना और कौन सा भोजन तत्त्व विद्यमान है।

गर्भवती स्त्री और दूध पिलाने वाली माता को पूरा और उचित भोजन मिले, यह देखना भी शासन के स्वास्थ्य-विभाग का ही कार्य होना चाहिए क्योंकि बालक देश की ही सम्पत्ति होते हैं और वे ही देश के भविष्य का भी निर्माण करते हैं।

यद्यपि विभिन्न देशों के खाद्य पदार्थ, उन्हें पकाने की रीति, उन्हें परोसने का ढंग आदि भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु प्रायः सब ही देशों में अपने ही ढंग पर सब आवश्यक तत्त्व भोजन में मिल ही जाते हैं अतः अपने ही देश के प्रचलन के अनुसार खाद्य पदार्थों में से उचित चयन करने का ज्ञान जनता को कराना चाहिये। एक ही देश एवं जाति में भी विभिन्न आर्थिक स्तर के लोगों के भोजन में विभिन्न तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न खाद्य वस्तुएँ ली जा सकती हैं। उदाहरणार्थ यदि धनी व्यक्ति विटामिन 'सी' सन्तरे से प्राप्त करते हैं तो निर्धन व्यक्ति भी तो मिर्च से प्राप्त कर ही सकते हैं अतः उनके लिए भी

तो निराश होने का कोई कारण नहीं है। आवश्यकता केवल यह है कि उचित भोजन के महत्त्व और उनके चयन के आधारों की शिक्षा प्रायः सब व्यक्तियों को दी जाए।

यह भी देखना आवश्यक है कि प्रायः सब ही व्यक्ति शरीर से उतना कार्य लें, जितना कि उसके लिए आवश्यक है। व्यायाम अथवा अन्य किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है और वह सब व्यक्तियों के स्वभाव में ही सम्मिलित हो जाना चाहिए। स्कूलों, कालिजों आदि में आरम्भ से ही बच्चों को आकर्षक ढंग से व्यायाम करने की आदत डलवा देनी चाहिए ताकि उन्हें बड़े हो कर व्यायाम अथवा शारीरिक श्रम करना कठिन न जान पड़े। शारीरिक श्रम और विश्राम दोनों की ही शरीर को आवश्यकता होती है अतः उचित रीति से उचित मात्रा में विश्राम कर पाने की भी प्रत्येक शरीर को सुविधा दी जानी चाहिए अन्यथा स्वास्थ्य का निर्माण नहीं हो सकेगा।

स्वास्थ्य का निर्माण आवश्यक है किन्तु उसकी रक्षा भी तो उतनी ही आवश्यक है। स्वास्थ्य के शत्रु शरीर के भीतर भी रहते हैं और बाहर भी। शरीर के भीतर ही शरीर के शत्रु उस अवस्था में उत्पन्न हो जाते हैं जब कि शरीर को पुष्टिकर भोजन की प्राप्ति नहीं होती है। किसी भी भोजन तत्त्व की न्यूनता होने से शरीर में कोई न कोई रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त भी स्वास्थ्य के अनेकानेक शत्रु रोग-कीटाणुओं के रूप में बाहर रहते हैं जो कि खाद्य वस्तुओं, जल तथा वायु द्वारा शरीर के भीतर चले जाते हैं और एक बार शरीर के भीतर पहुँच कर फिर उसका नाश करने लगते हैं। एक विशेष मच्छर के काटने से लगातार ज्वर होते रहना अर्थात् मलेरिया ज्वर का नाम तो सब ही जानते हैं। इसके कीटाणु मच्छर के काटने के द्वारा शरीर के भीतर चले जाते हैं और फिर उनके चंगुल से मुक्त होना ही कठिन हो जाता है। कुछ एक रोग-कीटाणु मक्खियों द्वारा मल आदि से उठा लिये जाते हैं और फिर खाद्य पदार्थों पर मक्खियों के बैठने से उनमें चले जाते हैं। उन खाद्य पदार्थों को जो भी व्यक्ति खाते हैं उनके भीतर यह कीटाणु जा कर उन्हें रोगी कर देते हैं।

हैज़े के कीटाणु इसी प्रकार फैलते हैं। यही नहीं, कुछ एक रोग तो श्वास द्वारा भी एक व्यक्ति से दूसरे को लग जाते हैं अर्थात् एक व्यक्ति के श्वास से रोग कीटाणु निकल कर दूसरे में उसके श्वास द्वारा चले जाते हैं। फेफड़ों की राजयक्ष्मा में इस प्रकार रोग-कीटाणु एक व्यक्ति के शरीर से श्वास अथवा थूक द्वारा निकल कर दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। प्लेग चूहों द्वारा मनुष्य के शरीर तक पहुँचती है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत से बाहरी शत्रु मनुष्य के शरीर के भीतर पहुँच कर उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। इन बाहरी शत्रुओं से कोई भी मनुष्य सर्वथा व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा ही अपनी रक्षा नहीं कर पाता है। इनसे सार्वजनिक ढंग से प्रयत्न करके ही मुक्ति पाई जा सकती है। अतः जन-स्वास्थ्य विभाग को यह देखना चाहिए कि बाहरी शत्रु किसी भी प्रकार की सुविधाएँ मानव-शरीर के पास तक पहुँचने के लिए न पा सकें। घर और बाहर की स्वच्छता, विशेषतया सार्वजनिक स्थानों जैसे सड़क, पाठशाला, पार्क, सिनेमाघर, सार्वजनिक भोजनालयों आदि की स्वच्छता पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। जिन स्थानों पर भोजन की कच्ची अथवा पकी हुई सामग्री मिलती हो जैसे तरकारी की, अन्न की मंडियाँ तथा हलवाई की दुकानें आदि, वहाँ की स्वच्छता पर कड़ी देख भाल रखना अत्यन्त आवश्यक है। सार्वजनिक मलमूत्र-त्यागने के स्थान तथा सब प्रकार के घरों के मलमूत्र-त्यागने के स्थानों में स्वच्छता अवश्य होनी चाहिए तथा उन्हें ठीक ढंग से फिंकवाने का भी यथोचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए। कूड़ा करकट फेंकना भी सुचारु और उचित ढंग से होना चाहिए। अतः हर प्रकार से बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से शरीर की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है और यह सार्वजनिक ढंग पर सार्वजनिक सहयोग से ही हो सकता है। यदि किसी प्रकार किसी एक व्यक्ति को कोई छूत का रोग हो ही जाए तो उसे व्यक्तिगत रूप से उसे अपने शरीर तक ही सीमित रखने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार के रोग का छिपाना और औरों से यथापूर्व मिलते-जुलते रहना बहुत ही अनुचित है। बच्चों को किसी भी प्रकार का छूत का रोग हो जाने पर भी स्कूल भेजते रहना बहुत ही अनुचित है। ऐसी अवस्था में रोगी को अन्य व्यक्तियों से परे रख कर

उसकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए। यदि इस प्रकार के रोग नगर में फैल रहे हों तो सब लोगों को उनके विरुद्ध टीका अवश्य लगवा लेना चाहिए। हैज़ा, प्लेग, चेचक, टाइफाइड आदि रोग यदि नगर में दो-एक व्यक्तियों को भी हो गये हों तो सब नागरिकों को तुरन्त उनके विरुद्ध टीका लगवा लेना चाहिये और राज्य के जन-स्वास्थ्य-विभाग की ओर से टीके लगाने का तुरन्त प्रबन्ध कर देना चाहिये। यदि किसी के घर में इस प्रकार का रोग किसी को हो जाए तो उसे तुरन्त जनस्वास्थ्य-विभाग को सूचना देनी चाहिये ताकि उसके घर को रोग-कीटाणुमुक्त करने का तथा अन्य व्यक्तियों की स्वास्थ्य-रक्षा करने का उचित प्रबन्ध किया जा सके। बालक के भी चेचक का टीका समय से ही लगवा देना चाहिये। यह सत्य है कि दुर्बल शरीर को रोग कीटाणु अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उसमें उनके पनपने की अधिक सम्भावना रहती है इसलिए शरीर को स्वस्थ एवं सबल बनाए रखना चाहिए।

यदि व्यक्ति और समष्टि तथा शासन का जनस्वास्थ्य विभाग मिल कर निरन्तर ही व्यक्ति के शरीर की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के प्रयत्न करते रहें तो सम्पूर्ण जाति का स्वास्थ्य उत्तम हो सकता है।

भारतवर्ष में तो व्यक्ति को इस सम्बन्ध में अपने कर्तव्य अवश्य ही जानने चाहिये और विशेषतया गृहिणी को इस सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क एवं सावधान रहना चाहिये। यदि प्रत्येक गृहिणी अपने परिवार के सदस्यों के स्वास्थ्य का पूर्णतया उत्तरदायित्व ले ले और राज्य जन-स्वास्थ्य-विभाग को इस दिशा में पूर्ण सहयोग देती तथा अपने परिवार के सब सदस्यों से दिलाती रहे तो सार्वजनिक स्वास्थ्य-निर्माण एवं रक्षा की समस्या कुछ सरल अवश्य ही हो जायेगी। ऐसा कर पाने के लिए प्रत्येक गृहिणी को इस सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा वह इच्छा रखते हुए भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पायेगी। ऐसा करते हुए सामाजिक बन्धन भी उसके मार्ग में नहीं आने चाहिये। कई परिवारों में देखा गया है कि यदि किसी बालिका को राजयक्ष्मा (तपेदिक) हो जाए तो इस डर से उसे छिपाया जाता है कि उसका विवाह करने में कठिनाई उपस्थित हो जायेगी किन्तु

छुपा कर और इसीलिए उसकी ठीक चिकित्सा न करके तो देश और जाति के साथ शत्रुता की जाती है क्योंकि वह अनजान बालिका रोग-कीटाणुओं को फैला कर अन्य व्यक्तियों को तो उस रोग का शिकार बनायेगी ही, विवाह और सन्तान उत्पत्ति करके न केवल स्वयं ही मृत्यु के मुख की ओर शीघ्रता से बढ़ेगी वरन दो परिवारों को मृत्यु के मुख में ढकेलने का कारण बन जायेगी। अतः इस प्रकार की मूर्खता करना अत्यन्त हानिकर ही सिद्ध होता है। सुगृहिणी को इस प्रकार की मूर्खता नहीं करनी चाहिए।

अध्याय १४

स्वच्छता और कूड़े आदि सम्बन्धी व्यवस्था

मल आदि त्याग और तत्सम्बन्धी व्यवस्था—मानव की प्रधान आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता है मल-मूत्र त्याग करने की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मल-मूत्र दुर्गन्धि-युक्त होते हैं और उनके कुछ काल तक पड़े रहने से बहुत दुर्गन्ध उठने लगती है तथा रोग फैलने का भी डर रहता है। सब व्यक्तियों को प्रतिदिन कम से कम एक बार मल त्याग और कई बार मूत्रत्याग करना पड़ता है। इनके त्याग-स्थान और इन्हें फेंकने की समस्या उस समय तक इतनी विकट नहीं थी जब तक कि मानव ग्राम्य जीवन में था। आज भी अधिकांश ग्रामों में लोग मल त्याग के लिए ग्राम से बाहर दूर खेतों अथवा जंगलों में चले जाते हैं। इससे कई प्रकार के लाभ होते हैं। एक तो मल त्याग के लिए कुछ दूर जाने से प्रातःकालीन व्यायाम हो जाता है, स्वच्छ वायु श्वास लेने के लिए मिलती है और खेतों आदि में पड़ा वह मल कभी न कभी खाद भी बन जाता है। इस प्रथा में मेहतर नहीं रखना पड़ता और घर में ही किसी एक स्थान को मल त्याग करने के लिए भी निश्चित नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार किसी एक सीमा तक अछूत समस्या का भी हल हो जाता है और व्यक्ति को प्रातः व्यायाम करने का भी अवसर मिल जाता है।

प्रातःकाल शीघ्र ही उठने का अभ्यास भी हो जाता है। यह सब गुण होते हुए भी नगरों के बसने के साथ-साथ इस प्रथा का लोप होने लगा। नगरों से खेत और जंगल आदि प्रायः इतनी दूर होते हैं कि वहाँ तक प्रतिदिन प्रायः किसी भी व्यक्ति का पहुँच पाना असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त नागरिकों के व्यस्त जीवन में इस प्रथा की पूर्ति के लिए उपयुक्त सुविधाओं का भी सर्वथा अभाव ही रहता है। इन्हीं सब कारणों से नगरों के घरों में "पाखाना" बनाने की प्रथा का जन्म हुआ। हमारे नगरों के घरों में प्रायः तीन प्रकार के पाखाने होते हैं। बहुत अधिक वैभवशाली लोगों के घरों में प्रायः प्रत्येक सोने के कमरे के साथ साथ एक-एक पाखाना होता है। इसमें फ्लश व्यवस्था होती है अर्थात् एक बार मल त्याग कर चुकने पर एक व्यक्ति छोटी सी टंकी से लगी हुई एक जंजीर खींच देता है और बहुत सा पानी आ कर मल को नीचे ही नीचे नालो द्वारा बहा कर ले जाता है। हर बार मल त्याग करने के पश्चात् यही किया जाता है। कुछ नगरों में तो नगर-पालिकाओं ने छोटे छोटे घरों में भी फ्लश व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया है। जिन मुहल्लों में सिवरेज अर्थात् यह व्यवस्था हो ही गई है वहाँ के प्रत्येक घर में तो इस प्रकार के पाखानों का होना अनिवार्य ही कर दिया गया है। दूसरे प्रकार के पाखानों में कमोड रखे होते हैं किन्तु कमोड की व्यवस्था होने पर यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति के एक कमोड का प्रयोग कर चुकने पर उसे ढक देना चाहिए तथा तुरन्त ही उसे मेहतर साफ कर दे और साफ हो जाने पर ही दूसरा व्यक्ति उसका उपयोग करे। ऐसी अवस्था में यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक एक कमोड हो तो अच्छा है अन्यथा साफ होने पर उसमें फिनायल डालना आवश्यक हो जाता है तथा मल के फेंकने के स्थान का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये। तीसरे प्रकार की व्यवस्था खुड्डी की है। इसमें किसी प्रकार का ढकना नहीं होता है और एक से अधिक व्यक्ति एक ही खुड्डी को उपयोग में ला सकते हैं। साधारण नगरों के घरों में होने वाली इन तीन प्रकार की व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भी कुछ व्यवस्थाओं पर परीक्षण किये गये हैं। इनमें से एक व्यवस्था वह भी है जिसका कि गांधी जी के आश्रम, वर्धा में प्रचलन था। इसमें साधारण भूमि पर गहरा

गड्ढा खोद दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति उसे उपयोग में ला चुकने पर थोड़ी मिट्टी डाल देता है। इस प्रकार वह गड्ढा धीरे धीरे भरता जाता है। पूरा गड्ढा भर जाने पर स्थान परिवर्तित कर दिया जाता है। इस प्रकार भी मल खाद के काम आ जाता है किन्तु यह व्यवस्था भी खुले मैदान, खेत आदि में ही की जा सकती है। घनी बस्तियों में ऐसा करना असम्भव है। प्रायः अनेकों रोगों का उद्‌गम और उनकी छूत का विस्तार एवं प्रसार मल मूत्र के द्वारा ही होता है। यह तो सब लोग जानते ही हैं कि मक्खियाँ अधिकतर गन्दगी पर बैठती हैं और उसे रोग कीटाणुओं सहित अपने पर आदि में लपेट लेती हैं। अब वे जिस किसी भी अन्य वस्तु पर बैठेंगी कुछ न कुछ उस गन्दगी का भाग भी नवीन वस्तु से लग जायेगा जो कि वे मल पर से लगा लाई हैं अतः प्रत्येक नगर की नगर-पालिका को जन-स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से मल मूत्र आदि के फिंकवाने की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि गन्दगी और रोग उनके द्वारा न फैल सकें। यूँ तो नागरिकों को स्वयं ही यह ज्ञान होना चाहिए कि सड़क के किनारे नाली में या घरों के पिछवाड़े अथवा आस पास मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए तथा किसी भी अवस्था में बालकों को गली में अथवा सड़क के किनारे ही मल त्याग के लिए नहीं बिठा देना चाहिए, तिस पर भी उनकी सुविधा के लिए नगर-पालिकाओं को नगर में कुछ कुछ दूर पर पैखाने और मूत्र-त्याग-गृह अवश्य बनवा देने चाहिए और उनकी पूरी-पूरी स्वच्छता पर ध्यान रखना चाहिए। मल मूत्र त्याग के स्थान पर फिनायल का उपयोग अवश्य और पर्याप्त मात्रा में करना चाहिए। यदि घर में किसी को छूत का रोग विशेषतया टाइफाईड आदि हो गया हो तो अत्यन्त सावधानी से रोगी के मल मूत्र को कहीं दूर गड़वा अथवा जलवा देना चाहिए अथवा जैसी भी व्यवस्था ऐसी दशा में नगर-पालिका की ओर से हो, उसे पूरी तरह मानना और पालना चाहिए।

गृहिणी के कर्तव्य—शौचालय अथवा पाखाने की स्वच्छता की ओर गृहिणी का विशेष ध्यान रहना चाहिए क्योंकि हम कह ही चुके हैं कि अनेकों रोगों की उत्पत्ति मलमूत्र आदि के ही द्वारा छूत लगने से होती है।

अतः शौचालय के न केवल कमोड, कदमचे अथवा खुड्डी को ही भली प्रकार प्रतिदिन फिनायल से दो नहीं तो एक बार तो अवश्य ही भली प्रकार धुलवाना चाहिए। यदि कमोड न हो तो ईंटों या सीमेंट को भली प्रकार रगड़ कर धुलवाना चाहिए। कमोड होने पर उसके बर्तन और लकड़ी के भाग दोनों को भली प्रकार धुलवाना चाहिए। फ्लश व्यवस्था होने पर भी उसके बर्तन को रगड़ कर धुलवाना चाहिए। यदि प्रतिदिन भली प्रकार रगड़ कर धुलवाना सम्भव न हो तो सप्ताह में एक बार भली प्रकार से रगड़ कर और प्रतिदिन साधारणतया फिनायल से अवश्य ही धुलवाना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस मिट्टी से रसोई के बर्तन आदि माँजे जाएँ वह शौचालय के आस-पास से किसी भी अवस्था में न ली जाय।

मलमूत्र के पश्चात् कूड़े से भी रोग कीटाणु फैलते हैं, अतः गृहिणी को घर से कूड़ा निकाल कर किसी भी अवस्था में गली कूचे और सड़क पर नहीं फेंकना चाहिए। घर का कूड़ा एक ढकनेदार डिब्बे में डालना चाहिए और कूड़ा डालने के बाद ढकना ढक देना चाहिए। इस डिब्बे अथवा कनस्टर में से दिन में दो बार मेहतर से कूड़ा निकलवा देना चाहिए। कभी भी कूड़े पर मक्खी को नहीं बैठने देना चाहिए और यह तब हो सकता है जब कि कूड़ा सदा ही मुँह बन्द डिब्बे अथवा कनस्टर में डाला जाए। बच्चों को भी फल आदि खा कर छिलके बन्द मुँह के डिब्बे में ही डालने की आदत डलवानी चाहिए।

घर की नालियों का पानी इधर-उधर नहीं बहने देना चाहिए। यदि सब घरों की नालियाँ पक्की और ढकी हुई बनी हों तो बहुत ही अच्छा हो अन्यथा उनमें कूड़ा पानी आदि कुछ भो इतना नहीं होना चाहिए कि बह कर बाहर फर्श तक आए तथा किसी भी वस्तु को नाली में पड़ कर सड़ने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। जैसे ही चावल के अथवा दाल के धुलने के बाद कुछ दाने पड़े दिखाई दें वैसे ही उन्हें उठा कर कूड़े के टीन में डाल देना चाहिए अथवा बहुत-सा पानी डाल कर बहा देना चाहिए। नाली में ऐसी वस्तुएँ नहीं डालनी चाहिए जो कि उसके मुँह में अड़ जाएँ। नाली को भी

प्रतिदिन अथवा दूसरे-तीसरे दिन फिनायल से धोना चाहिए। घर की नालियाँ नगरपालिका की नालियों से मिली हुई होनी चाहिए। रसोई घर से भी पानी निकलने का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए।

मूत्र त्याग तो हमें शौचालय में ही करना चाहिए तथा कभी भी यूँ ही धरती पर नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त थूकना अथवा नाक छिनकना भी एक ही निश्चित स्थान पर होना चाहिए। रोगी के थूक आदि का भी समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। राजयक्ष्मा के रोगी को तो अपना थूक अत्यन्त सावधानी से ढक कर रखना चाहिए ताकि उससे उड़ कर रोग-कीटाणु रोग को फैलाने में सफल न हो सकें। यदि कहीं मलमूत्र त्याग करना अथवा थूकना आवश्यक ही हो जाए तो उस पर चूना अवश्य डाल देना चाहिए क्योंकि इससे रोग-कीटाणु मर जाते हैं।

किसी भी अवस्था में घर की स्वच्छता का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि आस-पास के स्थान गन्दे कर दिए जाएँ। घर की स्वच्छता की जितनी आवश्यकता है सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है, यह स्मरण रखना चाहिए।

जनस्वास्थ्य और ग्राम—नगरों में प्रायः स्वच्छता का कार्य नगर-पालिकाओं के हवाले होता है अतः स्वच्छता अच्छी रहती है किन्तु प्रायः ग्रामों में सफाई की ओर कम ध्यान दिया जाता है। औषधालय भी कम ही होते हैं अतः एक बार रोग फैल जाने पर उसे रोकना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः ग्रामों में निम्नलिखित बातों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

शौचगृह और मूत्र-गृह की व्यवस्था न होने पर मल एवं मूत्र त्याग ग्राम से बहुत ही दूर किया जाना चाहिए। खाद के गड्ढों का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। ग्रामों की सड़कों और गलियों से प्रायः पानी के निकास का अच्छा प्रबन्ध नहीं होता है अतः वहाँ गन्दा पानी भरा रहता है जिससे कि अनेकानेक रोगों के होने का भय बना ही रहता है। अतः सड़कों और गलियों की मरम्मत होनी चाहिये तथा नालियाँ और सोख्ते बनने चाहिये। स्नान-स्थान, घड़ौंच बर्तन और भोजन बनाने के लिए रसोई घर भी ऐसा होना चाहिये जहाँ कि

स्वच्छता रखी जा सके। ग्रामों में पशु रखना ही होता है। अतः पशुशाला की व्यवस्था और सफाई निरन्तर होनी चाहिए। भोजन बना कर ऐसे स्थान पर रखने का प्रबन्ध होना चाहिए जहाँ कि मक्खियाँ न पहुँच सकें। जहाँ सुअर पाले जाते हों वहाँ सुअर-बाड़ों की व्यवस्था होनी चाहिये। ग्रामों में जो उत्सव एवं मेले लगते हैं उनके आसपास के किसी स्थान पर मलमूत्र त्याग स्थान बना होना चाहिये और तत्सम्बन्धी उचित व्यवस्था भी होनी चाहिए। व्यायामशाला अथवा अखाड़े का प्रबन्ध भी गाँव में होना चाहिए। जन्म और मृत्यु का लेखा रखना अच्छा ही होता है। मकान ऐसे होने चाहिए जिनमें कि सफाई रह सके और हवा, धूप, प्रकाश आदि आ सके तथा धुआँ निकलने का भी प्रबन्ध हो। पीने के पानी का प्राप्ति-स्थान ऐसा होना चाहिये जिसमें किसी प्रकार की गन्दगी न मिल सके। ग्रामों में गड्ढों के पाटने, पानी एकत्रित न होने देने, डी० डी० टी० और गैमेक्सीन पी० ५२० के छिड़काव आदि का भी कुछ न कुछ प्रबन्ध होना चाहिए तथा चेचक एवं अन्य छूत के रोगों से बचने के टीके लगवाने का प्रबन्ध तो होना ही चाहिये साधारण रोगों की चिकित्सा का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है।

सबसे अधिक आवश्यकता तो इस बात की है कि ग्रामवासी सामूहिक स्वास्थ्य रक्षा के नियमों और उनके महत्त्व को भली प्रकार समझ सकें।

घर ऐसे स्थान पर बनने चाहिये जिसके निकट न तो नमी ही हो और ना पानी भर जाने का ही भय हो। जिस धरती पर घर बना हो वह कूड़ा करकट आदि से पटी हुई न हो। उस जगह के पूर्व और दक्षिण की ओर ऊँचे मकान नहीं होने चाहिए जिससे कि वायु और प्रकाश आने में बाधा न हो। घर के निकट ही सार्वजनिक शौचगृह, दलदल, धान के खेत, गौशाला, कूड़ा-घर, पशुशाला, मल गाड़ने का स्थान, खाल, चमड़े आदि के कारखाने तथा कब्रिस्तान नहीं होना चाहिये। मकान की नींव ठोस होनी चाहिये। धरती ऐसी होनी चाहिये जो कि धुल सके अथवा गोबर से भली प्रकार लीपी जा सके। शौचगृह यथासम्भव पक्का होना चाहिए और उसमें अच्छी तरह बनी हुई ढलावदार नालियाँ भी रखनी चाहिये। रसोई भी यदि पक्की हो सके तो अच्छा

है। उसमें धुआँ निकलने का प्रबन्ध तो अवश्य होना चाहिये। पश्चिम की ओर से यदि मकान बन्द हो तो अच्छा होता है। मकान का आँगन दक्षिण में होना अच्छा रहता है क्योंकि उधर से धूप अधिक आती है।

शौचगृह—ग्रामों में शौचगृह बनाना ही चाहिए क्योंकि ग्राम के आसपास ही खुली जगह में मलत्याग करने से एक तो मक्खियों के फैलने से रोग बढ़ने का भय रहता है और दूसरे खाद का एक बहुत बड़ा अंश व्यर्थ ही में नष्ट हो जाता है।

ग्रामों में कई प्रकार के शौचगृह बनाए जा सकते हैं।

खाई शौच गृह—साधारणतया २० और ३० फुट के बीच की लम्बाई ६ और १२ इंच चौड़ाई तथा १ से २ फुट गहराई की नाली खोदी जा सकती है। यदि प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक हो तो नाली की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है। नाली खोदने से जो मिट्टी निकलती है उसे नाली के किनारों के पास ही रख दिया जाए। व्यक्ति नाली में मलत्याग करके पास की मिट्टी उस पर डाल दें। जब नाली लगभग आधी भर जाए तो उसे मिट्टी से पाट दिया जाए। तीन मास के पश्चात् उस नाली के भीतर का मल खाद के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। ये नालियाँ वर्षा ऋतु में काम में नहीं लाई जा सकती हैं। यदि इनमें मलत्याग करते ही मिट्टी नहीं डाली जायगी तो ये व्यर्थ हो जायेंगी। इस प्रकार की नालियों के आसपास प्रायः पर्दा हलका सा ही लगता है जो कि कभी कभी नष्ट भी हो जाता है।

चल-शौचगृह—इसमें लकड़ी का एक चौकोर ढाँचा बना लिया जाता है जो कि उठाऊ होता और नाली की गहराई प्रायः नौ इंच और चौड़ाई ६ इंच होती है। इस लकड़ी के ढाँचे में तीन ओर टाट लगा रहता है और चौथी ओर एक पर्दा अथवा हलका-सा द्वार होता है। इसे नाली के ऊपर रख दिया जाता है। शौच गृह के ढाँचे में पीछे की ओर मल को ढकने के लिए लोहे के त्रिकोण लगे रहते हैं। एक बार प्रयोग करने के पश्चात् ढाँचे को तनिक खिसका दिया जाता है, जिससे कि मिट्टी मल पर गिर जाती है। आसानी के लिए लकड़ी के इस ढाँचे को पहियों पर खड़ा किया जा सकता है। इस

प्रकार के चल शौचगृह को आस-पास के खेतों में भी काम में लाया जा सकता है।

छिद्राकार शौचगृह—इसमें एक १४ से १६ इंच घेरे का छेद धरती में १५ से २० फुट की गहराई तक बोरर द्वारा बना लिया जाता है। फिर उसके ऊपर एक कदमचा रख दिया जाता है जो कि सीमेंट का बना हो सकता है। इस छेद में गिर कर मल अपने आप नष्ट हो जाता है। जब छेद लगभग १२-१४ फुट भर जाता है, तब उसे बन्द करके वही कदमचा दूसरे स्थान पर छेद करके रखा जा सकता है। चिकनी मिट्टी में यह शौचगृह सरलता से बन जाते हैं तथा तनिक-सा पानी डालने से दुर्गन्ध भी नहीं होती है। यदि दुर्गन्ध आने लगे तो लगभग एक सेर नमक डलवा देना चाहिए। कंकरीली और बालू वाली तथा सख्त धरती पर ये शौचगृह नहीं बनवाने चाहिए।

खाई शौचगृह—डा० लाल ने एक नवीन ढंग का शौचगृह बनवाना आरम्भ किया है। एक बैठक या चौकी चिकनी मिट्टी की खूब अच्छी तरह पालिश करके बना ली जाए और उस पर पैर रखने के लिए दो पकी ईंटों का कदमचा बना लिया जाए। चौकी अथवा बैठक के पिछले भाग में लगभग ६ इंच का एक गोल छेद होना चाहिए जिसमें एक घुमावदार नली जुड़ी हुई हो जो कि मलमूत्र को गड्ढे में ले जाए। छेद के नीचे के भाग में नाली ठीक बैठनी चाहिए अन्यथा गन्दगी फैलने का भय रहता है। चौकी का ऊपर का मुँह फैला रहना चाहिए तथा चारों ओर का ढलान छेद की ओर ही होना चाहिए। बैठक के ऊपर भी सब ओर का ढलाव इसी ओर होना चाहिए। नाली गोल और ऐसी होनी चाहिए जो कि ऊपर से नीचे की ओर पतली ही होती चली जाए। ऊपर इसके मुँह का घेरा ६ इंच और नीचे ४ अथवा ४½ इंच हो सकता है। ऊपर का मुँह चौकी के छेद से भली प्रकार मिला कर सीमेंट से अच्छी तरह जोड़ देना चाहिए तथा इसमें बहुत ही अच्छी तरह पालिश की जानी चाहिए ताकि गन्दगी लगी न रह जाए। चौकी से लगभग एक फुट की दूरी पर एक १० फुट लम्बी, २ फुट चौड़ी और ३ फुट गहरी

खाई खुदवानी चाहिये। इसे ६ व्यक्ति लगभग ३ अथवा ४ वर्ष तक प्रयोग में ला सकते हैं। यदि परिवार में अधिक व्यक्ति हों तो खाई की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है। खाई से जो मिट्टी निकले उसे उसके किनारे-किनारे तथा उसकी छत पर डाल देना चाहिये। खाई की छत बाँस, पेड़ की टहनियों आदि से बनाई जा सकती है। खाई की छत में एक किनारे पर एक ८ अथवा १० फुट लम्बा खोखला बाँस लगा देना चाहिये। यह बाँस लगभग २-३ इंच खाई के भीतर रहना चाहिये। इसका ऊपरी भाग किसी पेड़ की शाखा से बाँधा जा सकता है। इसके ऊपरी सिरे पर नारियल का आधा भाग सिर से २ इंच हटा कर कील या तार से टोपी की भाँति लगा दिया जाये ताकि दूषित वायु इधर-उधर अधिक न उड़े। एक खाई भर जाने पर दूसरी का प्रयोग किया जा सकता है जो कि चौकी के दूसरे सिरे पर बनाई जा सकती है और चौकी तथा नाली दूसरी खाई में जोड़ी जा सकती हैं। चौकी का चबूतरा धरती से २ फुट ऊँचा होना चाहिये और उसके चारों ओर किसी प्रकार का पर्दा लगा लेना चाहिये।

मलकुण्ड—प्रायः नगरों तथा धनी मानी सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में इस प्रकार के ही शौचालयों का प्रचलन है। मलकुण्ड अथवा सैप्टिक टैंक वाले शौचालय प्रायः उन क्षेत्रों में होते हैं जहाँ कि गन्दी नालियों आदि के होने की सम्भावना नहीं होती है। इस प्रकार के शौचालयों को स्वच्छ करने के लिए मेहतर की आवश्यकता नहीं होती है। सैप्टिक टैंक वाले शौचालय कुओं से लगभग ५०-६० फुट हट कर बनवाने चाहिये। इस प्रकार के शौचालयों में फिनायल आदि कीटाणुओं को मारने वाली औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वे कीटाणु मर जाते हैं, जिन पर कि सैप्टिक-ऐक्शन क्रिया आधारित होती है। टैंक में तालाब का पानी थोड़ी काई सहित भरना चाहिये। सैप्टिक ऐक्शन क्रिया यदि और भी शीघ्र आरम्भ करनी हो तो टैंक में एक सेर घोड़े, गाय अथवा बैल की लीद की पांस डाल देनी चाहिये। सीधे सादे ढंग से जैसा कि प्रतापगढ़ सैप्टिक टैंक है, बैठने की चौकी टैंक के ठीक ऊपर बनती है, यह टैंक भीतर से ५½ फुट लम्बा, २½ फुट

चौड़ा और ४½ फुट गहरा है। टैंक में पानी की सतह भूमि के बराबर ही होती है। टैंक का ऊपरी भाग भूमि से एक फुट ऊँचा होता है। बैठने की चौकी २ फुट की ऊँचाई पर होती है। टैंक लगभग ६२ घन फुट जगह रोकता है। यदि टैंक की गहराई ५ फुट से अधिक रखी जायेगी तो पानी के बोझ से टैंक को स्वच्छ करना भी कठिन हो जायेगा।

सोकिंग ट्रेंच—यह गहरी नाली की तरह बनाया जा सकता है और इसे मिट्टी से इस ढंग से ढका जा सकता है कि नीचे बनी हुई नालियाँ मलमूत्र आदि बहा कर ले जाएँ किन्तु इसके ऊपर की धरती पर तरकारी आदि तो बो सकते हैं पर कोई भी कच्ची खाई जाने वाली वस्तु नहीं बोनी चाहिए जैसे, खीरा, ककड़ी आदि।

यदि ग्रामनिवासियों के लिए आस पास के खेतों में ही मलत्याग करने जाना अधिक सरल और सुविधाजनक हो तो उन्हें खुरपी का प्रयोग अवश्य करना चाहिये ताकि मलत्याग करने से पहले खुरपी से छोटा सा गढ़ा खोद कर उसमें मलत्याग करें और कर चुकने पर गढ़ा खोदते समय निकली मिट्टी से मल को पूर्णतया ढक दें। ऐसा करने से खाद भी खेत में ही रहेगी और रोगों के फैलने का भय भी नहीं होगा।

मूत्र त्याग गृह—मूत्र बिलकुल ही व्यर्थ नहीं होता है। इससे भी खाद बनने में सहायता मिलती है। अतः जहाँ तहाँ मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए। मूत्र के द्वारा भी रोग फैलते हैं।

वर्धा मूत्रालय—धरती में ५ फुट लम्बा, २ फुट चौड़ा और ४ फुट गहरा गढ़ा खोद कर उसे भली प्रका घास फूस, पतवार, सूखे पत्ते आदि से भर देना चाहिए। ये वस्तुएँ खूब दबा दबा कर भरनी चाहिये। गड्ढे में एक ओर एक मिट्टी का घड़ा कोयले भर कर रख देना चाहिये। इस घड़े की पेंदी में एक छोटा सा छेद होना चाहिये। एक दूसरा घड़ा उसके मुँह पर रख देना चाहिये और इसकी पेंदी में भी छेद होना चाहिये। यह दूसरा घड़ा धरती की सतह तक होना चाहिये और उसमें कोयले, चूने के ढेले आदि डाल देने चाहिये। चाहें तो घड़े के दोनों ओर बैठने की सुविधा के लिये दो ईंटें रख दें

किन्तु मूत्र घड़े में ही पड़ना चाहिये। इस गढ़े के चारों ओर पर्दा किया जाना चाहिये। जब गढ़े से दुर्गन्ध आने लगे तो इसे मिट्टी से पाट देना चाहिये। इसकी खाद २ अथवा ३ मास में तैयार हो जायेगी।

इसी से मिलते-जुलते आर० डी० टाइप और छिद्राकार मूत्र गृह भी बनाए जा सकते हैं।

आर० डी० मूत्र-गृह—ये गढ़े ४ फुट लम्बे और ४ फुट चौकोर या गोल बनाये जाते हैं। इनकी गहराई लगभग ६ फुट होनी चाहिये। इनमें पहले २ फुट रेत फिर १ फुट अधिक जली ईंटों के बड़े बड़े टुकड़े फिर २ फुट पौने फिर एक फुट अद्धे और ऊपर चौथाई रोड़े भरे जाते हैं। इन्हीं ईंटों के टुकड़ों पर मूत्र त्याग किया जा सकता है।

गन्दे पानी की व्यवस्था—नगरों में तो पक्की नालियों द्वारा गन्दा पानी ले जाया जाता है किन्तु ग्रामों में कोई ठीक ठीक प्रबन्ध गन्दे पानी के निकास का नहीं होता है, जो कि अत्यन्त आवश्यक है। अतः सोखदान अवश्य बनवाने चाहिये।

कंकड़ों का सोखदान—एक ४ फुट लम्बा, ४ फुट चौड़ा तथा ६ फुट गहरा गढ़ा खोदा जा सकता है। इसे अधिक जली ईंटों के टुकड़ों से भर देना चाहिए। लगभग इस सोखदान को आर० डी० मूत्रालयों के ढंग से भरते हैं। घरों की नालियों से गन्दा पानी निकाल कर टीन, मिट्टी के परनाले अथवा खोखले बाँस की नालियों द्वारा इस गढ़े तक पहुँचाया जा सकता है। जहाँ पानी गिरता हो वहाँ एक टीन की चलनी अथवा घास भर कर टोकरी रखनी चाहिए ताकि पानी छन कर ही गढ़े में गिरे और कूड़ा-करकट ऊपर ही रह जाये। कूड़ा करकट प्रतिदिन साफ करके खाद के गढ़े में डाल देना चाहिए। बरसाती पानी को इस गढ़े में न डाल कर यूँ ही बहने देना चाहिये और बरसात के पानी को रोकने के लिए इसके चारों ओर मुँडेरें बनाई जा सकती हैं। वर्ष में एक बार बरसात के पश्चात् इस गढ़े को साफ करना चाहिए। ईंटें आदि धूप में सुखा कर फिर काम में लाई जा सकती हैं।

पौधों का सोखदान—कुएँ के पानी को अथवा अधिक पानी को

सोखने के लिए कुएँ से लगभग १५ या २० फुट दूर एक २ फुट गहरा थाला बना लेना चाहिये। इसमें आवश्यकतानुसार केले के पेड़ लगा दिए जाएँ। केला बहुत अधिक पानी सोखता है किन्तु अन्य कोई पौधा भी लगाया जा सकता है।

बोर-छेददार सोखदान—इस प्रकार का सोखदान पीने के पानी के कुएँ में ५० गज से कम दूर पर नहीं बनाना चाहिए। प्रायः यह उसी ढंग से बनता है जिस ढंग से छिद्राकार शौचगृह बनता है किन्तु इसमें बैठने की चौकी के स्थान पर सीमेंट कंकरीट का ढकना बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त कूड़े करकट को पानी से पृथक् करने के लिए सोखदान से लगभग २ फुट दूर नाली के ठीक ऊपर एक पक्का हौज़ बनवाना चाहिए। यह हौज़ नाली से लगभग ६ इंच दोनों ओर निकला रहना चाहिए और इतना ही चौड़ा तथा नाली से ६ इंच अधिक गहरा होना चाहिए। घरों से आने वाला गन्दा पानी पहले इसी में एकत्रित होना चाहिए तत्पश्चात् कूड़ा इसी में रह जायेगा केवल पानी ही सोखदान में जायेगा। इस पर भी ढकना होना चाहिए।

फौजी ढंग का सोखदान—इस प्रकार के सोखदान एक साथ कई घरों का गन्दा पानी सोख सकते हैं। एक ऐसा गढ़ा खोद लीजिए जो कि ५ फुट लम्बा, ५ फुट चौड़ा तथा १० फुट गहरा हो। इसे इस प्रकार ईंटों से भरा जाए कि ऊपर तक ईंट की जाली बन जाए। गढ़े के ऊपरी भाग पर लिन्टल डाल दिया जाए। लिन्टल के केन्द्र में नाली हो और सब ओर की ढलान छेद की ही ओर हो ताकि पानी उधर ही आ जाए। घरों की नालियाँ इस सोखदान में ३ इंच भीतर तक जानी चाहिए। लिन्टल के चारों ओर मूत्र त्यागगृह अथवा स्नानगृह बन सकते हैं।

सोकिंग ट्रेन्च—गहरी नाली की भाँति सोखदान बना कर उसे मिट्टी से इस प्रकार ढक दिया जाए कि धरती के भीतर रहने वाली नालियाँ गन्दा पानी आदि बहा ले जाएँ। इसका विस्तार बहुत कम क्षेत्रफल में होता है, और अधिक समय तक चलता है। साधारणतया यह ३० फुट लम्बा, २ फुट चौड़ा और २½ फुट गहरा होता है। इसे ५ फुट के अर्द्ध व्यास के एक वृत्त अथवा

चौड़ी वाई (y) के रूप में भी बना सकते हैं। इसे अधिक जली हुई ईंटों से भर देते हैं। आधी गहराई तक नाली को ईंटों के टुकड़ों से भर कर फिर नाली को सीमेंट आदि के बिना पूरी-पूरी ईंटों का बना देते हैं। सिरे पर ५ इंच का अन्तर रख कर दो ईंटें रख दी जाती हैं, और फिर इसके ऊपर दो और ईंटें जोड़ कर ऊपर से पाट देते हैं, इसी प्रकार पूरी नाली बना लेते हैं। इसका ढाल १ : ५० के अनुपात से करते जाते हैं। नाली के किनारे और छत भी ईंटों के टुकड़ों से भर जाती है और फिर उसके ऊपर देसी खपरैल या फूस बिछाया जा सकता है। धरती के कड़ी और चिकनी मिट्टी की होने पर नाली की गहराई और चौड़ाई अधिक होनी चाहिये तथा इसके ऊपरी सिरे पर जाली लगानी चाहिये।

नगरों में पक्की नालियाँ होती हैं, जिनका पानी सड़क की बड़ी नाली से मिला दिया जाता है और वहाँ स्थान-स्थान पर मैन होल भी होते हैं जिनके द्वारा उनकी सफाई आदि सुलभ की जाती है। नगरों का इस प्रकार का प्रबन्ध नगरपालिका सुन्दर ढंग से करती है।

कूड़े करकट की व्यवस्था—नगरों में कूड़ा आदि उठाने की व्यवस्था भी नगरपालिका ही करती है। घरों से ले कर मेहतर कूड़ा मुख्य घूरे पर डाल जाते हैं, जहाँ से नगरपालिका की गाड़ियाँ उठा कर ले जाती हैं, और वह खाद आदि बनाने के काम में भी लाया जाता है।

खाद के गढ़े—गाँव में खाद के गढ़ों में कूड़ा, करकट, गोबर, लीद, पशुओं का मूत्र, घासपात, पत्ते, राख, छिलके आदि डाले जा सकते हैं। इन गढ़ों की लम्बाई लगभग ८ फुट, चौड़ाई ६ फुट और गहराई ३½ या ४ फुट होनी चाहिये। इन्हीं में प्रतिदिन घर का कूड़ा-करकट आदि डालते जाना चाहिये और जब गढ़ा सतह से ६ इंच ऊपर तक भर जाए तब उसे मिट्टी से बन्द कर देना चाहिये। लगभग ३ मास में इस गढ़े में खाद बन जायेगी। यह गढ़ा ऊँची जगह पर होना चाहिये, ताकि वर्षा का पानी इसमें न भर जाए तथा रहने के स्थानों से कम से कम सौ फुट की दूरी पर होना चाहिये।

कम्पोस्ट खाद का गढ़ा—इसमें वनस्पति पदार्थ जैसे पेड़ों के पत्ते

छाल तथा अन्य ऐसे ही पदार्थ, पशुओं के गोबर, लीद और मूत्र सहित गढ़े में डाल दिये जाते हैं। यह गढ़ा यूँ तो साधारण ही होता है, किन्तु इसकी गहराई एक ओर ३ फुट और दूसरी ओर ३½ फुट होती है। गढ़े के कम गहरे भाग में पहले लगभग ६ इंच कूड़ा करकट डाल देते हैं, फिर इस पर प्रतिदिन गोबर, गो-मूत्र से सनी मिट्टी या घास फूस, राख और फिर गोबर को ढकने के लिए कूड़ा करकट डाल देते हैं। इसी तरह एक तह गोबर आदि की और एक कूड़ा करकट की लगती ही जाती है। जब गढ़ा सतह से कुछ ऊपर तक भर जाता है तब उसपर ३ अथवा ४ घड़े पानी डाल कर उसे मिट्टी से पूरी तरह बन्द कर दिया जाता है और फिर दूसरा हिस्सा इसी प्रकार भर देते हैं। यह खाद भी चार पाँच मास में तैयार हो जाती है।

ग्रामों में प्रायः स्नानगृह, बर्तन माँजने के स्थान और घड़ोंची स्वच्छ नहीं रहते हैं। यदि यह स्थान पक्के बन सकें तो अच्छा है अन्यथा स्वच्छता तो रहनी ही चाहिये।

पीने का जल—नगरों में पीने के लिए जल नलों से मिलता है। यह नल वाटर-वर्क्स अर्थात् जल-व्यवस्था-विभाग की ओर से स्वच्छ किये गये जल-कुण्डों से जल प्राप्त करते हैं। नगरों में जल का प्रबन्ध नगरपालिका करती है। बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा किसी नदी या बहुत बड़े जलस्रोत का जल बड़े-बड़े हौजों में ला कर पूर्णतया स्वच्छ किया जाता है, और फिर वह नलों द्वारा प्रत्येक घर में पहुँचाया जाता है। जल स्वच्छ करने के स्थान से ले कर घरों तक लोहे की नालियों द्वारा पानी के पहुँचने में मार्ग में किसी प्रकार से उसके गन्दे होने की सम्भावना नहीं होती है किन्तु घरों में तो नल से ले कर पानी गर्मियों में सुराही अथवा घड़े में और सर्दियों में बालटी आदि में रखा जाता है। यदि पानी की स्वच्छता में तनिक भी सन्देह हो अथवा किसी स्थान का पानी सख्त हो तो उसे उबाल कर ही पीना अच्छा होता है। नगर में किसी प्रकार के रोग के फैलने पर भी पानी उबाल कर फिर ठंडा करके पीना ही अच्छा रहता है। पानी को ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जहाँ कि किसी प्रकार की गन्दगी न हो। पानी खुला कभी नहीं रखना चाहिये और निकालते समय उसी बर्तन में

गिलास अथवा लोटा डुबा कर नहीं निकालना चाहिये। जूठा बर्तन तो किसी अवस्था में भी पीने के पानी के बर्तन में नहीं डालना चाहिये। पानी सदा हाथ धो कर निकालना चाहिये। अच्छा तो यह हो कि जिस घड़े या कलश में पानी रखा जाये उसमें एक नल भी लगा दिया जाये ताकि बाहर से ही नल खोल कर पानी लिया जा सके। पानी को स्वच्छ करने के लिए 'फिल्टर' भी कर सकते हैं। यदि पानी की स्वच्छता में अधिक सन्देह हो तो तनिक-सा पोटेशियम परमैंगनेट पानी में डाल देना चाहिये किन्तु पानी का रंग हलका गुलाबी ही हो अधिक गहरा लाल नहीं।

ग्रामों में पीने के लिए पानी अधिकतर कुओं से लिया जाता है। पीने के पानी के कुएँ ठोस धरती पर खोदने चाहिए तथा उसकी धरती ऊँची होनी चाहिए ताकि वहाँ वर्षा का पानी बह कर जमा न हो सके। खाद के गढ़े, तालाब, शौचालयों आदि से पीने के पानी के कुएँ कम से कम ३०० फुट की दूरी पर होने चाहिए। कुएँ के आस पास कम से कम ५० फुट तक कोई पेड़ आदि नहीं होना चाहिए। कुएँ की अन्दर की दीवार पक्की ईंटों की होनी चाहिए और उस पर सीमेंट भी करवा देना चाहिए। कुएँ के चारों ओर पक्का चबूतरा होना चाहिए जिसकी ढाल बाहर की ओर हो और उसका पानी किसी सोखदान में पक्की नाली द्वारा गिराया जाए। कुआँ ऊपर से ढका हो तो बहुत अच्छा है। कुएँ में गरारी लगा कर उसका थोड़ा सा भाग खुला रखना चाहिए जिसका कि ढकना सरलता से उठाया जाए और उपयोग के पश्चात् बन्द कर दिया जाए। रस्सी और डोल स्थायी रूप से कुएँ पर रहने चाहिए और प्रत्येक आदमी को अपना बर्तन पानी खींचने के लिए कुएँ में नहीं डालने देना चाहिए। कुएँ के पास नहाने और कपड़े धोने का निषेध होना चाहिए। इन कामों के लिए पास ही एक स्वतन्त्र चबूतरा बनवा देना चाहिए।

खाने की कच्ची और पक्की सब ही वस्तुओं को भली प्रकार ढक कर रखना चाहिये। गेहूँ आदि को यदि गोदाम में रखा भी जाये तो ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि चूहे उस तक न पहुँच सकें। इसके लिए बड़े-बड़े मटके अथवा महीन जालीदार बक्स बनवाये जा सकते हैं। कुठार भी अच्छे रहते हैं।

पकी भी सब ही वस्तुओं को भली प्रकार ढक कर रखना चाहिये ताकि वह मक्खियों तथा अन्य इसी प्रकार के कीटाणुओं को फैलाने वाले पशुओं आदि से बच सकें। रसोई घर का द्वार महीन जालीदार होना चाहिये ताकि मक्खियाँ, मच्छर आदि भी भीतर न जा सकें।

अध्याय १५

रोगों का रोग-कीटाणुओं द्वारा प्रसार और उनकी रोकथाम

मलेरिया ज्वर—यूँ तो ज्वर कई प्रकार के होते हैं और उनमें से अनेकों कष्टकर भी होते हैं किन्तु मलेरिया प्रायः अधिक फैलता है और देर तक चलता भी है तथा कष्टकर भी अधिक होता है। यह एक विशेष प्रकार के मच्छर के काटने से अर्थात् उसके काटने के द्वारा शरीर में रोग-कीटाणुओं के पहुँचाये जाने से होता है। मच्छर तीन प्रकार के होते हैं, एनोफैलीज, क्यूलेक्स और स्टेगोमाया। अन्य कीड़ों की भाँति इनके भी अण्डे, लार्वा और प्यूपा होते हैं जो कि पानी में ही चलते हैं। अतः मच्छर के प्रारम्भिक जीवन के लिए पानी अनिवार्य होता है।

स्टेगोमाया घरेलू मच्छर होता है। यह प्रायः आबादी के निकट ही पाया जाता है और दिन में काटता है। एक साथ स्टेगोमाया मादा २० से ७५ तक अण्डे देती है। यह अण्डे पानी की सतह पर पृथक् पृथक् तैरते रहते हैं। ये बहुत छोटे, काले रंग के, सख्त और कुछ लम्बे होते हैं। कहीं भी पानी के एकत्रित हो जाने पर ये मच्छर हो सकते हैं। ये देखने में सुन्दर होते हैं। इनके शरीर पर श्वेत और काली चित्तियाँ होती हैं। इनके काटने से पीला बुखार आ सकता है अतः इनसे भी बचने की आवश्यकता रहती है। क्यूलेक्स मच्छर के अण्डे अधिकतर रुके हुए गन्दे पानी में पाये जाते हैं। ऐसा पानी प्रायः घरों के निकट ही मिलता है अतः ये अण्डे भी घरों के निकट ही अधिकतर

पाये जाते हैं। इसके अण्डे एक दूसरे से जुड़े हुए छत्ते की तरह रहते हैं और तनिक लम्बे होते हैं। अण्डे से मच्छर बनने में लगभग ११-१२ दिन लग जाते हैं। इसके पर चित्तीदार नहीं होते हैं। इसके काटने से फाइलेरिया (हाथी पाँव) हो सकता है।

एनोफैलीज़ मच्छर के अण्डे स्वच्छ ताज़े पानी में होते हैं। प्रायः इसके अण्डे साधारण तालाबों, कुओं, बाग के तालाबों आदि में पाए जाते हैं। इनके अण्डे कुछ कुछ नाव की सी रूपरेखा के होते हैं। इनकी मादा एक समय में १०० से २५० तक अण्डे देती है। यूँ तो अण्डे पृथक्-पृथक् होते हैं किन्तु हवा होने पर दूर से एक ही में जुड़े से जान पड़ते हैं। बहुत ही नन्हें होने के कारण सरलता से तो ये दिखाई भी नहीं देते हैं। पहले ये श्वेत होते हैं और फिर धीरे-धीरे काले होते जाते हैं। ये भी लगभग १० या ११ दिन में अण्डे से मच्छर बन जाते हैं। इनके पर चित्तीदार होते हैं। इनके मादा मच्छर के काटने पर मलेरिया ज्वर हो जाता है। ये रात्रि में ही काटते हैं। कहीं कहीं तो मलेरिया ज्वर प्राण लेने वाला सा ही हो जाता है जैसे कि बंगाल के ग्रामों में।

इस ज्वर से बचने का सर्वोत्तम उपाय है पानी एकत्रित न रहने देना। प्रायः ग्रामों के आसपास पानी से भरे गढ़े, तालाब आदि रहते ही हैं जोकि मच्छरों को जन्म देने और पनपने में सहायक होते हैं। इन गढ़ों को पटवा देना चाहिए अथवा इनमें उन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये जो कि मच्छरों को नष्ट कर देती हैं। डी० डी० टी० और गैमेक्सीन दोनों ही औषधियाँ कीड़े मकोड़ों के लिए विष हैं। इन दोनों का प्रभाव एक पक्ष से ले कर एक मास तक रहता है। डी० डी० टी० पाउडर अथवा घोल बना कर प्रयोग में लाया जा सकता है। पाउडर रूप में डी० डी० टी० १० भाग और चीनी मिट्टी अथवा राख अथवा फ्रेंच चाक ६० भाग मिला लेना चाहिये। घोल में डी० डी० टी० एक पाव अथवा ८ आउंस ले लेना चाहिए। इसे पाँच सेर अथवा १ गैलन मिट्टी के तेल अथवा मशीन के तेल में डाल कर कुछ देर लकड़ी से अच्छी तरह चलाना चाहिये। लगभग २४ घंटे पश्चात् इसका प्रयोग करना चाहिए। इसे धूप में रख देना भी अच्छा होता है।

पानी का भी घोल बनाया जा सकता है। १/२ सेर अथवा १६ आउंस गरम पानी में १/२ तोला अथवा १/५ आउंस जिलेटीन और १ तोला बबूल के गोंद का चूरा घोल लिया जाए। इसी को शीतल कर के पत्थर के खरल में उँडेल कर उसमें ११ छटाँक डी० डी० टी० पाउडर मिला कर फिर खरल में पतली लेई सी बना ली जाए। एक हिस्सा ये पदार्थ और २२ हिस्सा पानी मिला कर छिड़का जा सकता है। छिड़कते हुए भी इसे चलाते रहना चाहिये ताकि चूरा नीचे न बैठ जाए।

५० सेर मिट्टी के तेल में एक पाव डी० डी० टी० मिला कर इसमें १½ छटाँक पइरेथ्रम का रस मिला देने से वह अधिक तीव्र हो जाता है।

डी० डी० टी० मक्खियों, मच्छरों, खटमलों आदि सब ही कीड़े मकोड़ों को मारने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। बरसात के दिनों में जब कि घर के आसपास पानी भर जाता हो, शौचालय में, खाद के ढेर पर अथवा जहाँ-जहाँ भी मच्छर एवं मक्खियाँ होती हों डी० डी० टी० का प्रयोग किया जा सकता है। डी० डी० टी० के प्रयोग के पश्चात् हाथ साबुन से धो लेने चाहिये। डी० डी० टी० का अधिक देर तक मानव-त्वचा पर रहना भी हानिकर है। किसी भी अवस्था में इसे खाद्य पदार्थों पर नहीं छिड़कना चाहिए।

गैमक्सीन का प्रयोग भी इसी कार्य के लिए किया जा सकता है। सब से अच्छा तो यही है कि मच्छरों को उत्पन्न ही न होने दिया जाए और यदि हो जाएँ तो उन्हें मार डाला जाए। फिर भी यदि मच्छर हों ही तो रात्रि में सोते समय मच्छरदानी का प्रयोग करना चाहिए।

मलेरिया ज्वर हो जाने पर पैल्यूड्रीन की गोली अच्छी रहती है। मलेरिया के लक्षण स्पष्ट ही जान पड़ते हैं। इस ज्वर में बहुत सर्दी लग कर ज्वर चढ़ता है, सिर में खूब ज़ोर से दर्द होता है, हाथ, पैर और सारे शरीर में दर्द और ऐंठन होती है और तेज़ पसीना आने के पश्चात् ज्वर उतर जाता है। यह ज्वर प्रतिदिन भी आ सकता है और तीसरे अथवा चौथे दिन भी। एक बार इस ज्वर के आ जाने पर शीघ्र ही इससे मुक्ति नहीं होती है। ज्वर आ जाने पर तो कोई भी औषध देना आवश्यक नहीं है। यदि कष्ट अधिक हो तो डाईफेटिक

मिक्श्चर दिया जा सकता है। फिर ज्वर उतर जाने पर सिनकोना अथवा कुनीन भी दी जा सकती है और ज्वर आने से पूर्व जल के साथ पैल्यूड्रीन की १ से २ गोली तक दिन में दो बार दी जा सकती हैं । ये गोलियाँ लगातार तीन दिन से अधिक नहीं खानी चाहिए और गर्भवती स्त्री को अधिक नहीं देनी चाहिये। खाना हलका खाया जा सकता है। दूध का सेवन अधिक किया जाए। नीबू भी दिया जा सकता है। अधिक दिन तक मलेरिया रहने से तिल्ली भी बढ़ जाती है और अन्य रोग भी हो जाते हैं।

हैज़ा—हैज़ा अत्यन्त संक्रामक रोग है। एकबार इसके फैल जाने के बाद इसका रोकना एक बड़ी भारी समस्या हो जाती है। यदि नगर में कहीं हैज़े के रोग के होने की बात सुनी जाए तो तुरन्त हैज़े से बचने का टीका लगवा लेना चाहिये। पानी को उन दिनों उबाल कर अथवा पोटाशियम परमेंगनेट छोड़ कर ही पीना चाहिये। ताज़ा और गर्म भोजन करना चाहिये तथा खाने पीने की वस्तुओं को मक्खियों से बचाना चाहिये। भोजन के साथ दही, नीबू, सिरका आदि खट्टी वस्तुओं का सेवन करना चाहिए। किसी हैज़े के रोगी का कपड़ा, बर्तन, वमन, दस्त आदि उठाने के बाद अपने हाथों को भली प्रकार पोटाशियम परमेंगनेट के पानी से धोना चाहिये। हैज़े के दिनों में पेट की किसी साधारण सी भी खराबी का तुरन्त ही उपचार करना चाहिये और बासी भोजन तथा अधिक पके फलों का तो बिलकुल सेवन नहीं करना चाहिये।

हैज़े में पहले पतले दस्त आते हैं। इनका रंग चावल की माँड की भाँति होता है। फिर इसी रंग के वमन भी आने लगते हैं। मूत्र बिलकुल नहीं होता है और शरीर शीतल हो जाता है। चेहरा पीला हो जाता है, खाल सिकुड़ जाती है और आँखें भीतर घुस जाती हैं। प्यास बहुत लगती है तथा शरीर ऐंठने लगता है। हैज़े के रोग-कीटाणु रोगी के वमन और दस्त में बहु संख्या में होते हैं। मक्खियों द्वारा ये अन्य खाने पीने की वस्तुओं आदि में चले जाते हैं और जो भी कोई उन वस्तुओं को खाता है इन रोग-कीटाणुओं को अपने शरीर के भीतर ले जाता है और स्वयं भी रोगी हो जाता है। ये मक्खियों द्वारा वस्त्रों, बर्तन, बिस्तर आदि में भी पहुँच जाते हैं। रोगी के वस्त्र, बर्तन

आदि जिस पानी में धुलते हैं वह भी दूषित हो जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें देखने में तो हैज़े का रोगी नहीं कहा जा सकता है किन्तु थोड़ी संख्या में उनके मल में हैज़े के रोग-कीटाणु निकलते रहते हैं जो कि इस रोग को दूसरे व्यक्तियों तक पहुँचाते हैं। मेले आदि में इस रोग के फैलने का भय रहता है।

यदि घर में किसी को हैज़ा हो जाए तो उसे तुरन्त हस्पताल भेज देना चाहिये। नहीं तो घर में ही एक अलग कमरे में लिटा देना चाहिये तथा उसके वमन और दस्त के लिए चूना अथवा गरम राख डाल कर एक चिलमची अथवा कूँडा अथवा घड़े का मुँह चौड़ा करके रख देना चाहिये। इसे बहुत दूर जा कर डाल देना चाहिये। हैज़े में एसेन्शियल आयल मिक्सचर बहुत लाभप्रद होता है। एक पूर्ण वयस्क व्यक्ति को एक चाय के चम्मच भर यह मिक्सचर आधी छटाँक जल में मिला कर आध आध घंटे पश्चात् आठ अथवा १० बार देना चाहिए। यदि रोगी की आयु १५ वर्ष से कम हो तो २-४ बूँद आयु के प्रति वर्ष के हिसाब से आधी छँटाक अथवा कुछ कम पानी में डाल कर ८ अथवा १० बार देना चाहिये।

एक तोला क्मौलीन १ छँटाक उबले पानी में घोल कर १५-१५ मिनट बाद दिया जा सकता है।

साधारण रोगावस्था में स्पेशल कालरा की चार गोलियाँ तुरन्त देनी चाहिये और फिर ७२ घंटे तक ६ घंटे पश्चात् २ गोली के हिसाब से देते रहना चाहिये। रोगावस्था अधिक कठिन जान पड़ने पर तुरन्त ८ गोलियाँ और फिर एक एक घंटे पश्चात् चार चार गोलियाँ १२ घंटे तक देते रहना चाहिये। इसके बाद ४ घंटे पश्चात् ४ गोलियाँ २ दिन तक दी जा सकती हैं। ये गोलियाँ राजकीय ज़िला स्वास्थ्य कार्यालय से मिल सकती हैं।

यदि सुविधा हो तो हैज़ा होते ही तुरन्त डाक्टर को बुलाना चाहिये।

रोगी के रोग-मुक्त अथवा मृत्यु हो जाने पर घर के मिट्टी के बर्तन तो तुरन्त तोड़ कर एक गढ़े में गाड़ देने चाहिये; अन्य बर्तनों को पोटाशियम परमेंगनेट से एवं गरम राख से अवश्य धोना तथा माँजना चाहिये। रोगी द्वारा

पहने गए कपड़ों को यदि सम्भव हो तो सिलीन अथवा हाईकाल लोशन १ भाग और ९९ भाग पानी का लोशन तैयार करके उसमें भिगो कर धोना तथा ८ घंटे धूप में सुखाना चाहिए। अन्य जो भी वस्तु रोगी के द्वारा प्रयोग में लाई गई हो और ऐसी हो जो कि जलाई अथवा उबाली नहीं जा सकती है तो उसे इसी प्रकार लोशन बना कर उसमें भली प्रकार धोना चाहिये। इसी लोशन से कमरे और बरामदे आदि के फर्श और दीवारों को धोना चाहिये। यदि फर्श कच्चा हो तो ४-४ इंच मिट्टी निकाल कर दूसरी मिट्टी में चूना मिला कर बिछा देना चाहिये।

हैज़े से मरने वाले व्यक्ति का शव किसी भी अवस्था में नदी में बहाना नहीं चाहिये। जला देना सर्वोत्तम है किन्तु ऐसा न हो सके तो गाड़ देना चाहिये किन्तु जिस स्थान पर गाड़ा जाए वह पानी पीने के कुएँ से बहुत दूर होना चाहिये। हैजे के दिनों में जुलाब नहीं लेना चाहिये और पेट में दर्द अथवा एक भी दस्त होने पर तुरन्त ऐसेन्शियल आयल ले लेना चाहिये। प्याज़ का रस और सिरका भी दिया जा सकता है।

प्लेग—यह रोग चूहों के द्वारा फैलता है। वस्तुतः यह है भी चूहों का ही रोग। यह पिस्सुओं से होता है। पहले इस रोग का रोगी चूहा मर जाता है और फिर उसके शरीर के पिस्सू उड़-फुदक कर मनुष्यों को भी काटने लगते हैं। पिस्सू जब भी कभी किसी ऐसे चूहे को काटता है जो कि प्लेग का रोगी है तो वह उसके रक्त के साथ ही साथ रोग के कीटाणु भी चूस लेता है और फिर किसी भी स्वस्थ चूहे अथवा मनुष्य को काट कर उनके शरीर में भी उन रोग-कीटाणुओं का प्रवेश करा देता है।

इस रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय है चूहों को घरों में न होने देना। इसके लिये खाने-पीने की चीज़ों को भली प्रकार ढक कर रखना आवश्यक है ताकि किसी प्रकार भी चूहों को घर में खाने की वस्तुएँ मिल ही न सकें।

घर में यदि कोई चूहा मरा हुआ पाया जाए तो उसे चिमटे अथवा अन्य किसी चीज़ से पकड़ कर नगर से बहुत दूर ले जा कर जला अथवा गाड़ देना चाहिए तथा जिस जगह वह मरा हुआ पाया गया हो उस स्थान को भी

मिट्टी का तेल अथवा घास फूस डाल कर जला देना चाहिए। ऐसी अवस्था में राजकीय ज़िला स्वास्थ्य विभाग के प्रधान को सूचना देनी चाहिये। ऐसी अवस्था में प्रायः घर छोड़ कर नगर के बाहर चला जाना ही अच्छा रहता है। छोड़े हुए घरों की खिड़कियाँ आदि पूरी खोल देनी चाहिये ताकि कमरों में धूप और वायु आ सके। रोगी को तुरन्त ही छूत की बीमारियों के हस्पताल भेज देना चाहिये। यदि ऐसा न भी हो सके तो उसे अलग कमरे में रखना चाहिये तथा केवल दूध और प्लेग की टिकियाँ ही देना चाहिये। यदि चाहें तो गिल्टियों पर आयोडीन का मरहम लगाते रहें। सब को चारपाई पर ही सोना चाहिये क्योंकि पिस्सू उछल कर ३ इंच से अधिक ऊँचे नहीं जा पाते हैं। रोगी के अच्छे होने अथवा मरने पर उसके वस्त्र बर्तन आदि के विषय में वही करना चाहिये जो कि हैजे के रोगी के वस्त्र बर्तन आदि के विषय में कहा गया है। साइनो गैस की धूनी से भी चूहे और पिस्सू मर जाते हैं।

इस रोग में प्रारम्भ से ही बदन बुरी तरह टूटने लगता है, सिर में दर्द होता है तथा सिर चकराता है और तेज़ ज्वर हो जाता है। ज्वर १०२ से १०४ डिग्री तक रहता है और कभी-कभी सन्निपात की सी भी अवस्था हो जाती है। बगल, जाँघ, गर्दन आदि में गिल्टियाँ हो जाती हैं और सूजन भी हो जाती है जो कि बढ़ती ही जाती है। अधिकतर रोगी २ से ५ दिन के भीतर मर जाते हैं।

ताऊन अथवा प्लेग को एक बार फैलने पर रोकना कठिन हो जाता है। इसीलिये इस रोग को महामारी कहते हैं। सूचना पाते ही शासकीय स्वास्थ्य विभाग इसकी रोकथाम का पूरा प्रयत्न करने में संलग्न हो जाता है। बीमारी की चर्चा सुनते ही सब को टीका लगवा लेना चाहिये। बीमारी जहाँ भी हुई हो उस स्थान के लोगों को दूसरे आबाद नगरों में नहीं जाने देना चाहिये। सफाई भली प्रकार करनी चाहिये। बिल्ली पालनी चाहिए तथा आधा सेर बैरियम कारबोनेट अथवा जिंक फास्फाइड को डेढ़ सेर आटे में मिला कर गोलियाँ बना ली जाएँ। यह गोलियाँ रात को चूहों के बिलों के पास डाल देनी चाहिये। चूहे सूखी तथा बासी गोलियाँ नहीं खाते हैं अतः रोज़ ताज़ी गोलियाँ बना कर डालनी चाहिये। पहले दो तीन दिन तक खाली आटे की गोलियाँ खिला कर चूहों को

परचा लेना चाहिये फिर विषैली गोलियाँ देनी चाहिये। चूहेदान भी लगाए जा सकते हैं। साइनो गैस अथवा साइमैग गैस तथा डी० डी० टी० पाउडर द्वारा भी चूहे मारे जा सकते हैं।

शीतला—शीतला अथवा बड़ी माता के रोग-कीटाणु वायु में चारों ओर फैलते रहते हैं। रोगी से छुई हुई कोई भी वस्तु रोग-कीटाणु ग्रहण कर लेती है। वायु द्वारा ही इसकी छूत फैलती है। छूत लगने के लगभग १४ दिन पश्चात् पहले जाड़ा लगता है और पीठ तथा कमर में दर्द होता है और कभी कभी वमन भी हो जाता है। ज्वर भी १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है। ज्वर के तीसरे दिन दाने भी दिखाई देने लगते हैं। दाने पहले मुख पर दिखाई देते हैं फिर कलाई पर और फिर सारे शरीर पर निकल आते हैं। आरम्भ में दानों का रंग लाल होता है और वे उभरे हुए होते हैं। कुछ समय पश्चात् लाली चली जाती है और दानों में दूधिया से रंग का पानी भर जाता है जो कि दो दिन पश्चात् पीप बन जाता है और दाने सूखने लगते हैं। धीरे धीरे सारे शरीर के दानों के खुरंट गिरने लगते हैं। लगभग २१ दिन में सारे खुरंट गिर जाते हैं। कभी कभी कई एक दाने मिल कर बड़े से छाले के रूप में दिखाई देने लगते हैं और यदि इन दानों में से रक्त भी आने लगे तो रोगी के बचने की आशा न्यून हो जाती है।

शीतला में ज्वर के तीसरे दिन सारे शरीर पर एक ही से दाने निकलते हैं और ज्वर बहुत तीव्र होता है किन्तु छोटी चेचक अथवा माता के दाने छोटे होते हैं और ज्वर के साथ साथ निकल आते हैं। एक समय में शरीर के भिन्न भिन्न भागों में दाने होते हैं। खसरे में आँखों में लालिमा, जुकाम और खाँसी भी होती है तथा दानों में पक कर पीप नहीं पड़ती है।

शीतला का टीका बालक के जन्म के ६ मास के भीतर ही अवश्य लगवा देना चाहिये। दूसरी बार टीका बालक की ५ अथवा ७ वर्ष की आयु के बीच लगवा देना चाहिये। यदि टीका पहली बार न फूले तो दूसरी और तीसरी बार भी लगवा देना चाहिये। यूँ जब भी कभी शीतला फैलने की चर्चा सुनाई दे टीका लगवा लेना चाहिये। पहली बार यदि टीका उठता अथवा

फूलता है, तो बालक को ज्वर आता है और टीके का स्थान पक भी जाता है किन्तु उस पर कोई भी औषध लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। केवल पकी हुई जगह को धूल और चोट से बचाना चाहिये। घाव पर पानी भी नहीं पड़ने देना चाहिये। खुरंट सूखने लगे तो बोरिक एसिड अथवा डस्टिंग पाउडर छिड़का जा सकता है। उसपर चिकनाई लगाना ठीक नहीं होता है। एक बार टीका लग चुकने पर फिर दूसरा लगाने पर टीका पकता भी कम है, और ज्वर आदि भी नहीं होता है। कई वर्ष पुराने हो जाने पर टीके की शीतला से बचाने की शक्ति मन्द हो जाती है। अतः हर तीसरे वर्ष लगवा लेना अच्छा रहता है।

शीतला छूत का रोग है, अतः रोगी की रोगावस्था में देखभाल की पर्याप्त आवश्यकता रहती है। रोगी की परिचर्या करने वाले वही लोग होने चाहिये जो कि हाल में ही टीके लगवा चुके हों। अच्छा तो यह हो कि रोगी को छूत के रोगों के हस्पताल में भेज दिया जाये अन्यथा उसकी तो सावधानी से परिचर्या करनी ही चाहिये अन्य व्यक्तियों को भी छूत से बचाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। रोगी को उबला हुआ दूध और पानी पिलाया जाना चाहिये। इस रोग में लोग प्रायः तनिक-सी भी नेत्रों की असावधानी होने से अन्धे हो जाते हैं। अतः नेत्रों को प्रतिदिन अत्यन्त सावधानी से एक पाव पानी को उबाल कर उसमें एक छोटा चम्मच बोरिक एसिड डाल कर तनिक सहता-सहता गुन-गुना करके उससे धोना चाहिये। खुरंट गिरने की अवस्था में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि उस अवस्था में छूत जल्दी लग जाती है। अतः जो खुरंट गिर जाए उन्हें एकत्रित करके जलवा देना चाहिये। जब खुरंट बनने लगें तो दानों पर थोड़ा-थोड़ा कारबोलिक तेल लगाना अच्छा रहता है।

रोगी के अच्छे होने अथवा मर जाने पर घर की भली प्रकार से सफाई करनी चाहिये। कमरे के दरवाज़े और खिड़कियाँ अच्छी तरह बन्द करके उसमें गन्धक, तम्बाकू अथवा नीम के पत्तों की खूब धूनी करनी चाहिए। फारमोलीन लोशन को पानी में मिला कर उससे घर को और विशेषतया रोगी

के कमरे को भली प्रकार धोना चाहिए। कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं का वही प्रबन्ध करना चाहिए जो कि हैज़े के रोगी के लिए किया जाता है। इस प्रकार का रोग होते ही जिले के स्वास्थ्य-विभाग के अध्यक्ष को अवश्य सूचना दे देनी चाहिए।

मोतीझरा (आंत्रिक ज्वर)—इस रोग के कीटाणु खाद्य-वस्तुओं के साथ किसी भी स्वस्थ मनुष्य की आँतों में पहुँच सकते हैं। इस रोग के कीटाणु अधिकतर रोगी के मल एवं मूत्र में होते हैं। यदि रोगी का मल तथा मूत्र असावधानी से इधर-उधर फेंक दिया जाए तो मक्खियों द्वारा यह कीटाणु फैल कर सहज ही अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को भी रोगी कर देते हैं। रोगी के वस्त्रों को जन-साधारण के उपयोग के कूप, तालाब आदि पर धोने से भी यह रोग फैलता है। यह रोग दूध अथवा पानी के दोष से ही आरम्भ होता है। दूध दोहने का पात्र गन्दा होने से अथवा ग्वालों द्वारा दूध में गन्दे पानी के मिला देने के कारण अथवा मक्खियों द्वारा दूध तक रोग-कीटाणुओं के पहुँच जाने से यह रोग फैलता है।

इस रोग में पहले सिर में दर्द होना आरम्भ होता है, फिर ज्वर भी चढ़ जाता है। कभी-कभी सर्दी भी लगती है। यह लगभग तीन सप्ताह तक चलता है। प्रथम सप्ताह में प्रातः १०१ डिग्री के लगभग और संध्या समय १०३ डिग्री के लगभग ज्वर रहता है। सिर में दर्द तो रहता ही है। जीभ पर एक सफेद कुछ मटमैला रंग-सा लिए तह जम जाती है और होठ भी सूखने लगते हैं। भूख तो बिलकुल ही नहीं लगती है। पेट में कभी-कभी दर्द होता है और वायु भी भरती है। कभी-कभी कोष्ठ-बद्धता हो जाती है और किसी-किसी अवस्था में दस्त आने लगते हैं। कोष्ठ-बद्धता की अपेक्षा दस्त आना अधिक भयप्रद होता है। दूसरे सप्ताह में ज्वर बढ़ जाता है। प्रातः प्रायः १०२ डिग्री और संध्या को १०५ डिग्री तक ज्वर चला जाता है। कभी-कभी शरीर पर लाल-लाल दाने भी दिखाई देने लगते हैं। रोगी के मल में रक्त भी आने लगता है जो कि भय का कारण हो सकता है। जीभ और ओठों पर गहरी भूरी पपड़ी-सी जम जाती है। ज्वर अधिक होने पर सन्निपात भी हो जाता है।

तीसरे सप्ताह में रोग की तीव्रता न्यून हो जाती है, और रोग आरम्भ होने के इक्कीसवें अथवा इकतीसवें दिन उतर जाता है। कभी-कभी इकतालीस दिन तक भी चला जाता है। रोगी को इस रोग से मुक्त हो जाने पर अत्यधिक दुर्बलता हो जाती है। रोग मुक्ति के पश्चात् भी अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है।

रोग आरम्भ होते ही, जिसका कि ठीक ठीक पता रक्त-परीक्षण हो चुकने पर ही लग सकता है ज़िला स्वास्थ्य अध्यक्ष को तुरन्त सूचना देनी चाहिये जिससे कि नगर के अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को रोग से बचाने का टीका लगवाया जा सके। सदा-सर्वदा ही खाने-पीने की वस्तुओं को धूल मिट्टी आदि से बचा कर रखना चाहिए तथा यदि घर में कोई इस रोग का रोगी हो तो भोजन सादा और ताज़ा करना चाहिये। घर भर के बर्तनों को भली प्रकार स्वच्छ पानी से धोना चाहिए। घर की सब ही नालियों और शौचालय को प्रतिदिन दोनों समय भली प्रकार साफ करना और उनमें चूना तथा फिनायल डालना चाहिये। फल और तरकारियाँ एक तो कच्ची खाना ही उन दिनों बन्द कर दें और यदि खाना ही हो तो उन्हें पोटाशियम परमेंगनेट के पानी में अच्छी तरह धो कर खाना चाहिये। रोगी को घर के अन्य उन व्यक्तियों से जो कि परिचर्या नहीं कर रहे हैं तथा विशेषतया बालकों से सर्वथा पृथक् रखना चाहिये और उसके दूध पानी आदि के बर्तनों को घर के अन्य बर्तनों में कदापि नहीं मिलाना चाहिये। रोगी को देखने के लिए भी अन्य व्यक्तियों को रोगी के कमरे में नहीं जाने देना चाहिये। रोगी को हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये। उसे मूत्र और मल त्याग बिस्तर पर ही बेड-पैन या किसी अन्य पात्र में कराना चाहिये और उस बर्तन में चूना अथवा फिनायल हर समय पड़ी रहनी चाहिए। उस मल मूत्र को नगर से बहुत दूर गढ़ा खोद कर उसी में डाल कर जला कर फिर उस गढ़े को अच्छी तरह बन्द कर देना चाहिये। रोगी की परिचर्या करने वाले व्यक्ति को पोटाशियम परमेंगनेट का पानी सदा तैयार रखना चाहिये और जितनी बार वह रोगी को छुए अथवा उसके बर्तन आदि छुए उसे तुरन्त अपने हाथ उस पानी में भली प्रकार धो लेने चाहिये। रोगी का कमरा बहुत ही स्वच्छ होना चाहिये और

उसके फर्श को प्रतिदिन फिनायल से धोना चाहिये। यदि फर्श कच्चा हो तो थोड़ी थोड़ी देर बाद चूना छिड़कते रहना अच्छा होता है। रोगी के अच्छे होने अथवा मर जाने की अवस्था में उसके वस्त्रों को जला देना चाहिये और शेष सब वस्तुओं को हैज़े के रोगी की वस्तुओं की भाँति ही साफ करना चाहिये।

इस रोग में औषध की अपेक्षा परिचर्या की कहीं अधिक आवश्यकता होती है। यदि घर में भली प्रकार से परिचर्या न हो सके तो रोगी को हस्पताल भेज देना ही अच्छा रहता है। यदि रोगी को सन्निपात हो जाए तो डाक्टर की सम्मति से उसके सिर पर बर्फ की थैली रखनी चाहिये।

यदि बर्फ की थैली न मिल सके तो सिर पर ठंडे पानी में तनिक सा सिरका मिला कर उसकी पट्टी रखी जा सकती है अथवा भिगो कर तथा भली प्रकार निचोड़ कर तौलिया रक्खा जा सकता है। इस रोग का तीसरा सप्ताह बहुत भयप्रद होता है अतः उस समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि ज्वर अधिक हो और पेट फूलता हो अथवा दूध न पचता हो तो फटे दूध का पानी, बार्ले का पानी अथवा डाक्टर के आदेशानुसार भोजन देना ही ठीक रहेगा। इस रोग के दुबारा हो जाने की भी सम्भावना बहुत अधिक रहती है अतः रोगी के स्वस्थ हो जाने पर भी कुछ दिनों तक उसके भोजन आदि की सावधानी से देखभाल करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।

क्षय रोग अथवा राजयक्ष्मा—यह रोग हमारे देश में कुछ अधिक पाया जाता है। अनुमानतः प्रायः यह कहा जाता है कि उत्तर प्रदेश में ही क्षय रोग के पाँच लाख रोगी हैं। कानपुर आदि घनी आबादी वाले तथा मिलों आदि से पटे हुए नगरों में इस रोग की अधिकता है। अधिकतर लोगों को इस रोग का ठीक ठीक पता भी नहीं लगता है और वे इसे साधारण ज्वर, खाँसी, थकान, दुर्बलता मात्र ही समझ कर सब कहीं आते-जाते, घूमते-फिरते रहते हैं। फलस्वरूप उनका रोग तो बढ़ता ही जाता है और उनकी श्वास तथा थूक द्वारा रोग-कीटाणु अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को भी इस रोग में ग्रस्त कर देते हैं। थूक सूख जाने पर धूल के साथ वायु में उड़ कर रोग-कीटाणु श्वास द्वारा अन्य व्यक्तियों के शरीर में प्रवेश करके उन्हें भी रोगी कर देते हैं। मक्खियाँ

लिए थूकने का एक ढक्कनदार डिब्बा होना चाहिए। उसमें कुछ गमेक्सीन भी डाल देना चाहिए। रोगी के थूक को जला देना चाहिए। उसके प्रयोग में लाने के वस्त्र, बर्तन आदि बिलकुल अलग होने चाहिए। रोगी के लिए प्रातः काल सूर्य के प्रकाश में कुछ देर तक बैठना अथवा लेटना अच्छा रहता है। रोगी को धुएँ, मक्खी, मच्छर एवं धूल से बचाना चाहिए। रोगी के पास अधिक उठना बैठना, सोना नहीं चाहिए और उसे किसी भी प्रकार का मानसिक आघात भी नहीं पहुँचने देना चाहिए। रोगी को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

इधर कुछ काल से विश्व भर में बी० सी० जी० के टीके के सम्बन्ध में भी परीक्षण किया जा रहा है और यह विश्वास किया जाता है कि यह टीका कम आयु के व्यक्तियों को लगाने से उनमें क्षय रोग से बचने की शक्ति उत्पन्न करा दी जाती है। अतः यह क्षय रोग विरोधक टीका है और इसे बच्चों को लगवा देना चाहिए।

खसरा अथवा मीज़ल्स—यह भी एक प्रकार का छूत का ही रोग है। इसमें खाँसी, छींक, जुकाम, शरीर पर लाली सी तथा चकत्ते दिखाई देने लगते हैं। आँखों से पानी निकलता है और तनिक ज्वर भी हो जाता है। इस रोग के पश्चात् दुर्बलता भी हो जाती है। यह रोग होते ही रोगी को परिवार के अन्य व्यक्तियों, विशेषतया बालकों से सर्वथा पृथक् कर देना चाहिए तथा तुरन्त डाक्टर को दिखाना चाहिए। रोग-मुक्त हो जाने पर भी इसकी छूत १८ दिन बाद तक रहती ही है। अतः सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। इस रोग के रोगी बच्चों को जब तक डाक्टर न कह दे, पाठशाला नहीं भेजना चाहिए क्योंकि अन्य बच्चों को इस रोग के शीघ्र ही लग जाने का भय रहता है। यह रोग प्रायः ५ वर्ष से कम आयु के बच्चों को अधिक होता है। रोग प्रायः १०-११ दिन रहता है किन्तु इसकी छूत ४ दिन पूर्व से ही होती है। इसकी छूत श्वास से लगती है।

कोढ़—यह एक ऐसा रोग है, जो कि देर तक साथ रहने से लग जाता है और शरीर में स्थायी रूप से घर कर लेता है (Chronic infective)।

इस रोग के लक्षण रोग के कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश कर जाने के कई वर्ष पश्चात् प्रकट होते हैं।

कोढ़ दो प्रकार का होता है। एक प्रकार के कोढ़ का सम्बन्ध स्नायु से होता है और दूसरे प्रकार का सम्बन्ध त्वचा से होता है। प्रथम प्रकार के कोढ़ में शरीर पर ऐसे स्थान अथवा धब्बे से हो जाते हैं, जिनमें अनुभव करने की शक्ति नहीं रहती तथा स्नायु मोटे और दानेदार हो जाते हैं। त्वचा सम्बन्धी कोढ़ में त्वचा भूरी और चिकनी तथा गीली-सी हो जाती है। पलकों के बाहरी कोनों के बाल झड़ जाते हैं तथा रोगी की सूरत एक विशेष प्रकार की हो जाती है।

इस रोग में साधारणतया स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। हर प्रकार के स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पूर्णतया पालन करना चाहिए। चौल मुगरा के तेल (Oil of Hydnocarpus) की मालिश लाभप्रद होती है तथा नवीन औषधियों के समूह (Sulphones Streptomycine) के इंजेक्शन भी लगाये जाते हैं।

इस रोग की चिकित्सा करने में यथेष्ट धैर्य की आवश्यकता है। वर्षों इलाज चलना चाहिए। इस रोग के कीटाणु वर्षों में अपना प्रभाव दिखाते हैं अतः वर्षों तक ही इलाज होना भी आवश्यक है। इस रोग के कीटाणु शरीर में नाक के द्वारा तथा शरीर के घायल अंग द्वारा प्रवेश करते हैं!

पशु-रोग विशेष (rabies)—यह रोग प्रायः कुत्तों, लोमड़ियों, और भेड़ियों को होता है किन्तु दूसरे पशुओं को भी हो सकता है। घोड़े, गाय, बैल और सुअर आदि भी इस रोग से ग्रस्त देखे जाते हैं।

इस रोग के कीटाणुओं का प्रभाव भी स्नायु संस्थान पर ही अधिक पड़ता है। यह वृहत् मस्तिष्क तक स्नायु विशेष (Peripheral nerves) के द्वारा पहुँच जाते हैं।

जिन देशों में आवारा कुत्ते और जंगली जानवर अधिक होते हैं, वहाँ यह रोग अधिक पाया जाता है।

जब किसी कुत्ते पर इस रोग का आक्रमण होता है तो उसमें मनो-

वैज्ञानिक परिवर्तन होने लगते हैं क्योंकि उसमें बुद्धि तो होती ही है। उसके भौंकने का ढंग भी परिवर्तित हो जाता है। वह शीघ्र ही भय खाने और क्रोधित होने लगता है। कहा जाता है कि इस रोग का रोगी कुत्ता जिसे साधारणतया पागल कुत्ता कहते हैं, डराने अथवा चिढ़ाने पर ही किसी को काटता है। कभी कभी इस प्रकार के रोगी को लकवा भी मार जाता है।

मनुष्यों में इस रोग के कीटाणु पशु की लार द्वारा प्रवेश कर पाते हैं। प्रायः इस रोग के रोगी कुत्ते के काटने से मनुष्य को इस रोग के होने का भय होता है। प्रायः काटने के पश्चात् से ले कर १२ सप्ताह के बीच में रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं किन्तु कितने समय में लक्षण प्रकट हों यह काटने की तीव्रता और किस स्थान पर काटा है, इसपर निर्भर होता है। रोगी उदास, शीघ्र चिढ़ने वाला और प्रायः सब प्रकार के कारणों को ले कर असहिष्णु हो जाता है। यदि वह खाने अथवा पीने का प्रयास करे तो निगलने के अंगों में कष्ट होने लगता है। पागलपन (Maniacal Symptoms) और कभी-कभी लकवा भी हो जाता है। ऐसा होने के तीन दिन के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग का कोई इलाज नहीं है। यदि काटने वाला कुत्ता दस दिन के भीतर मर जाये तो यह निश्चय हो जाता है कि वह पागल था। कुत्ता जिस स्थान पर काटे उस स्थान पर तुरन्त ही कार्बोलिक एसिड लगा देना चाहिए। कुत्ते के काटने पर इंजेक्शन (Anti-Rabies-Vaccine) लगवा लेना चाहिए।

अध्याय १६

जन-स्वास्थ्य और जनमत

कुछ एक बस्तियाँ और उनसे जन-स्वास्थ्य को होने वाली हानियाँ—ग्राम जीवन में अन्य बहुत से दोष होते हुए भी वहाँ स्वच्छ वायु प्राप्ति की सुविधाएँ होती ही हैं। विश्व में ज्यों-ज्यों विज्ञान की सहायता और उसके ज्ञान से मानव ने प्रकृति पर अधिकार करना आरम्भ किया त्यों-त्यों उसने नवीनातिनवीन यन्त्रों आदि का आविष्कार किया, करता गया और करता ही जा रहा है। औद्योगीकरण हुआ, फलस्वरूप नगर बसे, व्यापार बढ़ा, व्यवसाय बढ़ा, मिलें बनीं और कल-कारखानों, मिलों आदि में मजदूर सैकड़ों, हजारों, लाखों की संख्या में काम करने लगे। नगरों में स्थान की कमी होने लगी और जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होने लगी। मज़दूरी तो उतनी अधिक मिलती नहीं थी अतः उनकी बस्तियाँ बसने लगीं जहाँ कि कम किराये के सस्ते घर अथवा कोठरियाँ मिलने लगीं। आज प्रायः सब ही बड़े नगरों में कुछ मुहल्ले तो ऐसे होते ही हैं जहाँ कि सस्ते किराये के मकान मिलते हैं, यद्यपि इन्हें मकान कहना भूल ही होगी। इनमें कुछ तो मज़दूरों आदि के मुहल्ले होते हैं और कुछ अन्य धनहीन लोगों के घर होते हैं। इस प्रकार के मुहल्ले कभी-कभी तो यदि केवल मज़दूरों के ही हों तो मिल, कारखाने आदि के निकट ही होते हैं। अन्य धनहीन व्यक्तियों के घर नगर के भीतर भी होते हैं और कुछ दूर भी। प्रायः प्रत्येक नगर में कुछ बहुत पुराने मकानों वाले मुहल्ले भी होते हैं जहाँ के मकानों में प्रकाश एवं वायु का प्रवेश कठिनाई से ही होता है।

प्रायः इन मुहल्लों के मकानों में एक अथवा दो कोठरियाँ होती हैं। ये कहीं-कहीं कच्ची और कहीं पक्की भी होती हैं। उनमें खिड़की और रोशनदान नहीं होते हैं। धुआँ निकलने का भी प्रबन्ध नहीं होता है और कभी-कभी तो भोजन भी उसी कोठरी में बनाया जाता है जहाँ कि घर के सब लोग सोते हैं। यहाँ प्रायः एक कोठरी में आठ दस तक लोग रहते हैं। इस संख्या में स्त्री और

बच्चे भी सम्मिलित होते हैं। सार्वजनिक शौचालय और नलों का ही यह लोग उपयोग करते हैं। इन मुहल्लों में पानी के निकास की न तो कुछ बहुत अच्छी व्यवस्था ही होती है और न वहाँ के निवासियों का इस ओर ध्यान ही होता है। अज्ञान, मूर्खता और दरिद्रता के वश में रहने वाले ये लोग प्रायः रोग आदि के शिकार होते ही रहते हैं क्योंकि वहाँ गन्दगी, मच्छर, मक्खियों और स्वास्थ्य के प्रायः सब नियमों की अवहेलना का ही पूर्ण साम्राज्य होता है। नगरों के लिए ये मुहल्ले बहुत ही भयप्रद होते हैं क्योंकि प्रायः रोगों का जन्म इन्हीं स्थानों में होता है और प्रायः इन्हीं स्थानों से नगर के सब भागों में काम-काज, नौकरी-चाकरी के लिए पुरुष और स्त्रियाँ तथा कभी-कभी भिक्षा माँगने के लिए बच्चे भी जाते हैं। रोगी होने की तो वहाँ सम्भावना अधिक रहती ही हैं, रोग हो जाने पर भी दरिद्रता, स्थानाभाव और अज्ञान-वश न तो ये लोग हस्पताल ही जाते हैं और न इन्हें रोगी को पृथक् रखने की ही सुविधा होती है। परिणाम स्वरूप अन्य स्वस्थ व्यक्तियों को भी रोग पकड़ लेता है और वे तनिक बहुत रोगावस्था में भी बाहर काम काज पर जाते ही रहते हैं क्योंकि न जाने से उन्हें भूखे मरने की सम्भावना दिखाई देती है और रोग-कीटाणु सहित बाहर जा कर वे जिन घरों अथवा स्थानों में काम करने जाते हैं तथा सार्वजनिक सड़कों आदि पर भी रोग-कीटाणुओं का खुला प्रसार करते रहते हैं।

प्रायः घरों के नौकर भी इन्हीं मुहल्लों में रहते हैं। मेहतर भी प्रायः इसी तरह की बस्तियों में रहते हैं और इन लोगों को प्रतिदिन मध्य एवं उच्चवर्ग के घरों में जाना ही होता है। फलस्वरूप रोग-कीटाणु फैलते ही रहते हैं। इस प्रकार प्रायः सब प्रकार के रोग-कीटाणुओं को फैला कर ये मुहल्ले नगर के जन-स्वास्थ्य के लिए अहितकर सिद्ध होते हैं। व्यक्ति का स्वास्थ्य केवल अपने घर और वातावरण की स्वच्छता रख कर ही अच्छा नहीं रह पाता है। उस पर तो नगर के अन्य भागों के अहितकर एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण का भी प्रभाव कुछ न कुछ पड़ता ही है। अतः इन मुहल्लों का सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार सुधार के लिए जनमत को इस पक्ष में करने की भी आवश्यकता होती ही है। यदि जनता का सहयोग नहीं होगा, लोग स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक

बातों को नहीं समझ पायेंगे तो इसमें पूरा-पूरा सन्देह ही रह जाता है कि सार्वजनिक रूप से देशवासियों का स्वास्थ्य अच्छा हो सकेगा।

प्रायः सब नगर-पालिकाओं का यह परम आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए कि वे यह देखें कि सब लोगों को साफ हवा और प्रकाशवान घर मिल सकें। सस्ते किराये के अच्छे घर नगर-पालिकाओं को स्वयं अपने कोष से अथवा सरकार से ऋण ले कर बनवाने चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे ही घरों में सब लोगों को रखा जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा करने के लिए धन कहाँ से आये, यह एक विकट प्रश्न है किन्तु इसका हल तो खोजना ही पड़ेगा क्योंकि राष्ट्र के स्वास्थ्य को किसी भी मूल्य पर बचाना ही होगा। नगरपालिकाएँ बड़ी-बड़ी मिलों, कारखानों आदि के पूँजीपति स्वामियों को भी अपने कर्मचारियों के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक सस्ते घर बनाने को बाध्य कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त इन मुहल्लों की भी नालियाँ आदि पक्की होनी चाहिए और उनकी सफाई प्रतिदिन आवश्यक रूप से होनी चाहिए तथा नगर-पालिकाओं के स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों को भी इन मुहल्लों की स्वच्छता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए तथा उसकी अधिक देखभाल करनी चाहिए।

इन मुहल्लों में प्रचार की दृष्टि से फिल्म आदि के द्वारा स्वास्थ्य के नियमों का प्रदर्शन करना चाहिए। समय-समय पर सुधारिका महिलाएँ भी इन मुहल्लों में जा कर स्त्रियों पुरुषों को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान कराएँ तथा उनका सहयोग प्राप्त करें। दरिद्रता द्वारा बहुत से दोष अपराध होते रहते हैं किन्तु कुछ भूलें त्रुटियाँ तो दरिद्रता के कारण नहीं होती हैं, वरन होती हैं अज्ञानवश। इसी श्रेणी की त्रुटियों को ज्ञान द्वारा सुधारा जा सकता है। स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान कराना तो अत्यन्त आवश्यक और राष्ट्र सरकार का कर्तव्य है ही, इन नियमों का उलंघन करने वाले व्यक्तियों को कठोर दण्ड भी मिलना चाहिए।

बाग, बगीचे, खेल के मैदान आदि—जीवन और स्वास्थ्य के लिए शुद्ध स्वच्छ वायु में श्वास लेने की अत्यधिक आवश्यकता होती है। शुद्ध वायु में श्वास लेने की सुविधा न होने से फेफड़े दुर्बल हो जाते हैं और क्षय आदि रोग

शीघ्र ही होने की सम्भावना हो जाती है। बड़े नगरों में कोठी, बँगले आदि तो केवल सम्पन्न धनी वर्ग के लोग ही रख सकते हैं। साधारणतया उच्च मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के व्यक्ति तो साधारण घरों में ही रहते हैं, जिनमें कहीं-कहीं तो प्रकाश और स्वच्छ वायु पाने की उतनी सुविधा ही नहीं होती है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि नगरों में जहाँ कि जनसंख्या बहुत अधिक है, स्वच्छ वायु प्राप्त करना दुर्लभ हो जाता है। अतः प्रत्येक नगर में कुछ सार्वजनिक पार्क, उपवन आदि भी होने चाहिये जहाँ कि जनता बिना किसी रोक के सन्ध्या समय जा कर बैठ सके। बच्चों के भी कुछ पार्क होने चाहिये ताकि उन लोगों के बच्चे जिन्हें कि घरों में खुला स्थान पाने की सुविधा नहीं है इन सार्वजनिक बाल उपवनों में आ कर खेल कूद सकें तथा सन्ध्या का कुछ समय खुली वायु में बिता सकें। नगर में स्थान-स्थान पर बाग बगीचे रहने से नगर की शोभा भी बढ़ती है और लोगों को विश्राम-स्थल भी मिलते हैं तथा शुद्ध वायु में श्वास लेने की सुविधा भी प्राप्त होती है। नगरों के तंग और भीड़दार घरों से कुछ देर बाहर रह कर लोग शान्ति की श्वास भी ले सकते हैं और प्रकृति का सामीप्य भी प्राप्त कर लेते हैं। अतः प्रत्येक नगर की नगर-पालिका को नगर में थोड़ी-थोड़ी सी दूर पर उपवन अवश्य लगाने चाहिए। इनमें कुछ छायादार और फल वाले वृक्ष लगा देना भी अच्छा ही होता है। फूल और इसी प्रकार के अन्य सुगन्ध और सौन्दर्य वाले पौधे होने से नेत्रों की सौन्दर्य-पिपासा की भी तृप्ति होती है।

बच्चों के खेलने के लिए पार्क, उपवन आदि तो होने ही चाहिए, कुछ बड़े बालकों और वयस्क व्यक्तियों के लिए भी सार्वजनिक रूप से खेलने की सुविधा होनी चाहिए। प्रत्येक पाठलाशा के साथ तो पर्याप्त बड़ा खेल का मैदान होना ही चाहिये और प्रत्येक छात्र एवं छात्रा के लिए व्यायाम करना अथवा खेलना अन्य विषयों की भाँति ही अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये किन्तु सबसे अच्छा तो यही हो कि छात्र छात्राओं में खेल के प्रति इतनी अधिक रुचि उत्पन्न हो जाए कि वे बिना खेले रह ही न सकें। इससे दो प्रकार के लाभ होते हैं। शरीर के लिए शुद्ध स्वच्छ वायु आवश्यक है किन्तु व्यायाम भी

तो उतना ही आवश्यक है और खेल के मैदान में जा कर सामूहिक खेल खेलने से दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है अतः अधिकाधिक संख्या में नगर में खेल के मैदानों का होना आवश्यक है।

वयस्क लोगों के लिए क्लब होने चाहिये। क्लबों में खेल, व्यायाम आदि का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि वयस्क लोगों को भी काम काज के पश्चात् मनोरंजन के साथ-साथ स्वच्छ वायु और व्यायाम की सुविधा भी मिल सके। इस प्रकार के क्लब मँहगे नहीं होने चाहिये और उनमें मेज पर बैठ कर खेलने वाले खेलों की अपेक्षा ऐसे खेल ही अधिक होने चाहिये, जिनके द्वारा व्यायाम हो सके।

यूँ तो प्रत्येक घर के सम्मुख कुछ मैदान अथवा रौंस अर्थात् खुली छत रहनी ही चाहिये, विशेषतया ऐसे स्थानों में जैसे कि उत्तर प्रदेश, जहाँ कि गर्मी होती ही है, खुली छत का होना अत्यन्त आवश्यक है। कोठी अथवा बँगले में नगर-पालिका की ओर से कुछ स्थान खुला छोड़ने का आदेश होना चाहिये। इसी प्रकार मकानों के मानचित्र स्वीकार करते समय भी नगर-पालिका के अधिकारियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि सब मकान ऐसे हों जिनमें कि उनमें रहने वाले व्यक्तियों को पर्याप्त धूप और स्वच्छ वायु प्राप्त हो सके।

साधारणतया निर्धन श्रेणी के तथा मजदूर वर्ग के लोगों के रहने के लिए नगरपालिका को विशेष प्रबन्ध करना चाहिए। अच्छे स्वास्थ्य के लिए स्वच्छ वायु, पौष्टिक भोजन, व्यायाम, नियमित जीवन इन सब की आवश्यकता है और जब तक कि जन-साधारण को इस प्रकार की सुविधा प्राप्त नहीं होगी तब तक जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा होने की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती है। अतः इन सब बातों की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करना तथा इन विषयों की शिक्षा देना आवश्यक है।

स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा—इसमें कोई सन्देह नहीं कि सृष्टि के आदि काल से ही अन्य प्राणियों की ही भाँति मानव भी जीवित रहता चला आ रहा है। सम्भवतः सभ्यता के युग से पूर्व मानव का जीवन सर्वथा प्राकृतिक था, उन्हीं नियमादि पर आधारित था जिन्हें कि नैसर्गिक संस्कार कह सकते हैं, जैसे

क्षुधा की अनुभूति होने पर ही खाना, नींद आने पर ही सोना, वर्षा आदि की तीव्रता में किसी गुफा अथवा पेड़ के नीचे पड़ रहना। हो सकता है कि उस अवस्था में स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न मानव के सम्मुख उतना विकट न रहा हो क्योंकि तब उसके लिए स्वास्थ्य कृत्रिम वस्तु न हो कर, बरबस लाने अथवा बनाए रखने की वस्तु न हो कर, रही होगी स्वाभाविक ही वस्तु, जैसे कि वन के पशु-पक्षियों के लिए होता है। पशु-पक्षियों का जीवन अभी तक बहुत कुछ प्राकृतिक एवं स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक संस्कारों पर ही आधारित है किन्तु मानव का जीवन सभ्यता के उदय और प्रसार के साथ-साथ बहुत कुछ कृत्रिम हो गया है। उसने अपने नैसर्गिक संस्कारों को भी बहुत कुछ अपने सभ्य जीवन के अनुरूप साँचे में ढाल लिया है। फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य भी सावधानी से देख भाल कर यत्नपूर्वक रखने की वस्तु हो गया है। भोजन उसने उसके प्राकृतिक रूप में ही न खा कर, पका कर खाने की वस्तु बना लिया है और कभी-कभी तो यह कृत्रिमता की झोंक में अपने स्वाद को भी इस प्रकार शिक्षित कर लेता है कि उसके आमाशय के लिए उसे पचाना भी कठिन हो जाता है। कचौड़ी, समोसा, मठरी तथा ऐसी तली हुई खाद्य वस्तुएँ जिन्हें कि हम बहुत दिनों तक रख कर खाते हैं, आमाशय के लिए सरलता से पचाना कठिन हो जाता है।

इसी प्रकार परिश्रम, कार्य, विश्राम, निद्रा आदि सब कुछ स्वाभाविक न रह कर कृत्रिम हो गए हैं। ऐसी अवस्था में मानव को अपने ज्ञान, बुद्धि और अध्ययन के द्वारा स्वास्थ्य को बनाये रखना आवश्यक हो गया है। अज्ञान-वश हम अपने स्वास्थ्य के नाश करने का कारण स्वयं भी तो बन जाते हैं। अतः इस युग में यह आवश्यक है कि समाज के सब व्यक्ति स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी नियमों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकें। जन-सहयोग के बिना तो कोई भी कार्य हो नहीं सकता है और जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए जन-मत की आवश्यकता होती है तथा जनमत के औचित्य के लिए जनता के लिए उस सम्बन्ध में उचित ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक ही होती है। अतः आधुनिक प्रवृत्ति जनता को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान कराने की ओर ही है। प्रायः

प्रत्येक राष्ट्रीय सरकार पाठशालाओं आदि में छात्र-छात्राओं को इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रयत्न कर रही है और यह उचित भी है। प्रचार-विभाग भी शिक्षित जनता को पुस्तकों, पत्रिकाओं में लेख आदि के द्वारा तथा अशिक्षित जनता को फिल्म आदि के द्वारा स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराने का निरन्तर प्रयत्न करता है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकें भी इधर अधिक मिलने लगी है। खाद्य सम्बन्धी गवेषणा, खोज आदि भी अधिक होने लगी है और जनता में उसके प्रति रुचि भी अधिक हो गई ।

स्त्रियों के लिए तो स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का ज्ञान होना और भी अधिक आवश्यक है क्योंकि स्त्री ही गृहस्वामिनी होती है और उसके ही प्रयत्नों से गृहस्थी के सब प्राणियों का स्वास्थ्य ठीक रह सकता है तथा वह मुहल्ले की स्वच्छता आदि में भी अपने सुस्वभाव और नियमित कार्य प्रणाली के द्वारा योग दान दे सकती है। अतः बालिकाओं को तो स्वास्थ्य रक्षा की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए।

भाग २

समाजशास्त्र और शिशु-पालन

अध्याय १

मनुष्य और समाज

मानव सामाजिक प्राणी है—कभी और किसी युग में भी मानव पूर्णतया एकाकी नहीं रह पाया है। उस युग में भी जब मानव प्रकृति का स्वामी न हो कर दास था, तब भी जब कि मानव प्रकृति के रहस्यों को भय, आशंका और घबराहट की दृष्टि से देखा करता था और तब भी जब कि उसने मन प्राण से युगों पूर्व सृष्टि के आदि काल में उस भय-प्रदायिनी, दूर पड़े रह कर उसे आशंकित करने वाली सृष्टि को जानना, समझना चाहा था; वह एकाकी नहीं था। उसके आस-पास और भी मानव थे और वे किसी न किसी रूप में उससे सम्बन्धित थे। भले ही उस युग में परिवार न रहे हों, विवाह की प्रथा न रही हो किन्तु स्त्री और पुरुष का परस्पर सम्बन्ध तब भी रहा ही होगा और सन्तानोत्पत्ति तब भी होती ही होगी। अतः यह नहीं कहा जा सकता है, कि किसी भी युग में कभी भी मानव पूर्णतया एकाकी था। मानव ही क्यों अनेकानेक पशु भी किसी न किसी रूप में सामाजिक जीवन व्यतीत करते ही हैं, तिस पर आज तो मानव बनजारों के से जीवन के पश्चात् कृषि-जीवन, ग्रामीण जीवन आदि को पार करके नागरिक जीवन तक पहुँच ही गया है। आज का मानव तो पूर्णतया अरस्तू के विचारानुसार समाजप्रिय और सामाजिक जीव है। उसका सामाजिक जीवन उसके लिए पूर्णतया प्राकृतिक और उसके अपने ही स्वभाव की अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार विभिन्न प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के ही आधार पर तो मानव-परिवार तथा अन्य सब प्रकार की छोटी बड़ी सामाजिक संस्थाएँ बनाता है और इन्हीं सब को लिए दिए सर्वाधिक सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण संस्था बनती है राष्ट्र, जो कि मानव के सब प्रकार के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का संचालन करती है। न केवल यही कि मानव सामाजिक प्राणी है और वह समाज में अपना स्थान रखता है, वरन्

वह बहुत कुछ समाज से प्राप्त भी करता है। वस्तुतः हम जो कुछ भी हैं, उसका अधिकांश समाज का ही दान है, अथवा हमने अपने व्यक्तित्व का प्रायः तीन चौथाई उस समाज से ही लिया होता है, जो कि हमारे लिए वातावरण प्रस्तुत करता है। अतः व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज की ही देन होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज में, समाज द्वारा संचालित हो कर और समाज से ही समीकरण स्थापित कर पाने योग्य बन सकने के लिए होता है। यद्यपि यह सत्य है कि सदा सर्वदा सब मानवों के व्यक्तित्व का पूर्णतया समीकरण समाज से नहीं हो पाता है अन्यथा समाज में विरोध, विद्रोह आदि कहीं दिखाई ही न देता फिर भी वातावरण का जो कि सामाजिक अथवा पारिवारिक ही होता है, व्यक्ति के व्यक्तितत्व के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है। जन्म से ही व्यक्ति का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अपने परिवार से होता है। यूँ तो कुछ बड़े हो कर व्यक्ति समाज के विभिन्न क्षेत्र में भी वातावरण प्राप्त करता है किन्तु आरम्भ में तो उसे केवल परिवार में ही वातावरण मिलता है। अतः हम परिवार की ही चर्चा सर्वप्रथम करेंगे। पारिवारिक जीवन ही उसके लिए सामाजिक जीवन का प्रथम स्तर होता है और परिवार का सदस्य हो कर ही मानव-समाज में रहना, समाज प्रिय हो पाना आदि सीखता है।

मानव की प्राकृतिक आवश्यकताएँ—मानव के नैसर्गिक संस्कारों की चर्चा करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है फिर भी यह तो नितान्त सत्य है कि मानव की प्राकृतिक आवश्यकताएँ तीन होती हैं। मानव के अस्तित्व का बहुत कुछ आधार उसका शरीर होता है। शरीर को सुरक्षा की आवश्यकता होती है। उसे प्रकृति और अन्य मानवों तथा हिंसक पशुओं से शरीर की रक्षा तो करनी ही होती है, शरीर को जीवित रखने के लिए भोजन-वस्त्रादि भी जुटाना पड़ता है और फिर उसकी वासनात्मक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने की भी आवश्यकता होती ही है। अतः निजी सुरक्षा, भोजन-वस्त्र और घर अर्थात् शरीर को बनाए रखने का उपाय और काम वृत्तियों को सन्तुष्ट करना, यही मानव की तीन आधारभूत प्राकृतिक आवश्यकताएँ होती हैं। यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाए तो इन तीन प्राकृतिक एवं मूलभूत आवश्यकताओं

के आधार पर ही अन्य आवश्यकताओं की नींव पड़ती है। मनुष्य को अपनी रक्षा करने के ही लिए तो हिंसक पशुओं को मारने अथवा उनसे अपने आपको हानि न पहुँचने देने के लिए ही तो हथियारों की आवश्यकता पड़ी थी और उसने हथियारों से हिंसक पशुओं को मारने की कला सीख कर अपनी रक्षा की। इसी प्रकार सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के कष्ट से शरीर को बचाने के लिए ही उसे घर मकान की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उसने उस आवश्यकता की पूर्ति की सर्वप्रथम गुफाओं में वासस्थान खोज कर और तब से आज तक अनेकानेक आविष्कारों, वैज्ञानिक अनुसन्धान की सहायता से बड़े-बड़े और हर प्रकार से सुरक्षित मकान बना कर। केवल शरीर को बाह्य आक्रमणों से बचा कर ही तो जीवित रहा नहीं जा सकता है। अतः उसने क्षुधानिवृत्ति के लिए पहले जड़, मूल, वनस्पति आदि पर निर्भर रहना आरम्भ किया होगा। तत्पश्चात् अन्य पशुओं को मार कर खाना प्रारम्भ किया। इस कार्य के लिए भी उसे अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती ही होगी। एक एकाकी व्यक्ति तो आखेट भी भली प्रकार नहीं कर पायेगा। इसीलिए तो अधिकांश पशु तक समूह में ही रहते हैं। मानव भी समूह में ही घूमते-फिरते रहते होंगे। पुरुष आखेट करते थे और स्त्रियाँ वनस्पति, पत्ते, बीज आदि एकत्रित करती थीं किन्तु यह आदि काल से कुछ देर पश्चात् की बात है क्योंकि तब तक सन्तान उत्पन्न करने के पश्चात् अथवा नन्हें बच्चे की सुरक्षा के लिए माता का आखेट से परे ही रहना आवश्यक हो गया होगा और पुरुष ने उस अवस्था में स्त्री के लिए भोजन जुटाने का भार स्वयं ले लिया होगा। धीरे-धीरे सम्भवतः स्त्रियों ने ही कृषि का आविष्कार किया। अब तो इन लोगों का एक स्थान पर रहना आवश्यक हो गया। कृषि कार्य एक ही व्यक्ति एकाकी नहीं कर सकता है क्यों कि उसका रूप पशु मार कर उसी समय अथवा उसी दिन खा जाना तो था नहीं। उसमें तो अनेकों दिन परिश्रम करके उसके फल की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी और फल भी बहुत दिन तक रख कर उपयोग करने की वस्तु हो गई थी। अतः बिना कुछ लोगों के सहयोग के कृषि करना सम्भव न था। अब यह आवश्यक हो गया

कि परिवार हो ही अर्थात् कुछ लोग एकत्रित रहें। नन्हा बालक स्वयं अपने लिए भोजन एकत्रित नहीं कर पाता है। अतः उसके लिए जब तक कि वह असमर्थ है अन्य लोगों को ही भोजन एकत्रित करना होता है। यही बात वस्त्र और घर की भी है। काम-वासना की तृप्ति भी एकाकी व्यक्ति नहीं कर सकता है। अतः सुरक्षा, भोजन-वस्त्र और घर सम्बन्धी सुविधा तथा काम-तृप्ति ये सब कुछ परिवार में होना सम्भव है। इसका यह अर्थ हुआ कि मानव की मूलभूत आवश्यकताएँ सरलतापूर्वक परिवार में ही पूरी हो सकती हैं। प्राकृतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ एक सांस्कृतिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ भी तो होती हैं जैसे कि दुःख, विपत्ति में सहानुभूति, आश्वासन, आश्रय सम्बन्धी आवश्यकता, सदा-सर्वदा स्नेह पाने की अभिलाषा, दूसरों से सहायता पाने की इच्छा आदि आदि। इन सब की पूर्ति भी तो परिवार में ही रह कर हो सकती है। यदि किसी व्यक्ति की ये सब आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं तो वह सुखी एवं सन्तुष्ट होता है किन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति के मार्ग में आने वाली बाधाएँ उसे असन्तुष्ट एवं दुःखी बना देती हैं जिसके फलस्वरूप कभी-कभी व्यक्ति विरोध एवं विद्रोह भी करने लगता है।

सामाजिक व्यवहार और बालक—प्रायः दो प्रकार के परिवार देखे जाते हैं। एक तो वे परिवार जिनमें स्नेह की अथवा अपने कर्तव्य-पालन की अथवा बड़प्पन की सत्ता भावना की अधिकता से परिवार के बड़े लोग बालकों के हर कार्य में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप करते हैं। उनके खड़े होने, बैठने, खेलने आदि हर छोटे बड़े कार्य पर उनकी न केवल दृष्टि ही रहती है वरन् वे उसका अपनी इच्छा से तनिक भी इधर-उधर होना सह नहीं पाते हैं। दूसरे प्रकार के वे परिवार होते हैं जो कि इससे ठीक उलटे होते हैं अर्थात् दूसरे ही छोर पर रहते हैं। उनका बालकों के खेल-कूद, काम काज से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। बालकों को तनिक सा भी स्वाधीनता न दे कर पूरे समय उनके पीछे पड़ा रहना, हर समय आवश्यक, अनावश्यक प्रत्येक बात में टोका-टोकी ही करते रहना जितना अनुचित है उतना ही अनुचित है उनके समस्त कार्य-व्यवहार आदि के प्रति सर्वथा

उदासीन रहना। मानव-व्यवहार के तीन प्रमुख प्रकार एवं अंग होते हैं। यूँ तो हमारे नैसर्गिक संस्कार ही हमें कुछ एक कार्य करना सिखाते हैं। इन नैसर्गिक संस्कारों के आधार पर होने वाले कार्यों की दो श्रेणियाँ होती हैं। कुछ कार्य तो ऐसे होते हैं जिन्हें सीखने की कोई आवश्यकता नहीं होती है जैसे भूख लगने पर कुछ खाना, कष्ट होने पर रोना आदि आदि। इन्हीं कार्यों में से कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें सीखना भी पड़ता है यद्यपि उनका मूलाधार नैसर्गिक संस्कार होते हैं जैसे क्षुधा-शान्ति के लिए भोजन तैयार करके समय पर भोजन करना आदि। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनका मूलाधार भले ही नैसर्गिक संस्कार हों किन्तु उन्हें सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ ऐसा रूप दे दिया जाता है कि यह समझना भी कठिन हो जाता है कि वे सर्वथा प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक संस्कारों के आधार पर ही स्थित हैं। इस प्रकार के कार्यों में प्रणाम करने, बड़ों का आदर करने आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। कुछ कार्य विचार करके करने होते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं जिनकी हमें आदत हो जाती है और फिर वे कार्य स्वाभाविक रूप से होने लगते हैं। कुछ कार्य सोद्देश्य होते हैं किन्तु कुछ केवल मात्र सामाजिक ही होते हैं।

वस्तुतः बालक को व्यवहार के सामाजिक अंगों को सीखना पड़ता है। नैसर्गिक संस्कार के आधार पर होने वाले कार्य यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक एवं प्राकृतिक होते हैं। उन्हें उसे किसी से सीखना नहीं पड़ता है किन्तु उनके आधार पर खड़े होने वाले व्यवहारों का एक सामाजिक रूप भी होता है जो कि उसे समाज में रह कर चरितार्थ करना होता है और इसी को सामाजिक व्यवहार कहा जा सकता है। सामाजिक व्यवहार की शिक्षा उसे लेनी ही होती है। उदाहरणार्थ—मानव को भूख लगती है। सब प्राणियों को भूख लगती है। पशुओं को भी भूख लगती है। भूख लगना प्राकृतिक है, नैसर्गिक है और भूख लगने पर खाना भी प्राकृतिक है। प्रत्येक मानव को जैसे ही भूख लगती है वह बिना सिखाए हुए भी मुख में कुछ खाने योग्य वस्तु डाल लेना चाहता है किन्तु ऐसा तो वह बिना किसी प्रकार के शिक्षण के भी कर ही लेता है। तब फिर उसे शिक्षण की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है? वस्तुतः समाज में भूख लगते ही किसी

भी सम्मुख रखी वस्तु को उठा कर मुख में डाल लेने से काम नहीं चलता है वरन् एक निश्चित समय पर निश्चित स्थान पर बैठ कर सब लोगों के साथ भोजन करना ही उचित जँचता है और यह तथा इसी प्रकार के अन्य भोजन सम्बन्धी नियम समाज के प्रशिक्षण का ही तो फल हैं। बालक इन नियमादि का ज्ञान सर्वप्रथम अपने परिवार में रह कर ही प्राप्त करता है। माता पिता तथा अन्य गुरुजन उसे बतातें हैं कि क्या करना उचित है और क्या अनुचित। इसके अतिरिक्त बालक बहुत कुछ अन्य व्यक्ति को करते देख कर उनका अनुसरण करके भी तो सीखता है। अतः बालक को सामाजिक व्यवहार की शिक्षा सर्व प्रथम अपने परिवार में ही मिलती है और उसके लिए सामाजिक व्यवहार में दक्ष होना आवश्यक इसलिए हो जाता है कि उसे समाज में ही रहना और व्यवहार करना होता है। मानव के सामाजिक व्यवहार को सीख पाने का मुख्य आधार उसकी सीख पाने की शक्ति ही है। बालक जन्म से ही इस प्रकार की शक्ति ले कर उत्पन्न होता है। जाने अथवा अनजाने अपनी इस शक्ति का उपयोग करके ही वह अपने वातावरण से बहुत कुछ सीखता रहता है। वातावरण उन सब तत्त्वों से मिल कर बनता है जिन्हें कि बालक के पूर्वजों ने, उसकी जाति, देश अथवा समाज के लिए युगों तक परिश्रम करके अर्जित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बालक न केवल इस अर्जित सम्पत्ति को जैसे के तैसा ग्रहण ही कर लेता है वरन् वह उसमें समय समय पर स्वयं भी संशोधन करता है। ऐसा कर पाने के लिए वह विभिन्न प्रकार के काल्पनिक अथवा यथार्थ "आदर्श व्यक्तित्वों" का अनुसरण करने के भी प्रयत्न करता है। इतना तो निश्चित ही है कि बालक को एक समाज में रहना और बड़े हो कर उसी समाज का अंग बनना होता है। अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस समाज में प्रचलित समस्त नियम, व्यवहार आदि का पूरा-पूरा ज्ञान भी प्राप्त करे और उनमें दक्ष भी हो जाए तथा वे सब उसके लिए स्वाभाविक हो सकें। ऐसा कर पाने के लिए अर्थात् अपनी जातीय सामाजिक सांस्कृतिक सम्पत्ति को ग्रहण कर पाने के लिए बालक को परिवार में ही रह कर शिक्षा प्राप्त करनी होती है। यह शिक्षा शाब्दिक भी होती है और अनुसरण के द्वारा भी अर्थात् इस प्रकार

की शिक्षा बालक गुरुजनों से सुन कर अथवा उनके आदेशों का पालन करते हुए भी प्राप्त करता है और उन्हें व्यवहार करते हुए देख कर भी प्राप्त करता है। बालक को व्यक्ति बनने के लिए, समाज में रहने के योग्य होने के लिए इस प्रकार की शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता होती है। अतः बालक के जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का विकास करने में परिवार अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

परिवार और बालक—यही नहीं बालक के जीवन में परिवार का अत्यधिक महत्त्व होता है। बालक परिवार से न केवल अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति ही ग्रहण करता है अर्थात् सामाजिक व्यवहार आदि ही सीखता है वरन् इसके अतिरिक्त परिवार उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास होने देने में भी सहायक सिद्ध होता है। बालक को स्वाभाविक स्नेह, ममता, सहानुभूति आदि सामाजिक व्यवहार के आधारभूत गुणों का परिचय भी परिवार में ही रह कर मिलता है। अतः बालक के स्वाभाविक विकास के लिए उसका परिवार में रहना अत्यन्त आवश्यक है। परिवार मानव की सब आधारभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। परिवार में रह कर बालक को प्रारम्भ से ही शरीर रक्षा, आत्म-विकास आदि के समुचित साधन मिलते हैं। इस प्रकार परिवार किसी भी व्यक्ति के जीवन-निर्माण का प्रथम पग होता है। परिवार का सर्वाधिक पुनीत एवं आवश्यक कर्तव्य है व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास कर पाने की दिशा में सहयोग देना और यही परिवार का महत्त्व भी है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि परिवार के बिना कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर ही नहीं सकता है फिर भी साधारणतया स्वाभाविक रूप से यही देखा जाता है कि समाज में इस दिशा में कार्य करने वाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था परिवार ही है और व्यक्ति के सामाजिक जीवन-निर्माण में परिवार का महत्त्व भी अधिक है। प्रायः विश्व के सब देशों और जातियों के समाजों की परिवार प्रमुख संस्था है। इस संस्था का विस्तार कहीं कहीं तो पति-पत्नी तक ही सीमित होता है और कहीं-कहीं दूर पास सब कहीं के सम्बन्धी व्यक्तियों तक हो जाता है।

मानव परिवार के आधार—न केवल मानव वरन् कुछ पशुओं तथा

पक्षियों में भी घर बनाने की इच्छा पाई जाती है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि प्राणियों का व्यवहार दो प्रकार का होता है। एक प्रकार के व्यवहार का आधार पूर्णतया नैसर्गिक संस्कार ही होते हैं। इस प्रकार के व्यवहार का निश्चित ध्येय होता है और वह ध्येय प्राणी शास्त्र के प्राकृतिक नियमों द्वारा निश्चित होता है तथा उनका व्यवहार प्रतिमान जन्मगत ही होता है। दूसरे प्रकार का व्यवहार नैसर्गिक संस्कारों के ही आधार पर नहीं होता है। यह जन्मगत नहीं होता है और इसे सीखना ही पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार के व्यवहार का बहुत थोड़ा सा ही अंश बौद्धिक होता है फिर भी बुद्धिजन्य अथवा विचार प्रधान कर्म नैसर्गिक संस्कार जन्य कर्म से ठीक उलटा होता है और कभी-कभी तो विचार-प्रधान अथवा बौद्धिक कर्म नैसर्गिक संस्कार जन्य कर्मों को दबा भी देते हैं। बरसात में मेंढकों का टर्राना नैसर्गिक संस्कार जन्य कर्म है किन्तु मनुष्य का गाना विचार-प्रधान कर्म है। उसे सीखने की भी आवश्यकता होती है। प्रायः सब पशुओं तथा पक्षियों के परिवार को नैसर्गिक संस्कार जन्य ही कहा जा सकता है किन्तु मानव के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। यद्यपि बन्दरों की कुछ विशेष जातियों में व्यवहार के कुछ अंश ऐसे भी होते हैं जिन्हें कि किसी एक सीमा तक सीखा हुआ कहा जा सकता है फिर भी उनके परिवारों को विचारधारा पर स्थापित परिवार नहीं कहा जा सकता है। विचार-प्रधान आधार ले कर तो केवल मानव-परिवार की ही स्थापना हुई जान पड़ती है।

मानव प्रायः सब ही प्रकार के जलवायु में रहता है और जलवायु भले ही किसी भी प्रकार का हो उसे जैसे के तैसा स्वीकार नहीं कर लेता है वरन् उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार बना लेता है अथवा अपनी सुविधाएँ इस प्रकार की कर लेता है कि उसे उस जलवायु से किसी प्रकार का कष्ट न हो। घर बनाने के लिए भी तो वह विभिन्न प्रकार के पदार्थों वा वस्तुओं का प्रयोग करता है और फूस की झोपड़ी से ले कर बढ़िया अलम्यूनियम और इससे भी बढ़ कर वैज्ञानिक ढंग से अधिक उन्नत प्रकार के घर बनाता है। उसका सामाजिक जीवन भी बहुत ही जटिल होता है। उसमें काम एवं वासना के

अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य भी बहुत से अंग होते ही हैं। वस्तुतः कीड़े-मकोड़े पूर्णतया नैसर्गिक संस्कारों के आधार पर काम करने वाले होते हैं जब कि मानव पूर्णतया विचारजन्य कर्म करने वाले होते हैं। अन्य प्राणियों को इन दो छोरों के बीच में कहीं न कहीं रखा जा सकता है।

मानव-परिवार की जटिलता का रहस्य उसकी समस्याओं की विविधता है जिनका कि हल वह अपनी बुद्धि द्वारा निकालता रहता है।

पारिवारिक विकास एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्त—वस्तुतः परिवारों को दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। जिन परिवारों अथवा समाजों का आधार परम्परागत कर्म आदि होते हैं उन्हें 'प्राचीन' कहा जा सकता है और जिनका आधार बुद्धिजन्य कर्म होते हैं उन्हें 'उदार' कहा जा सकता है।

मानव इतिहास में वस्तुतः मानव निरन्तर ही परम्परागत कर्मों के आधार से उदार एवं बुद्धिजन्य कर्मों की ओर बढ़ता रहा है। सम्भव है कि प्रारम्भ में कुछ व्यवहार अचानक ही मानव द्वारा किये गए हों और फिर वह साधारण तर्करहित स्वभाव की भाँति ही स्वीकार कर लिए गए हों। धीरे-धीरे वे ही व्यवहार मानव के लिए परम्परागत सिद्धान्त बन गए होंगे। यद्यपि परिवार के उद्‌गम के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं फिर भी कुछ विद्वानों का विचार है कि परिवार का उद्‌गम काम-वासनाओं के ही आधार पर हुआ होगा। बहुत सम्भव है कि परिवार के उद्‌गम का आधार कुछ और भी रहा हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि परिवार के दो मुख्याधार हैं, यौनाकर्षण तथा सन्तानोत्पत्ति और वात्सल्य। इसी आधार पर कुछ एक पक्षियों में तथा पशुओं में जोड़े भी बनते हैं। नर और मादा दोनों मिल कर घोंसला बनाते हैं, बच्चों को खिलाते हैं और उड़ना आदि सिखाते हैं। इसी प्रकार पशु अपने बच्चों को मिल कर शिकार करना सिखाते हैं। गोरिल्ला, शिंपाञ्जी आदि पशुओं में भी किसी सीमा तक पारिवारिक संगठन एवं एकता के चिह्न दिखाई देते हैं।

कुछ समय पूर्व तक तो नृशास्त्री एवं समाजशास्त्री निश्चित रूप से ही यह मानने लगे थे कि परिवार का उद्‌गम काम-प्रवृत्ति के ही आधार पर हुआ है तथा परिवार के जन्म से पूर्व स्त्री और पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों पर

प्रायः किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं था। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि परिवार की उत्पत्ति से पूर्व स्त्री और पुरुष तथा उनका शारीरिक सम्बन्ध बन्धन-रहित एवं सामूहिक सा ही था। यदि चाहें तो उस दशा को सामूहिक वैवाहिक सम्बन्ध की दशा कह सकते हैं। इस अवस्था से मानव किस प्रकार परिवारों की स्थापना की दिशा में पग बढ़ा सका यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका उत्तर भी कुछ बहुत सरल नहीं है। कुछ एक विद्वान जिनमें कि बैखोफन प्रधान हैं, यह मानते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों की काम लिप्सा का शिकार होते-होते इतनी थक गई कि उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। फलस्वरूप परिवार की स्थापना हुई। मैकलीनान इनसे सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार पुरुष की अधिकार-लिप्सा और सत्ता की भावना ने उसे अन्य सम्पत्ति की भाँति ही स्त्री को भी केवल अपना ही बना कर रखने के लिए प्रेरित किया। हो सकता है कि प्रारम्भ में उसे ऐसा करने में कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा हो और इसी कारण उसने दूसरी जातियों की स्त्रियों को उड़ा ला कर दासी रूप में अपने अधिकार में रखना प्रारम्भ किया हो।

यदि यह निश्चित रूप से मान ही लिया जाए कि परिवार की उत्पत्ति से पूर्व स्त्री और पुरुष के परस्पर सम्बन्धों की स्वच्छन्दावस्था थी तो सम्भवतः यह भी मानना ही होगा कि उस अवस्था में सन्तान पर माता का अधिकार एवं प्रभुत्व होता होगा क्योंकि सन्तान का परिचय केवल माता से ही होना सम्भव था। सम्भवतः स्त्री और पुरुष के एकत्रित रहना आरम्भ करने के पश्चात् भी कुछ काल तक वंशानुक्रम मातृवंशानुक्रम के ही रूप में होता रहा होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन जातियों आदि में से कुछ में हमें मातृ-सत्ता के ज्वलन्त उदाहरण मिलते हैं किन्तु केवल इन्हीं कुछ एक उदाहरणों के आधार पर यह मान लेना तो भूल ही होगी कि मातृ-सत्ता का उदय परिवार की उत्पत्ति के साथ ही साथ हुआ क्योंकि इस प्रकार के उदाहरण तो पितृ-सत्ता के भी प्रागैतिहासिक काल के मिलते ही हैं और फिर इसलिए भी तो मातृ-सत्ता को ही माना नहीं जा सकता है कि पिता का नाम माता के लिए

भी अज्ञात ही था क्योंकि हमारे सम्मुख कुछ उदाहरण ऐसे समाजों के भी तो हैं जिनमें कि पिता के नाम का पूर्ण निश्चय होते हुए भी मातृ-सत्ता का ही प्राधान्य रहता था और आज तक भी है। इस युग में भी मालाबार और त्रावनकोर की कुछ जातियों में इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। यही नहीं, विश्व की अधिकांश जातियों एवं देशों में वंशानुक्रम पितृसत्तात्मक होते हुए भी कहीं-कहीं मातृसत्तात्मक परिवार भी दिखाई दे ही जाते हैं।

वेस्टरमार्क के मतानुसार परिवार की उत्पत्ति पुरुष की ईर्ष्या भावना तथा सत्तात्मक प्रवृत्ति का ही फल है। बृफौल्ट ने इस मत की कड़ी आलोचना की है। वह मातृ-सत्ता के ही समर्थक हैं। वह यह भी मानते हैं कि माता की अपनी तथा बालक की सुरक्षा एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी माँगों ने ही परिवार को जन्म दिया। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाए तो यह भी निश्चित-सा ही हो जायेगा कि कृषि के आविष्कार से पूर्व तक मातृ-सत्तात्मक ही परिवार थे और कृषि के आविष्कार के पश्चात् ही पितृ-सत्तात्मक परिवारों की स्थापना हुई। उचित तो यह ही है कि वेस्टरमार्क तथा बृफौल्ट दोनों के ही तर्कों के भीतर के कुछ न कुछ सत्य को मान ही लिया जाए किन्तु उनमें से किसी भी एक ही विचारधारा को सर्वथा सत्य एवं अकाट्य नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः परिवार का उद्गम न तो किसी एक निश्चित स्थान पर ही हुआ था और न किसी निश्चित काल में और न किसी एक जाति में ही। अतः यह मानना भूल ही होगी कि मानव-जीवन में किसी भी युग में कभी भी किसी न किसी रूप में परिवार का पूर्णतया ही अभाव रहा था और फिर कभी अचानक ही व्यवस्था परिवर्तित हो गई और परिवार की स्थापना हो गई। अतः उचित तो यह है कि मेक आइवर और पेज की ही भाँति यह मान लिया जाए कि मनुष्य की विभिन्न प्रकार की चेतन माँगों, इच्छाओं, आवश्यकताओं आदि की पूर्ति करने की प्रबल आकांक्षा ने ही विभिन्न प्रकार के वातावरण में विभिन्न ढंग और प्रकार से अभिव्यक्ति पाई और इन सब आवश्यकताओं आदि की पूर्ति सम्बन्धी अभिव्यक्तियों ने परिवार को जन्म दिया। इन में मानव की

काम-प्रवृत्ति, पुरुष की अधिकार-लिप्सा और नारी की अपनी तथा बालक की सुरक्षा सम्बन्धी चिन्ता भी सम्मिलित किए जा सकते हैं।

परिवार का विकास—परिवार की स्थापना के आधार भले ही कुछ भी हों किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्राकृतिक सम्बन्धों को सुरक्षित, संयमित एवं निश्चित रख पाने की भावना तो रही ही होगी और इस प्रकार की भावना का सम्बन्ध प्रतियोगिता आदि से न हो कर, रहा होगा स्थायी स्नेह की उत्पत्ति करने से। परस्पर इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् दोनों की हित-भावनाओं का स्थायी रूप से एक हो जाना स्वाभाविक ही है और ऐसी दशा में परस्पर एक दूसरे के प्रशंसक बन जाने की सम्भावना भी अधिक रहती ही है। परिवार व्यक्ति की परस्पर प्रशंसात्मक तथा स्नेह, सहयोग, सहानुभूति आदि की भावनाओं को अभिव्यक्ति दे पाता है अतः उसकी आवश्यकता न केवल मानव की तीन आधारभूत आवश्यकताओं अर्थात् सुरक्षा, भोजन और काम-प्रवृत्तियों की तृप्ति के ही लिए होती है वरन् वह मानव को मानसिक सन्तोष भी दे पाता है। वंश-गौरव, सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार, वृद्धावस्था, रोगावस्था एवं असहायावस्था सम्बन्धी कठिनाइयों, तज्जन्य-समस्याओं आदि का भी बहुत कुछ हल परिवार के ही रूप में पाया जाता है। यद्यपि आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की जटिलता परिवार की उत्पत्ति के साथ ही साथ कुछ बढ़ भी गई है किन्तु साथ ही साथ इनका बहुत कुछ हल भी परिवार के ही द्वारा हो पाता है।

परिवार का ढाँचा—परिवारों के विभिन्न प्रकार के ढाँचे होते हैं। कुछ परिवारों की सीमाएँ पुरुष, स्त्री और सन्तान तक ही रहती है किन्तु कुछ देशों और जातियों में परिवार की सीमाएँ कई भाइयों के सम्मिलित परिवारों को मिला कर ही बनती हैं। सीमाएँ कुछ भी हों परिवार प्रारम्भ में बालक के लिए वही स्थान रखता है जो कि समुदाय व्यक्ति के लिए रखता है। परिवार का यह महत्त्व बालक के लिए सदा-सर्वदा नहीं रहता है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसके लिए परिवार का बन्धन ठीक-ठीक वैसा ही नहीं रह जाता है जैसा कि उस समय था जब कि वह नन्हा सा बालक ही था। परिवार

तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि परिवार की नींव सत्ता अथवा अधिकार की अपेक्षा स्नेह और आत्मीयता पर कहीं अधिक होती है। परिवार के सब सदस्यों को एक ऐसा रक्त-सम्बन्ध का बन्धन बाँधे रखता है जिससे मुक्ति प्राप्त करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। यूँ परिवार के बन्धनों को न मानना तो कठिन नहीं है किन्तु सदस्यों में परस्पर स्नेह, सहानुभूति आदि का अभाव हो जाने पर भी उनमें आपस में होने वाले रक्त सम्बन्ध की स्वीकृति बनी ही रहती है और उससे किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हुआ जा सकता है। व्यक्ति परिवार के लिए और परिवार व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक होता है। रक्त सम्बन्ध होने के कारण ही परिवार की व्यवस्था सरलता से स्वाभाविक रूप में बनाए रखी जा सकती है। यह सब होते हुए भी परिवार में श्रम विभाजन भी होता है और उत्तरदायित्व का बँटवारा भी होता ही है। यहाँ तक कि कभी-कभी अधिकार सत्तादि का प्रदर्शन भी होता है और उनका पालन करना तथा करवाना भी चलता ही रहता है। प्रभुत्व और आज्ञाकारिता दोनों ही परिवार में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

परिवार है तो एक सामाजिक संस्था ही किन्तु इसका आधार अवश्य प्राकृतिक अथवा परस्पर रक्त-सम्बन्ध है। परिवार संस्था का कामकाज तो जनमत आदि के द्वारा अनुशासित होता है किन्तु उसके मूल में परस्पर स्नेह और सहानुभूति रहती ही है।

परिभाषा—परिवार एक संस्था है, एक समूह है किन्तु इस समूह की परिभाषा उतनी सरलता से नहीं दी जा सकती है जितनी सरलता से हम इसका सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं। परिवार एक ऐसा समूह है जिसमें समस्त वे व्यक्ति परस्पर गुँथे मिले एक सी समस्याओं, हित-भावनाओं आदि को ले कर रहते हैं, जिनका कि परस्पर रक्त-सम्बन्ध होता है। मैक आइवर और पेज के मतानुसार परिवार एक ऐसा समूह है जिसका आधार संयमित, सीमित और समाज के नियमों द्वारा नियन्त्रित यौन सम्बन्ध तो है ही, इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि परिवार द्वारा ही बच्चों का जन्म और लालन-पालन होना सम्भव होता है। परिवार में केवल पति और पत्नी ही नहीं होते हैं। विशेषतया भारतीय परिवारों

हैं। परिवार ही व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है और परिवार में रह कर ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास, प्रसार एवं अभिव्यक्ति कर पाता है। बालक परिवार से न केवल रंग-रूप, शरीर की रूप-रेखा, स्वास्थ्य आदि ही प्राप्त करता है वरन बहुत सी भावनाएँ, सामाजिक संस्कार और भावात्मक प्रवृत्तियाँ भी लेता ही है। माता-पिता, दादा-दादी आदि के कुछ रोग तो बालक ले ही लेता है उनकी भाषा, शैली, बौद्धिक विकास और गुण-गरिमा आदि भी किसी एक सीमा तक बालक को मिलती ही है।

परिवार सीमित तो होता ही है किन्तु उसकी सदस्यता सदस्यों की इच्छा पर ही निर्भर नहीं होती है और न ही उसे सरलता से तोड़ा एवं जोड़ा ही जा सकता है। इसी कारण इसकी सदस्यता बहुत अधिक नहीं हो सकती है। भारत-वर्ष में यद्यपि आधुनिक युग में सम्मिलित परिवार-प्रथा की नींव हिलती जा रही है किन्तु जब सम्मिलित परिवार-प्रथा का बहुत जोर से प्रचलन था तब भी अन्य संस्थाओं की भाँति इसकी सदस्यता बहुत अधिक नहीं हो पाती थी। आनुवंशिक सम्बन्ध तो बहुत दूर तक लगाए नहीं जा सकते हैं। अतः बिरादरी को परिवार की सीमाओं के बाहर ही रखना पड़ता है और वह होती भी परिवार से कुछ हट कर ही है। सदस्यता कम तथा सीमित होने के कारण परिवार का अपने सदस्यों पर बहुत गहरा प्रभाव और अधिकार होता है। यही नहीं, परिवार समूह के सब सदस्यों के अन्तःसम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ होते हैं।

सुदूर अतीत में जब कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने नगरों आदि की स्थापना नहीं की थी समुदाय परिवारों का समूह मात्र ही हुआ करता था किन्तु औद्योगिक उन्नति, नगरों तथा कल-कारखानों आदि की स्थापना ने पारिवारिक एकता की नींव पर समाज के निर्माण की स्थापना कुछ न्यून कर दी है। फिर भी आज भी समाज का केन्द्र-बिन्दु परिवार को ही मानना पड़ता है। कुछ कार्यों में तो कुछ परिवारों अथवा बिरादरियों का ही अधिक महत्त्व रहता है जैसे कि व्यवसाय में मारवाड़ियों का महत्त्व।

परिवार के सब सदस्यों का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व अपने परिवार के ही प्रति होता है यद्यपि उन्हें अन्य उत्तरदायित्व

भी निबाहने ही पड़ते हैं जैसे कि समाज की परिवार के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के प्रति उत्तरदायित्व। यूँ तो किसी भी व्यक्ति को समय पड़ने पर अपने देश, जाति राष्ट्र आदि के लिए भी आत्म-त्याग और बलिदान करना ही पड़ता है किन्तु परिवार के लिए तो उसे क्षण-क्षण पर इस प्रकार का त्याग और बलिदान करना ही होता है। यही नहीं, उसे परिवार के हित के लिए अपनी निजी सुख-सुविधाओं का भी बलिदान करना पड़ता है। परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपने स्वार्थ की अपेक्षा अपने से छोटों एवं आश्रितों के हित, उनकी आवश्यकताओं और स्वार्थों के प्रति ही अधिक दृष्टि रखनी पड़ती है। इस बलिदान का कुछ अधिक महत्त्व नहीं माना जाता है क्योंकि इसकी आधार-शिला नैतिक निर्णयात्मक बुद्धि न हो कर, होती है ममता, उसके मोह की सन्तुष्टि। यही ममता स्त्री और पुरुष से सन्तान के हेतु अकल्पित निजी सुखों का बलिदान करवा लेती है।

परिवार की यूँ तो सर्वाधिक सशक्त आधार-शिला ममता ही है किन्तु इसके अतिरिक्त भी प्रायः समाज कानून द्वारा प्रथाओं रूपी आधार-शिला को भी सशक्त बनाते जाते हैं। यद्यपि स्त्री-पुरुष के लिए विवाह एक-बारगी निजी समस्या है फिर भी यह परिवार की नींव है और इसी के आधार पर राष्ट्र एवं समाज की एक सशक्त संस्था परिवार की नींव डाली जाती है। अतः इसे रीति नीति, विधि विधान द्वारा पूर्णतया सामाजिक बन्धन में बाँध दिया जाता है तथा स्त्री और पुरुष की निजी इच्छाओं और आपसी समझौते पर ही निर्भर नहीं रहने दिया जाता है। स्त्री और पुरुष आपसी समझौते के द्वारा भी सामाजिक वैवाहिक नियमादि को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं। कुछ समाजों में तो विवाह बन्धन में बँधने की स्वाधीनता स्त्री-पुरुष को परस्पर समझौते के आधार पर ही दे दी है किन्तु उस बंधन से मुक्ति पाने के लिए देश-विधि के आधार पर स्वीकृति लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

भारतीय परिवार—भारतीय परिवार सम्मिलित परिवार होता है जहाँ कि एक ही नहीं कई पीढ़ियों को मिला कर एक परिवार बनता है। परिवार में स्त्री-पुरुष तो होते ही हैं उनके अतिरिक्त उनके पुत्र भी होते

हैं, पुत्र-वधुएँ और उनकी सन्तानें भी होती हैं और कभी-कभी तो सर्वाधिक वृद्ध स्त्री-पुरुष के अन्य सम्बन्धी अर्थात् पुरुष के भाई और उनके पुत्र आदि भी परिवार में एकत्रित ही रहते हैं। सम्भवतः सम्मिलित-परिवार प्रथा कृषि-युग में अत्यन्त उपयोगी रही होगी क्योंकि कृषि करने के लिए बहुत से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। अतः यदि एक ही परिवार के व्यक्तियों को कृषि कार्य में लगाया जाये तो परिवार के लिए हितकर ही होगा क्योंकि ऐसी दशा में आय का एक भाग बाहरी व्यक्तियों के पास न जा कर अपने ही परिवार में रहेगा। कृषि-युग समाप्त हो गया। प्रायः लोगों ने कृषि को छोड़ कर व्यवसाय तथा अन्य कार्य भी करने आरम्भ कर दिये किन्तु फिर भी यथासम्भव सम्मिलित परिवार प्रथा बनी ही रही क्योंकि घरेलू धन्धों और छोटे-मोटे कुटीर उद्योगों के लिए भी तो एक परिवार अथवा अधिकाधिक व्यक्तियों वाले परिवार की आवश्यकता पड़ने लगी। यही नहीं, कभी-कभी तो दो या तीन परिवार जो कि परस्पर सम्बन्धित ही होते थे मिल कर इस प्रकार का व्यवसाय करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, भाई का परिवार और जिस परिवार में बहिन का विवाह हो गया वे दोनों ही अथवा दो तीन बहिनों के परिवार मिल कर कार्य करने लगें। वैज्ञानिक ढंग पर औद्योगीकरण होता ही गया और कुटीर उद्योग का स्थान बड़े-बड़े पूँजीपतियों के कल-कारखानों ने ले लिया। ऐसे व्यवसाय आदि नगरों में होने लगे। नगरों की स्थापना ने कुछ व्यक्तियों को ग्रामों से नगरों की ओर आने के लिए उत्साहित किया किन्तु फिर भी अनेक परिवार ग्रामों में ही बने रहे। कुछ काल पश्चात् तो नगरों के वासी अपने परिवारों को वहीं लाने और रखने लगे। फलस्वरूप ग्रामों से उनका सम्बन्ध न्यूनातिन्यून होता गया और धीरे-धीरे वह उसे विस्मरण करते गये। नगर-निवासियों के लिए और विशेषतया नौकरी करने वाले व्यक्तियों के लिए सम्मिलित परिवार-प्रथा को बनाये रखना कठिन हो हो गया। फिर भी जिनकी ग्रामों में धरती, सम्पत्ति आदि थी उनके परिवारों की एकता किसी एक सीमा तक बनी ही रही। इस युग में नगरों के परिवारों में नौकरी करने का ही अधिक प्रचलन है और सब ही भाइयों को एक ही नगर में नौकरी मिल सकना सदा-सर्वदा न तो सरल ही होता है और न सम्भव ही।

अतः अपने आप ही सम्मिलित परिवार की नींव हिलने लगी। यही नहीं, अब तो पारिवारिक समस्याओं का स्वरूप कुछ ऐसा भी हो गया है कि एक ही नगर में रहने वाले भाई भी पृथक्-पृथक् रहने लगे हैं।

सम्मिलित परिवार के लाभ—यदि परस्पर स्नेह, सहानुभूति और सहयोग की भावना तथा घर की व्यवस्था बनी रही तो सम्मिलित परिवार सुखदायी होता है। आर्थिक दृष्टि से सम्मिलित परिवार में मितव्यय होने की अधिक सम्भावना होती है। यदि चार भाई एकत्रित रहते हैं, जो कि एक से ही सामाजिक स्तर के होते हैं, क्योंकि उनके माता-पिता का तो एक ही सामाजिक स्तर होता है, तो उनमें से प्रत्येक को उस जीवन-स्तर को बनाए रखने के लिए सम्मिलित परिवार में कम धन व्यय करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—बाल्यकाल से ही वह १०० रुपये मासिक किराया दे कर कोठी में रहते थे अर्थात् उनके माता-पिता ने जो कोठी उनके बचपन से ही किराये पर ली थी उसका किराया सौ रुपये मासिक था अथवा बाल्यकाल से ही उन्होंने जिस जीवन स्तर का परिचय पाया है उसमें सौ रुपये मासिक निवास-स्थान पर खर्च करने की गुंजायश है। यदि वे सब सम्मिलित ही रहते हैं तो छः कमरे की उस कोठी में उन्हें एक-एक सोने का कमरा पृथक्-पृथक् मिल जाता है और बैठक आदि सम्मिलित ही रहते हैं जिनका कि प्रयोग आवश्यकतानुसार सब ही कर सकते हैं, फिर भी उनमें से प्रत्येक को किराया पचीस रुपये ही देना पड़ता है। इसी प्रकार सम्मिलित परिवार में साधारणतया दो नौकरों से काम चल सकता है जब कि पृथक्-पृथक् रहने पर प्रत्येक को एक-एक नौकर रखना ही पड़ता अर्थात् लगभग आधा व्यय नौकरों का बचा। इसी प्रकार अन्य सब ही व्ययों में कमी हो ही जाती है। अतः आर्थिक दृष्टि से सम्मिलित परिवार अत्यन्त हितकर होता है।

सामाजिक दृष्टि से भी सम्मिलित परिवार अधिक गौरववान होता है। चारों भाइयों के एकत्रित रहने से समाज में भी उनका मान अधिक होता है। यदि एक भाई किसी उच्च पद पर आसीन हो तो अन्य भाइयों का भी सामाजिक स्तर उसके भाई होने के नाते ऊँचा हो जाता है। इसी प्रकार अन्य कार्य-क्षेत्रों आदि में भी उन्हें एक दूसरे के सामाजिक मान, सम्मान, स्तर आदि से लाभ

होता रहता है। मानव-जीवन में दुःख और सुख दोनों ही लगे रहते हैं और रोग दुःख में सेवा, सहानुभूति के लिए तथा सुख में आनन्द मनाने के लिए भी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ—परिवार की किसी भी स्त्री का प्रसव-प्रसंग आने पर उसे तीन देवरानियाँ जिठानियाँ सेवा, सहायता आदि के लिए मिल जाती हैं किन्तु पृथक् परिवार में रहने पर वे दिन एक कठिन समस्या का समय ही बन जाते हैं। इसी प्रकार किसी एक स्त्री के रोगी हो जाने पर परिवार के गृहकार्य रुक नहीं जाते हैं। किसी एक भाई के रोगी अथवा मृत्यु हो जाने पर वह और उसका परिवार एकबारगी असहाय नहीं हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर समाज में उनमें से प्रत्येक का सम्मान सब के मिले-जुले महत्त्व के ही कारण अधिक होता है।

राजनीतिक दृष्टि से भी सम्मिलित परिवार का महत्त्व अधिक होता है क्योंकि उनके पास अधिक व्यक्ति होने से मत भी अधिक होते हैं। यही नहीं, साधारण उपयोगिता की दृष्टि से भी ऐसे परिवार का महत्त्व अधिक होता है। किसी भी भाई के डाक्टर अथवा इंजीनियर अथवा अध्यापक अथवा किसी भी प्रकार के व्यवसायी होने से सब ही को लाभ पहुँच सकता है।

सम्मिलित परिवार के व्यक्तियों में परस्पर स्नेह करने और मिलजुल कर रहने की आदत भी पड़ जाती है। एकाकी जीवन की स्वाभाविक स्वार्थपरता, उद्दण्डता आदि दुर्गुणों से सम्मिलित परिवार के बालक बच जाते हैं। यदि माता-पिता तनिक भी समझदार हों तो ऐसे परिवार के बच्चों में पढ़ाई लिखाई आदि के लिए अच्छी प्रतियोगिता भी चलती रहती है जिससे कि बालकों में उत्साह-वृद्धि होती है। छोटे बड़ों का आदर करना, अनुशासन मान कर चलना, सभ्य व्यवहार करना, परार्थ पर दृष्टि रखना, आदि सद्गुण भी सम्मिलित परिवार के बालकों में सरलता से ही आ जाते हैं।

सम्मिलित परिवार के दोष—इन सब लाभों एवं गुणों का मुख्य आधार परिवार के सब सदस्यों में परस्पर स्नेह होना ही है। यदि सब सदस्यों में परस्पर सद्भाव नहीं होता है तो सम्मिलित परिवार एक भार-मात्र ही रह जाता है। वस्तुतः परिवार में छोटे और बड़े सब लोग होते

हैं। बड़ों का कार्य आज्ञा देना, छोटों का पथ-प्रदर्शन करना आदि होता है और छोटों का कार्य आज्ञापालन, अनुशासन में रहना आदि होता है। यदि गुरुजन बहुत अधिक हस्तक्षेप करने लगते हैं तो छोटों को तो आत्म-विकास एवं आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिलता है। परिणाम स्वरूप कभी कभी तो छोटों का आत्म-विकास पंगु सा ही हो जाता है।

एक परिवार में अधिक लोगों के रहने पर ईर्ष्या, द्वेष आदि का होना भी सम्भव है और इस प्रकार की भावनाओं के एक बार जन्म ले चुकने पर परस्पर सहयोग की अपेक्षा झगड़े ही अधिक बढ़ते जाते हैं। कलह, झगड़े और द्वेष आदि की अपेक्षा तो पृथक् पृथक् रहना ही ठीक रहता है। इसके अतिरिक्त सम्मिलित परिवार में रह कर धनहीन सम्बन्धियों को भी धनवान सम्बन्धी लोगों के साथ रहने के कारण अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है जो कि कभी-कभी तो उनकी सामर्थ्य के भी बाहर होता है। यदि बड़ों में परस्पर द्वेष हो तो बच्चों में भी वही भावना उत्पन्न हो जाती है। एक मनोवैज्ञानिक हानि यह भी होती है कि प्रायः सम्मिलित परिवार में गुरुजन बहुत से होते हैं और गुरुजनों के भी गुरुजन होते हैं जो कि प्रायः आधुनिक प्रचलन एवं प्रवृत्तियों आदि के उतने अधिक प्रशंसक नहीं हो पाते हैं। फलस्वरूप छोटे बच्चों पर माता-पिता का नियन्त्रण नहीं रह पाता है क्योंकि उनके कुछ भी कहने पर उन्हें उनके गुरुजनों अर्थात् बालक के दादा-दादी से डाँट पड़ती है। इसी प्रकार लाड़-प्यार में सम्मिलित परिवार के बालक कहीं-कहीं अत्यन्त उद्धत और दुष्ट हो जाते हैं। छोटों को आत्म अभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर भी नहीं मिलता है और समय के प्रचलन के विरुद्ध होने वाले वृद्ध जन युवक-युवतियों के आनन्द तथा आत्मविकास में कभी कभी बाधक भी सिद्ध हो सकते हैं। वस्तुतः सम्मिलित परिवार तब ही तक लाभदायक सिद्ध हो सकता है जब तक कि उसके सब सदस्यों में परस्पर स्नेह तो हो ही, सौहार्द तथा व्यवस्था भी हो अन्यथा सम्मिलित परिवार कलह का ही क्षेत्र हो जाता है।

सम्मिलित परिवार के सदस्यों के कर्तव्य—वस्तुतः परिवार में साधारणतया पुरुष धनोपार्जन करते हैं और नारी घर-गृहस्थी की व्यवस्था

करती है तथा बालकों का लालन-पालन करती है। यूँ तो पुरुष को भी संतान के लालन-पालन, चरित्र-निर्माण और शिक्षा दीक्षा में रुचि लेनी चाहिए तथा घर के कामों में भी यथासम्भव सलाह देनी चाहिए फिर भी मुख्यतः घर की देखभाल और गृहस्थी के अन्य कार्य नारी को ही करने चाहिए। यहाँ तक कि यदि स्त्री सुगृहिणी हो तो घर में सुख शान्ति का साम्राज्य हो सकता है। सम्मिलित परिवार में छोटों को बड़ों का आदर सम्मान करना चाहिए और बड़ों को छोटों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। घर के भीतर और बाहर दोनों के ही मामलों में एक-एक प्रधान अथवा गुरुजन होना तो अच्छा ही है और स्वभावतः दादा, दादी ही गुरुजन हो सकते हैं और होने चाहिए किन्तु उन्हें यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उनके किसी भी कार्य से पक्षपात न जान पड़े तथा वे सब के लिए एक ही समान हिताकांक्षी हों। पक्षपात प्रायः एक में दूसरे के प्रति द्वेष उत्पन्न करता है। अधिक कठोरता और अनावश्यक निजी मामलों में हस्तक्षेप भी तो छोटों को चिढ़ा देता है। बड़ों को छोटों पर एक समान स्नेह करना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार से पुत्री से स्नेह किया जाए उसी प्रकार पुत्र-वधू से भी करना चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात में सब की सम्मति लेनी चाहिए। प्रायः यह अपेक्षित होता है कि पिता की वृद्धावस्था में पुत्र ही लालन-पालन करें। अतः पुत्र और पुत्र-वधू को वृद्ध माता-पिता की सेवा करना चाहिए। उनका पालन-पोषण तो करना ही चाहिए। वृद्ध माता-पिता को पुत्र और पुत्र-वधू पर सन्तान की भाँति स्नेह तो करना ही चाहिए, उन्हें निजी मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता भी देनी चाहिए तथा अनावश्यक हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए। विशेषतया पुत्रवधू को ही गृहिणी का गौरवमय आसन लेने देना चाहिए। प्रायः अधिकार एवं सत्ता को लेकर ही खींचातानी हुआ करती है। अतः श्वशुर और सास को पुत्र एवं पुत्र-वधू को भी कुछ अधिकार दे ही देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें केवल आज्ञा देते रहने वाला ही न रह कर परिवार के लिए उपयोगी भी होना चाहिए जिससे कि उनका महत्त्व बना रहे।

इसके अतिरिक्त परिवार में यथासम्भव छोटे-बड़े सब की आवश्यकता

एवं रुचि का ध्यान रखना चाहिए। यथासम्भव जिस पुत्र-वधू अथवा सास के हाथ में रसोई का प्रबन्ध हो उसे सब को कुछ न कुछ उत्तरदायित्व अवश्य देना चाहिए तथा सब की सन्तानों की तथा उनकी खान-पान सम्बन्धी रुचियों का ध्यान रखते हुए ही भोजन बनवाना चाहिए तथा यह भी देखना चाहिए कि सब ही को पूरी मात्रा में इच्छित अथवा उचित खाद्य-वस्तुएँ भी मिल सकें। इसी प्रकार घूमने-फिरने, वस्त्रादि लेने पहनने के लिए भी सब का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए तथा सब को पूरी-पूरी सुविधाएँ भी होनी चाहिए।

भारतीय परिवार में परस्पर सम्बन्ध—वस्तुतः प्राकृतिक एवं स्वाभाविक रूप से परिवार में स्त्री-पुरुष और सन्तान का ही होना आवश्यक है। यह भी सत्य है कि स्त्री और पुरुष की ममता सन्तान पर होती ही है जो कि उनकी सम्मिलित वस्तु है, ममता-केन्द्र है। स्त्री और पुरुष में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी सन्तान द्वारा प्रमाणित होता है और सन्तान का हित उन दोनों को ही प्रिय होता है। इस प्रकार स्त्री, पुरुष और सन्तान का परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अन्य सम्बन्धियों का सम्बन्ध उतना घनिष्ठ नहीं होता है। अतः हम सर्वप्रथम पति-पत्नी के सम्बन्ध की ही चर्चा करेंगे और साथ ही साथ अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध की भी चर्चा हो ही जायेगी।

यद्यपि पति-पत्नी का परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है किन्तु अधिकतर देखा जाता है कि पति-पत्नी में परस्पर ठीक से बनती नहीं है। वास्तव में भिन्न-भिन्न समाजों में नारी की मर्यादा के मापदण्ड भिन्न-भिन्न हैं और सम्भव है कि उन्हीं के आधार पर पुरुष की मर्यादा भी आँकी जाती हो। कुछ समाजों में तो नारी युगों तक और कहीं-कहीं आज तक भी सम्पत्ति मानी जाती है और उसी प्रकार क्रय-विक्रय की वस्तुमात्र ही समझी जाती है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो क्रय-विक्रय के अतिरिक्त उसे मित्र अतिथि रंजन हेतु भी भेजा जाता था। परिवार के स्वामी की आज्ञा का उसे हर प्रकार से पालन करना ही पड़ता था। कुछ समाजों में तो लड़की का जन्म भी अपमान और दुःख-जनक माना जाता था। अपनी स्त्री का किसी अन्य पुरुष के पास पत्नी रूप

में जाना तो आज तक भी अधिकांश समाजों में अपमान की पराकाष्ठा समझी जाती है। प्राचीन भारत में युग विशेष में नारी की मर्यादा के विभिन्न स्तर देखे जाते हैं। भारतीय नारी देवी भी मानी गयी है और किन्हीं किन्हीं युगों में दासी, सम्पत्ति आदि-आदि भी किन्तु आज उन सब की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। फिर भी यह कहना तो नितान्त आवश्यक जान पड़ता है कि जिस युग में नारी देवी रही होगी और पुरुष ने उसका यथेष्ट सम्मान किया होगा, उसके लिए मानसिक संघर्ष का प्रश्न सम्भवतः नगण्य हो गया होगा। इसी प्रकार जिस युग में नारी सर्वथा दासी अथवा सम्पत्ति मात्र ही रही होगी उस काल में भी किन्हीं विद्रोहिणियों को छोड़ कर साधारणतया नारी अपने भाग्य से सन्तुष्ट ही रही होगी किन्तु आज तो अवस्था परिवर्तित हो गई है। आज की नारी समानाधिकारी के रूप में गृहस्थ जीवन में अपनी कल्पना करती है। हो सकता है कि परिवार में श्रम-विभाजन किसी सुदूर गौरवशील अतीत में भी होता हो किन्तु यह भी तो सम्भव है कि उस युग में गृह-कार्य करने के कारण नारी को निम्न कोटि का जीव माना जाता होगा। यूँ तो हिन्दू धर्मशास्त्रों में नारी को सचमुच सुखी रखने और गृहदेवी मानने के सम्बन्ध में अनेकानेक आदेश हैं। यहाँ तक कि मनुस्मृति में यह स्पष्ट ही कर दिया गया है कि स्त्री को सुखी रखने से ही गृहस्थी में सुख, शान्ति और फलस्वरूप समृद्धि हो सकती है। वैदिक ग्रन्थों में तो नारी को घर की, परिवार की साम्राज्ञी कहा गया है। उस युग में भी पुरुष अर्थोपार्जन करता था और नारी गृहकार्य करती थी किन्तु फिर भी उसका पद पुरुष से किसी प्रकार भी नीचा नहीं माना जाता था। यह भी सत्य है कि छठी शताब्दी तक वह दासी की श्रेणी तक पहुँच गई थी। कारण कुछ भी हों किन्तु इस युग तक उसका महत्त्व एवं उसकी मर्यादा अत्यन्त न्यून रह गई थी।

भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विश्व के सब देशों में पति को पत्नी को दण्ड देने का अधिकार होता है। पत्नी के लिए पर पुरुष से पति रूप में सम्बन्ध रखना महान पाप माना जाता है और ऐसा करने पर उसके लिए कठोर दण्ड का भी विधान पाया जाता है। हो सकता है कि इसका कारण यही हो कि पत्नी अपने भरण-पोषण के लिए पति पर ही आश्रित रहती रही है, फिर भी भारतीय

धर्मशास्त्रों में पति का पुनीत कर्तव्य माना गया है पत्नी का भरण-पोषण। फिर भी पत्नी का अधिकार स्त्री धन पर माना ही गया है।

सुखी दाम्पत्य जीवन—यह सब होते हुए भी सुखी दाम्पत्य जीवन का आधार केवल मात्र समानाधिकार ही नहीं है। वस्तुतः व्यक्तित्व का पूर्ण एवं उचित विकास परिवार में ही हो सकता है। जिस परिवार में पति पत्नी में सौहार्द होता है वहाँ बच्चों का जीवन स्वाभाविक और मानसिक विकास पूर्ण होता है। ऐसी अवस्था में बालकों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास उचित दिशा में और ठीक ढंग से होता है। माता-पिता यदि परस्पर एक दूसरे से स्नेह, सहयोग, सहानुभूति और समझौते की दृष्टि से व्यवहार करते हुए, एक दूसरे के विचारों का यथेष्ट सम्मान करते हुए परिवार को एक सम्मिलित वस्तु समझते हैं तथा दोनों ही मिल कर बालकों के पालन-पोषण आदि का दायित्व निबाहने के प्रयत्न में संलग्न रहते हैं तो बालकों का जीवन भले ही कितनी भी आर्थिक कठिनाइयाँ और अन्य असुविधाएँ क्यों न हों विषम और अस्वाभाविक नहीं बन पाता है। दूसरी ओर यदि पति-पत्नी के जीवन में मानसिक शांति एवं समझौते की भावना नहीं होती है तो बालकों का जीवन कठिन, कठोर एवं विषम बन जाता है। पति-पत्नी के पारस्परिक संघर्ष की दुःखद कथा हमारे देश में इतनी अधिक नहीं है जितनी कि अन्य देशों में है। बरजस कार्टल के मतानुसार प्रायः अमरीका में विवाहित जनसंख्या में से पाँचवाँ भाग अत्यन्त दुःखी है और केवल दो तिहाई भाग सुखी कहा जा सकता है। टरमेन के विचारानुसार ३० प्र० श० व्यक्ति अत्यधिक सुखी और एक प्र० श० अत्यधिक दुःखी हैं। अन्य आँकड़ों में उनकी किसी सीमा तक कार्टल से एकता है।

वस्तुतः किसी अन्य समाज की भाँति ही हमारे देश में भी विवाह व्यक्ति के लिए उसे सुखी बनाने का साधन और उसके व्यक्तित्व के विकास का माध्यम ही होना चाहिए। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो हमें टरमेन की उन पैंतीस शिकायतों से सहमत होना पड़ता है जो कि उन्होंने खोज ढूँढ कर निकाली हैं और जो कि उनके मतानुसार प्रायः पति-पत्नी एक दूसरे की किया ही

करते हैं तथा यही शिकायतें उनके दुःखी जीवन का मूल कारण होती हैं। इनमें से कुछ शिकायतें तो एक का दूसरे को स्वार्थी, घमण्डी, ईर्ष्यालु, स्नेह-रहित, दया-रहित आदि मानना ही हैं। प्रायः यह शिकायतें केवल पति-पत्नी के ही बीच नहीं होती हैं वरन् किन्हीं भी दो साथ रहने वाले व्यक्तियों के बीच हो सकती हैं। प्रायः मानव-स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने को सर्वगुण-संपन्न और दूसरे को अनजाने ही अपने से कम साधु समझने का प्रयत्न करता है। प्रायः हमारे देश में स्त्री को विवाह के पश्चात् पति के घर में जाना होता है जहाँ कि वह बिलकुल अनजान होती है। प्रायः उसके श्वसुरालय के सब ही लोग यह आशापूर्ण कल्पना करते हैं कि पुत्रवधू अत्यन्त सुशील, गुणवती एवं आज्ञाकारिणी होगी और दूसरी ओर वधू यह कल्पना करती है कि श्वसुरालय उसके लिए एक नवीन और सुन्दर जगत होगा जहाँ कि उसे हर प्रकार का सुख एवं स्वागत मिलेगा। दोनों ओर से ही कल्पना का प्राबल्य एवं प्राधान्य होता है तथा श्वसुरालय के लोगों की पुत्र के प्रति यह भावना भी स्वाभाविक ही होती है कि उनका अपने पुत्र अथवा पुरुष पर पूरा अधिकार होना चाहिए दूसरी ओर पति और पत्नी का आरम्भ में परस्पर अत्यधिक आकर्षण होना स्वाभाविक ही है और ऐसी अवस्था में पत्नी का उस घर-परिवार में पति पर ही आश्रित रहना, उसकी ओर ही ताकना भी स्वाभाविक ही है। ऐसी अवस्था में पति के तनिक भी पत्नी का पक्ष लेने पर उसके परिवार के अन्य व्यक्तियों का यह विचार हो जाता है कि लड़का हमारा होते हुए भी अपनी पत्नी, नई आई हुई स्त्री के अधिक वश में होता जा रहा है और दोनों ओर से ही समझौता रहित भावनाओं का प्रसार आरम्भ हो जाता है जो कि पत्नी के परिवार में रहने वाले परिवार के पति के अतिरिक्त अन्य सदस्यों से कटु सम्बन्ध स्थापित करा देता है। दाम्पत्य जीवन में दुःख की सृष्टि दो प्रकार से होती है एक तो परिवार में स्त्री तथा अन्य सदस्यों के परस्पर कटु सम्बन्धों के कारण जिनकी चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं और दूसरा पति-पत्नी में परस्पर समझौते का अभाव। दूसरे प्रकार के दुःखों का एक कारण तो 'काम' वासना सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी हो सकती हैं। प्रायः यह भी देखा गया है कि ये कठिनाइयाँ अधिकतर वास्तविक

न हो कर मनः प्राणिक (Psycho Genetic) ही होती हैं। शिक्षा का वास्तविक अर्थ तो यह है कि व्यक्ति में साधारण एवं स्वाभाविक रूप से ही अपनी पूर्व परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्य नवीन एवं अपरिचित परिस्थितियों से भी समझौता करने तथा उनमें स्वाभाविक रूप से ही आनुकूल्य एवं समीकरण स्थापित करने की योग्यता आ जाये किन्तु सब व्यक्तियों की तो उचित शिक्षा हो नहीं पाती है अतः सब व्यक्ति तो अपनी परिचित परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों का सहज ही स्वागत नहीं कर पाते हैं और सदा-सर्वदा, जीवनभर पूर्व परिचित परिस्थितियों में तो रहा भी नहीं जा सकता है अतः कभी न कभी तो नवीन परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ता है। विशेषतया स्त्री को तो विवाह के पश्चात् हमारे देश में पतिगृह में जाना ही पड़ता है। पतिगृह के रीति-रिवाज़ भले ही स्त्री के अपने ही घर की भाँति हों किन्तु कुछ न कुछ भिन्नता तो होती ही है। इसके अतिरिक्त स्त्री अपने परिवार के लोगों से रक्त सम्बन्ध द्वारा सम्बन्धित होती है अतः वहाँ ममता का बन्धन भी होता है और वह उस परिवार के लोगों के स्वभाव आदि से परिचित भी होती है। वहाँ की प्रत्येक बात, चाल-चलन उसके लिए स्वाभाविक होती है किन्तु पतिगृह की प्रत्येक बात, चाल-ढाल उसके लिए सर्वथा अपरिचित एवं नवीन होती है अतः यदि उसमें तनिक भी नवीन परिस्थिति से समीकरण करने अथवा आनुकूल्य स्थापित करने की योग्यता का अभाव होता है तो उसे वहाँ कठिनाइयों का अभाव नहीं रहता है। यही बात कुछ न्यून मात्रा में थोड़ी बहुत पुरुष के लिए भी होती है क्योंकि पत्नी के आ जाने के पश्चात् उसके लिए भी नवीन परिस्थिति बन ही जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति इस प्रकार की कठिनाई का कारण अपने व्यक्तित्व का अभाव और दोष न देख कर मानने लगता है दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का दोष और उन्हीं पर प्रकट रूप से भी दोषारोपण करने लगता है। फलस्वरूप वह अपने दाम्पत्य जीवन को दुःखी बना लेता है। दूसरी ओर यदि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ठीक ढंग से हुआ हो तो उसका स्वभाव सम एवं सन्तुलित होता है। ऐसी अवस्था में यदि दूसरे व्यक्ति पति अथवा पत्नी का स्वभाव तनिक विचित्र सा भी हो अथवा

कठिन अथवा कठोर भी हो तो भी उसमें अपने व्यक्तित्व के सन्तुलित होने के कारण दूसरे व्यक्ति के विचित्र स्वभावजन्य कठिन एवं कठोर परिस्थितियों से समीकरण एवं आनुकूल्य स्थापित करने की योग्यता एवं क्षमता होती ही है। और धीरे-धीरे वह दूसरे व्यक्ति के दोष का सुधार करने में भी सफल हो सकता है।

टरमेन ने इस सम्बन्ध में अध्ययन किया है और उन्होंने सुखी दम्पतियों के व्यक्तित्व का अध्ययन एवं विश्लेषण करने का भी प्रयत्न किया है। यूँ तो इस प्रकार के अध्ययन की गम्भीरता स्पष्ट ही है फिर भी उनके विश्लेषण में कुछ सत्य है ही। उनके विचारानुसार सुखी विवाहित स्त्रियाँ प्रायः सन्तुष्ट होती है। इस प्रकार की स्त्रियाँ सेवा-भाव प्रधान, दयालु, मेहनती, ईश्वर में विश्वास करने वाली, आसानी से न चिढ़ने वाली, सामाजिक परम्पराओं, प्रथाओं एवं प्रचलनों की प्रशंसक एवं समर्थक, प्रतिद्वन्द्वी परिस्थितियों से न घबराने वाली, विशेष महत्त्वाकांक्षा के पीछे न भागने वाली, मिलनसार, सब ही से सामाजिक सम्बन्ध रखने वाली और नियमित ढंग से कार्य करने वाली होती हैं। उनमें आत्मविश्वास का अभाव नहीं होता है और वे आशावादी भी होती हैं। दूसरी ओर विवाहित जीवन में दुःखी एवं असन्तुष्ट स्त्रियाँ निराशावादी, शीघ्र ही चिढ़ने वाली, बाह्य जीवन में महत्त्व पाने की इच्छुक, विद्रोही, आक्रमणात्मक एवं आलोचनात्मक प्रवृत्ति की परिचायक, कम परिश्रमी, स्वकेन्द्रित, प्रसिद्धि पाने की इच्छुक, अव्यवस्थित कार्य करने वाली, ईर्ष्यालु, परम्पराओं प्रथाओं आदि की विरोधी और धर्म के प्रति भी विद्रोह भावना रखने वाली होती हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ प्रायः क्रान्तिकारी होती हैं।

सुखी विवाहित पुरुष सम, संयमित एवं सन्तुलित स्वभाव वाले होते हैं। उनका व्यवहार स्वाभाविक और अच्छा होता है। वे अधिक उत्तरदायी और कार्य-संलग्न होते हैं। वे प्रायः परम्परा, धर्म, समाज आदि पर विश्वास रख कर चलने वाले और सावधान होते हैं। दुःखी विवाहित पुरुष प्रायः घबराने वाले, स्त्रियों के प्रति आकर्षित होने किन्तु उनसे बचने वाले, अन्तर्मुखी, सनकी, आज्ञा देने और प्रभुत्व जमाने वाले होते हैं। वे दिवास्वप्नों में ही मग्न

सुखी परिवार कैसे बन सकता है ?—सुखी परिवार का पारिवारिक वातावरण कुछ ऐसा होता है, जो कि सहज ही में पहचान लिया जाता है। परिवार में सुख के अस्तित्व के प्रधान लक्षण उसके सब सदस्यों में समझौते एवं सहयोग की भावना का होना होता है। ऐसे परिवार में बच्चे अपने माता-पिता का सम्मान करते हैं और उनके माता-पिता अपने गुरुजनों का सम्मान करते हैं तथा उनके आदेश आदर और स्नेह के साथ सुनते हैं। ऐसे परिवार के बच्चे आत्मविश्वासी, निर्भय, स्नेहशील और दूसरों को भी चाहने वाले होते हैं। ऐसे परिवार में अतिथि का आना भला लगता है और उसका स्वागत, आदर एवं सम्मान होता है। बच्चों पर प्रायः माता-पिता का एक समान ही अनुशासन रहता है तथा एक की आज्ञा की दूसरे द्वारा अवहेलना नहीं कराई जाती है तथा स्वयं भी गुरुजन बालकों के सामने अथवा उनके प्रश्नों को ले कर एक दूसरे की अवहेलना नहीं करते हैं। फलस्वरूप बालकों पर किसी ओर से और किसी भी कारण से अनावश्यक डाँट-फटकार नहीं पड़ती है तथा मारपीट भी नहीं होती है।

प्रायः पति और पत्नी दोनों ही गृहस्थी के सब प्रश्नों, समस्याओं आदि में समान रूप से रुचि लेते हैं तथा मिल-जुल कर ही उनका हल भी खोजते हैं। इसी कारण पारिवारिक, आर्थिक तथा अन्य सामाजिक आदि समस्याओं का भी पति-पत्नी दोनों ही के लिए महत्त्व होता है और एक ही सा महत्त्व होता है। नौकरों, घर की सम्पत्ति आदि पर पति-पत्नी दोनों का ही समानाधिकार होता है। यहाँ तक कि यदि वह सब कुछ एक के नाम भी हो तो भी दोनों मिलजुल कर ही उसके सम्बन्ध में सब कार्य करते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है कि ऐसे परिवार में अनुशासन हो किन्तु वह अनुशासन दृढ़ होते हुए भी कठोर नहीं होता है। इसी लिए पति अथवा पत्नी को दूसरे के ऊपर अपनी अभिलाषा आदि बरबस लादने और उसके द्वारा उसे चरितार्थ करवाने का प्रयत्न भी नहीं करवाया जाता है। यह बात नहीं है कि उन दोनों में कभी मतभेद होता ही नहीं है किन्तु मतभेद होने पर भी किसी न किसी स्तर पर समझौता तो हो ही जाता है। ऐसे परिवारों में आर्थिक कठिनाइयाँ भी होती

हैं किन्तु उनकी पीड़ा उतनी उग्र नहीं होती है जितनी कि उस अवस्था में होती है जब कि पति-पत्नी में परस्पर स्नेह, सहयोग एवं सहानुभूति नहीं होती है। पारस्परिक विषमता पारस्परिक एकता से कहीं अधिक कष्टकर होती है और पारिवारिक जीवन को कठिन बना देती है क्योंकि समझौते की दशा में पति और पत्नी दोनों मिलजुल कर किसी न किसी उपाय से परिवार के अन्य व्यक्तियों को आर्थिक एवं अन्य कठिनाइयों के कुप्रभावों एवं कष्टों से बचाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

परिवार के अन्य जनों के प्रति भी पति-पत्नी को स्नेहपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और हितकर भावनाएँ ही रखनी चाहिए। अधिकतर परस्पर समझौते की भावना होने पर पति पत्नी अन्य व्यक्तियों के प्रति भी सदय ही होते हैं। उन्हें गुरुजनों की आदर पाने की आकांक्षा सम्बन्धी मनोभावना को समझना चाहिए तथा छोटों की स्नेहाकांक्षा के प्रति भी सजग रहना चाहिए। ऐसा कर पाने के लिए उन्हें कुछ त्याग, बलिदान तो करना ही पड़ता है किन्तु उसका फल बहुत अच्छा होता है क्योंकि इससे परिवार में सुख और शान्ति का प्रवेश होता है। बुद्धिमती गृहिणी अपनी चतुराई के द्वारा सब को प्रसन्न रख कर परिवार के सुख का कारण बन सकती है किन्तु मूर्ख गृहिणी अपने और परिवार के अन्य व्यक्तियों के जीवन को दुःखी बना देती है।

विवाहित व्यक्तियों के उत्तरदायित्व—भारतीय पारिवारिक प्रथाओं के अनुसार विवाहित व्यक्तियों के उत्तरदायित्व अविवाहितों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाते हैं। साधारणतया पति-पत्नी को पति के माता पिता का भरण-पोषण तो करना ही होता है, उनकी सेवा भी करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वृद्ध माता-पिता विवाहित बड़े पुत्र अथवा पुत्रों पर ही अन्य सन्तानों के भरण-पोषण, शिक्षण, विवाह आदि के लिये आश्रित रहते हैं। विवाहिता बहिनों को अपने घर बुलाना, उन्हें देना-लेना भी विवाहित भाइयों और उनकी पत्नियों का ही उत्तरदायित्व समझा जाता है। गृहस्थी का सारा कामकाज तो बहू के ऊपर रहता ही है, बहुत कुछ अन्य कार्य-भार भी पुत्र-वधू के ही ऊपर होते हैं जो कि सास को पुत्रवधू द्वारा ही करवाने चाहिए और पुत्र-वधू को सास की

सम्मति से ही करने चाहिए। अन्य भी सामाजिक उत्तरदायित्व विवाहित पुरुष स्त्रियों पर ही होते हैं।

तलाक—विवाह-बंधन के विच्छेद को ही तलाक़ कहते हैं। विवाह एक ऐसा बन्धन है जिसकी कि समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। समाज की स्वीकृति के बिना विवाह पूरा भी नहीं होता है और मान्य भी नहीं होता है। अतः विवाह के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करनी ही चाहिए। जिस बन्धन की स्वीकृति समाज द्वारा प्राप्त करना आवश्यक होता है उससे मुक्ति भी तो समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त करके ही प्राप्त की जा सकती है। प्रायः सब देशों में विवाह सामाजिक कृत्य माना जाता है यद्यपि इसका सीधा सम्बन्ध दो व्यक्तियों से ही होता है और इससे सम्बन्धित नियमादि, विधि-विधानादि भी होते हैं। किन्तु सब समाजों में तो विवाह एकबारगी सामाजिक नहीं होता है। अतः तलाक को प्रथा रूप में स्वीकार किया जाना अथवा अस्वीकार किया जाना इस बात पर बहुत कुछ निर्भर रहता है कि किस समाज में विवाह को किस रूप में स्वीकार किया जाता है। जिन समाजों में विवाह केवल एक सामाजिक कृत्य है वहाँ तो तलाक को स्वीकार कर लेने में उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती है। यद्यपि अन्य समाजों में भी विवाह को कुछ न कुछ धार्मिक रंग दिया ही जाता है फिर भी वहाँ उसे मूलतः धार्मिक होते हुए भी, सामाजिक कृत्य अथवा सामाजिक बन्धन ही अधिक माना जाता है। अतः वहाँ सैद्धान्तिक रूप से तलाक प्रथा सम्बन्धी निषेध नहीं होता है किन्तु भारतीय हिन्दू समाज में विवाह न केवल एक सामाजिक बन्धन ही है वरन् धार्मिक बन्धन भी है और धार्मिक होने के सम्बन्ध से यह एक जन्म-जन्मान्तर का बन्धन माना जाता है। ऐसी अवस्था में तलाक और पुनर्विवाह का प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए किन्तु वस्तुस्थिति ठीक-ठीक ऐसी ही नहीं है। युग-परिवर्तन, वैज्ञानिक आविष्कारों आदि के प्रादुर्भाव आदि के साथ ही साथ मानव के लिए यह मान लेना कुछ कठिन होता जा रहा है कि शारीरिक बन्धन आत्मा के लिए जन्म-जन्मातर का कठिन बन्धन भी हो उठता है। तिस पर आत्मा और पुनर्जन्म भी आज विवादस्पद विषय हो गए हैं। समाजिक दृष्टि से तलाक प्रथा

के विरुद्ध एक तर्क दिया जा सकता है और वह मनोवैज्ञानिक तर्क है। मानव में समीकरण, आनुकूल्य स्थापित कर सकने की योग्यता होनी चाहिये और यदि स्त्री और पुरुष पति-पत्नी रूप में इस विचार से ही दाम्पत्य जीवन आरम्भ करेंगे कि हमें एक दूसरे से निबाहना ही है और इससे किसी प्रकार भी मुक्ति नहीं हो सकती है तो सम्भवतः वे एक दूसरे के अनुकूल होने का पूरा प्रयत्न करेंगे ही। इस प्रकार के प्रयत्न और उनका सफलीभूत होना सम्भवतः उस दिशा में और भी सरल हो सकता है जब कि नारी एकबारगी पुरुष की ही आर्थिक दृष्टि से आश्रिता न हो वरन् उसका समाज में अपना भी निजी स्थान हो, निजी महत्त्व हो, निजी उपयोगिता हो और फिर भी वह साथ रहना इसी लिए चाहे कि साथ न रहने अथवा उससे मुक्त होने की उसे कल्पना ही न हो अथवा वह उसे प्रशंसा की दृष्टि से न देख पाती हो। यही बात पुरुष के लिए भी लागू होती है। एक दूसरा पक्ष यह भी तो है कि दुःखी प्राणियों को बरबस ही एक दूसरे के साथ बाँध कर क्यों रखा जाए जब कि उनके दुःख का कारण है वे ही एक दूसरे के लिए हैं। यूँ तो भारत में आज भी अनेकों निम्न जातियों एवं वर्गों में तलाक प्रथा प्रचलित है और यह भी सम्भव है कि नारी को पूर्णतया समाज का पुरुष के समान ही उपयोगी, सबल, स्वस्थ एवं समकक्ष अंग बना देने पर तलाक की उतनी अधिक आवश्यकता ही न रह जाए फिर भी अभी तो हिन्दू विधि में तलाक को सीमित रूप में वैधानिक स्वीकृति दी ही जानी चाहिए। यद्यपि अन्य देशों में तलाक प्रथा का प्रचलन होते हुए भी सुखी दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी आँकड़े बहुत आशाजनक एवं उत्साहवर्धक नहीं है। यद्यपि एक ओर तलाक का नाम लेना भी पाप समझा जाना उचित नहीं है तथापि दूसरी ओर विवाह को एक हलका सा ही बन्धन समझ कर चाहे जब टूटने योग्य ही मान लेना तथा उसी की ओर सदा-सर्वदा ध्यान देते रहना भी सामाजिक जीवन की सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त अहितकर है। अतः तलाक सम्बन्धी सुविधा का प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में रहना आवश्यक है। 'तलाक' का विधि में स्थान होने मात्र से ही परिवारों में धड़ाधड़ तलाक होने लगें यह आवश्यक नहीं है। 'तलाक' की सुविधा होते हुए भी अधिकांश स्त्री-पुरुष सन्तान हो चुकने

पर तो विशेष रूप से, साथ ही रहना चाहेंगे क्योंकि सन्तान की ममता स्त्री-पुरुष दोनों को एक सूत्र में बाँधे रखती है। इसके अतिरिक्त स्त्री तो बहुत अधिक घर से लिप्त होती ही है पुरुष भी अपना घर बना कर रहना ही पसन्द करता है। अतः तलाक की सुविधा होते हुए भी उसके बहुत ही अधिक प्रचलित हो जाने की सम्भावना अधिक नहीं है किन्तु उससे स्त्रियों के लिये अत्यन्त कष्ट में रहने की अवस्था में निकास का एक मार्ग तो अवश्य निकल ही आता है। यद्यपि साधारणतया परिस्थितियों से विवशता की अवस्था में समझौता करना ही होगा तथापि विवशता न होने पर भी नवीन परिस्थितियों से समझौता कर पाने की योग्यता एवं क्षमता ही वास्तविक चारित्रिक गुण हैं।

चारित्रिक विकास और बालक—व्यक्ति के चरित्र एवं व्यक्तित्व का निर्माण तो सदा-सर्वदा होता ही रहता है किन्तु उसकी स्थायी नींव बाल्यकाल में ही पड़ जाती है और कुछ तो ऐसे भी गुण और दोष होते हैं जो कि बालक बाल्यकाल में ही ग्रहण करता है परन्तु वह उसके व्यक्तित्व का स्थायी अंश बन जाते हैं। उदाहरणार्थ—जिन बालकों का बाल्यकाल सहमते, डरते, घबराते हुए ही व्यतीत होता है, उनमें प्रायः स्वहीनत्व भावना का उदय हो जाता है और आत्मविश्वास की न्यूनता हो जाती है। डाँट, फटकार सुनते-सुनते, चारों ओर से अपने दोषों का ही उल्लेख सुनते-सुनते बालक यही विश्वास करने लगता है कि वह दोषों से ही भरा है। यह भावना उसके मन में दृढ़ होती ही जाती है और वह उसके सारे व्यक्तित्व पर छा जाती है जो कि कभी-कभी यावज्जीवन चलती ही रहती है। इसी प्रकार दया, स्नेह, सत्य बोलना आदि सद्‌गुण भी बालक के जीवन में बाल्य काल में ही प्रवेश कर जाते हैं और फिर यावज्जीवन बने ही रहते हैं।

सद्गुण और दुर्गुण दोनों ही प्रकार के गुण बालक के जीवन में बाल्य-काल में ही प्रवेश करते हैं और उस समय उनका प्रवेश करना सरल एवं सहज भी होता है क्योंकि वह आयु ही ऐसी होती है जिसमें कि हर किसी गुण की छाया शीघ्र ही पड़ती है और बालक की उस आयु की अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी उसे शीघ्र ही दूसरों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करती है।

अतः बालक के सम्मुख केवल सद्गुणों का ही क्रियात्मक रूप रखना चाहिए। नन्हें बालक बड़ों को जो कुछ करते देखते हैं, स्वयं भी वही करने लगते हैं। इसीलिए जो कुछ हम बच्चों को नहीं करने देना चाहते हैं वह हमें स्वयं ही नहीं करना चाहिए। कम से कम बालकों के सम्मुख वे कार्य नहीं करने चाहिए जिनका कि हम उनके लिए निषेध करते हैं अन्यथा केवल शब्दों से कोई प्रभाव नहीं पड़ पायेगा।

चरित्र-निर्माण—मानव-चरित्र का निर्माण अधिकतर उसकी इच्छाओं को ले कर होता है। हम क्या चाहते हैं? हमारी कौन-कौन सी अभिलाषाएँ हैं? यह जान कर ही यह बताया जा सकता है कि उन इच्छाओं और अभिलाषाओं के स्वामी का चरित्र यथार्थ में कैसा है? हम अपनी अभिलाषाओं अथवा कर्म-प्रेरणाओं (motives) का निर्माण विचार-पूर्वक स्वयं चुन कर सोच-समझ कर करते हैं किन्तु बालकों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। बालक में प्रारम्भ से इतनी विवेक शक्ति नहीं होती है कि वह अपनी अनेकों अभिलाषाओं में से किसी एक को जो कि तौल में सब से अधिक लाभदायक सिद्ध होती है—स्वीकार कर ले; और किसी अन्य को, जो कि उतनी अच्छी नहीं है, त्याग दे। वह यह सोच-विचार और नाप-तौल करता ही नहीं है। प्रारम्भिक बाल्यकाल में तो गम्भीर विचार पूर्वक कर्म (Volition, deliberate act) होता ही नहीं है। वहाँ तो दो ही प्रेरणाएँ होती हैं—एक तो सुख और दूसरा दुःख। बालक को जिस कर्म के करने में सुख मिलता है अथवा सुख मिलने की आशा होती है, वह उस कर्म को करता है। जिस कर्म से उसे कष्ट पहुँचता है अथवा कष्ट पहुँचने की सम्भावना होती है वह काम बालक नहीं करता है। एक बालिका जो कि तीन वर्ष की थी गन्दे पानी की एक नाली के पास खेल रही थी। नाली से लग कर ही बिजली का कोई तार जा रहा था। बालिका ने ज्यों ही लोहे की नाली को छुआ, उसे बड़े ज़ोर का झटका लगा। बालिका रोने लगी। माता ने चुप करा दिया। उसी दिन बिजली के काम करने वाले को बुला कर बिजली ठीक करवा दी ताकि नाली में फिर विद्युत् प्रवाह न हो जाय। तत्पश्चात् प्रयत्न किया गया कि वह बालिका उस नाली को

फिर छुए। बालिका किसी प्रकार भी नाली को छूने को तत्पर न हुई और यह क्रम एक वर्ष तक चलता रहा अर्थात् तीन वर्ष की नन्हीं बालिका एक वर्ष तक यह भूली नहीं कि लोहे की नाली उसे कष्ट देती है और उसके फिर छूने से कष्ट पाने की सम्भावना है। इसी प्रकार जहाँ से, जिस वस्तु से और जिस व्यक्ति से बालक आनन्द प्राप्त करता है वहाँ वह बार-बार जाना चाहता है। उस काम को बार-बार करना चाहता है। अतः बालक के लिए कर्म की प्रेरणा देने वाले सुख या दुःख ही होते हैं। कुछ और बड़ा होने पर बालक शारीरिक सुख और दुःख के अतिरिक्त मानसिक सुख और दुःख की ओर भी ध्यान देने लगता है। अभी तक बालक उन्हीं कामों को करने से बचता था जिससे कि उसके शरीर को कष्ट प्राप्त होता है। बालक स्कूल जाता था क्योंकि न जाने पर माँ के थप्पड़ लगने की सम्भावना थी किन्तु अब बात यह नहीं रही है। अब बालक अपमान से भी डरने लगा है। साधारणतया भद्र घरानों के बच्चे छः वर्ष की आयु में मान-अपमान समझने लगते हैं। अब वह चोरी इसलिए नहीं करना चाहता है क्योंकि वैसा करने पर डाँट पड़ेगी, अपमान होगा। वह परीक्षा में पास होना चाहता है, कविता याद करता और सुनाता है क्योंकि वैसा करने से आदर-सम्मान मिलता है। यही नहीं, बालक के लिए प्यार का भी बड़ा भारी महत्त्व होता है। बालक बहुत ही छोटी आयु से प्यार करने लगता है। प्यार को समझता भी बहुत है। कुछ बड़ा होने पर बालक प्यार का मूल्य भी आँकने लगता है। दो वर्ष का बालक यह नहीं चाहता कि उसकी माता को कोई कष्ट दे क्योंकि वह माता से प्रेम करता है। आप झूठ-मूठ ही कह दीजिये "मुन्ने! हम तुम्हारी माँ को मारते हैं।" मुन्ना रोना आरम्भ कर देगा। एक मजदूरनी की छोटी बालिका जो कि सम्भवतः साढ़े तीन साल की थी, एक दिन मुझसे आ कर प्रार्थना करने लगी—"तुम बापू को मारो, वह माँ को मारता है।" बालिका माँ को प्रेम करती थी। बालक प्यार को छोड़ना भी नहीं चाहता है और यह उससे कोई भी काम करवाने के लिए प्रेरणा का काम देता है। यदि बालक से कोई काम करवाना हो तो जिस व्यक्ति को वह प्यार करता है उसका यह कहना ही पर्याप्त है "बच्चे यह काम कर दो हम तुम्हें ढेर

सारा प्यार करेंगे।" "यह काम करो अथवा न करो, नहीं तो हम तुम्हें प्यार नहीं करेंगे" भी अच्छी प्रेरणा सिद्ध होती है किन्तु बच्चे के साथ इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक हो अर्थात् बच्चा बहुत ही जिद्दी और ढीठ हो अन्यथा साधारणतया इसका प्रयोग न कर के "प्यार करेंगे" का ही प्रयोग करना चाहिये।

आयु कुछ और अधिक हो जाने पर अर्थात् लगभग दस वर्ष की हो जाने पर बालक सोचने और सुनने भी लगता है। उदाहरणार्थ—बालक की इच्छा घूमने जाने की भी है, चाचा के साथ चित्र देखने जाने की भी है और माता के साथ एक विवाह में सम्मिलित होने की भी है। उधर प्रश्न स्कूल जाने का भी है। बालक की ये चारों इच्छाएँ उसके सम्मुख हैं। वह जानता है कि स्कूल न जाने से पिता दुखी होंगे, उसे डाँट भी पड़ेगी। माता के साथ जाने से आनन्द होगा। घूमने जाने से साथी संगी मिलेंगे। चाचाजी के साथ सिनेमा देखने में भी मज़ा रहेगा। शेष तीनों कर्म आनन्ददायक हैं किन्तु स्कूल जाने में कुछ भी आनन्द नहीं है फिर भी बालक इन सब को परस्पर एक दूसरे के मुकाबले में रख कर देखता है और निश्चय करता है कि वह इन सब आनन्दों का बलिदान करके स्कूल ही जायेगा क्योंकि पिता के स्नेह को वह किसी प्रकार भी खोना नहीं चाहता है। यह विवेक-बुद्धि बालक को इस अवस्था तक प्रायः आ जाती है और इसका पूरा-पूरा लाभ माता-पिता को उठाना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो इच्छाएँ इस प्रकार के चुनाव-संघर्ष में दबा दी जाती हैं वह कभी-कभी बालक को देर तक तंग करती रहती हैं। उदाहरणार्थ—बालक स्कूल ही गया किन्तु स्कूल में उसे बार-बार सिनेमा, विवाह में और घूमने न जा सकने और अपने स्कूल आने के निश्चय पर पहुँचने का पछतावा ही रहा। इस प्रकार का मानसिक संघर्ष और उसका पश्चात्ताप यदि देर तक चलता रहे तो बालक की मानसिक इच्छा शक्ति दुर्बल हो जायेगी। इस प्रकार के संघर्षों और दबाई हुई इच्छाओं की दुष्टता से बालक को बचाना चाहिये। चतुर माता दबाई हुई इच्छाओं को संशोधित रूप में बालक के लिए प्रस्तुत कर सकती है। उदाहरणार्थ—माता यदि उतना

आवश्यक न हो तो स्वयं भी विवाह में न जाये अथवा एक ही नगर में होने पर वह संध्या समय स्कूल के बाद बालक के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने का प्रबन्ध कर दे। यदि विवाह नगर के बाहर किसी अन्य नगर में हो रहा है तो बालक को बहुत सी सुन्दर वस्तुएँ लाने और किसी दूसरे निकटवर्ती विवाह में सम्मिलित कराने का विश्वास दिला दे। घूमना उसी संध्या को अवश्य हो जाय। सिनेमा का यदि दिन का खेल दिखाना है तो किसी रविवार अथवा छुट्टी के दिन प्रबन्ध करा दिया जाय। इस प्रकार वह सब ही इच्छाएँ थोड़ी बहुत सन्तुष्ट हो सकेंगी अन्यथा वह बालक के मन की गहरी तह में बैठी-बैठी उसे सदा-सर्वदा कष्ट ही देती रहेंगी, जो कि बालक को दुर्बल-चरित्र बना देगा। बालक में स्वयं निर्णय और शीघ्र निर्णय करने की आदत भी डालनी चाहिये; यद्यपि जल्दबाजी की आदत नहीं होनी चाहिये। माता को चाहिये कि यथासम्भव छोटी-छोटी हानिरहित बातों, जैसे—खेलना, घूमना, पुस्तक पढ़ना, कहानी सुनना आदि में बालक को पूर्ण निर्णयार्थ स्वतन्त्रता दे। उसे स्वयं निश्चय करने के लिए उत्साहित करे तथा घर की अन्य साधारण समस्याओं में उसकी सम्मति भी ले लिया करे। इससे बच्चे का स्वयं अपने आप में विश्वास भी बढ़ जाता है और वह निर्णय करने की शक्ति भी प्राप्त करता है। साथ ही साथ माता कभी-कभी उसका निर्णय काट भी दे, यद्यपि यह बहुत ही प्रेम से होना चाहिये, ताकि बालक को विरोध सहन करने की आदत भी पड़े। इसी अवस्था में सहिष्णुता और भाई-बहनों के प्रति त्याग की, सेवा की भावना भी बालक के नन्हें कोमल मन में भरी जा सकती है। बालक को दृढ़ चरित्र और दृढ़ इच्छा शक्तिवान तो होना चाहिये किन्तु हठी और मूढ़ नहीं। ऐसा बनाने के लिए माता बालक को कभी-कभी महान व्यक्तियों के जीवन-चरित्र सुना सकती है अथवा टीका-टिप्पणी भी कर सकती है।

यह तो हुआ बालक का व्यक्तिगत चरित्र। अब हम उसके सामाजिक चरित्र की ओर आते हैं। बहुत छोटी-सी आयु से ही बालक, जो व्यक्ति उसे भले लगते हैं उनकी ओर देख कर, मुसकराना सीख लेता है। उसे बातें सुनना भी लगभग चार-पाँच मास की आयु से ही भला लगता है। दो वर्ष का होते-होते

वह अन्य बच्चों को देख कर मुसकराने और उनसे खेलने का प्रयत्न करने लगता है। तीन या चार वर्ष का बालक तो साथियों की बड़ी आशा करता है। वह अपने नन्हें साथियों से अपने मन की बात कहता है, उनकी सुनता है और उन्हें सुना-सुना कर प्रसन्न होता है। साधारण बालक पाँच वर्ष के पश्चात् बड़े लोगों के साथ उतना अधिक नहीं रहना चाहते हैं। उन्हें बच्चों का साथ कुछ देर के लिए तो अवश्य ही मिलना चाहिये। इससे उनमें सामाजिक सद्भावना का भी विकास होने लगता है। वे बालक, जो अपने परिवार में अकेले ही होते हैं अथवा अपने परिवार के अतिरिक्त अन्य कहीं आते जाते नहीं, अन्य बच्चों से खेलने भी नहीं पाते प्रायः बड़े हो कर समाज में भी सफल नागरिक नहीं बन पाते हैं। उन्हें दूसरों के साथ मिल कर बैठना नहीं आता है। अपने घर में बच्चा केवल स्नेह ही पाता है किन्तु विश्व में तो केवल स्नेह ही नहीं मिलता। वहाँ तो सभी तरह का व्यवहार मिलता है और बालक का परिचय उससे होना ही चाहिये। खेल में सभी बच्चे एक से होते हैं। वहाँ किसी एक का विशेष ध्यान तो रक्खा नहीं जा सकता है। वहाँ बच्चे व्यवहार करना सीख जाते हैं, नहीं तो उन्हें अन्य बालक खिलायेंगे ही नहीं। बच्चों के खेल-कूद में माता-पिता और अन्य गुरुजनों को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। खेल ही तो एक ऐसा स्थान है जहाँ बच्चों को कुछ स्वतन्त्रता मिलती है। वहाँ उन्हें सम्पूर्ण रूप से अपना ही राज्य स्थापित करने देना चाहिये। यदि हो सके तो माता को कभी-कभी उनके दल में मिल कर उनका साथी बन कर उन्हें उनके खेल में सहायता देनी चाहिये। किन्तु ऐसा कर सकना सभी माताओं, विशेषतया मध्यवर्ग की थकी-माँदी माताओं के लिए सम्भव नहीं है। अतः उन्हें हस्तक्षेप न करने की नीति का ही सहारा लेना चाहिए। यही नहीं, बालक को यथासम्भव कपड़े पहनने और खाना खाने में भी कुछ न कुछ स्वतन्त्रता अवश्य ही देनी चाहिए जिससे कि वह स्वावलम्बी और स्वाधीन बन सके।

साधारणतया बच्चे अपनी ही आयु के अन्य बच्चों से मिलना-जुलना, खेलना-कूदना, उन्हें साथी बनाना पसन्द करते हैं। अधिकांश बच्चे तीन और

पाँच वर्ष की आयु के बीच आस-पास के बच्चों को साथी बना लेते हैं, यद्यपि यह मित्रता प्रायः क्षणिक होती है, कुछ मास तक ही रह पाती है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो अन्य बच्चों से दूर भागते हैं, उन्हें चिढ़ाते हैं, गुरुजनों के निकट बार-बार अन्य बालकों की चुगली करते हैं और अन्य बच्चों को अवसर पाते ही मारते-पीटते हैं किन्तु ऐसे बच्चे बहुत कम ही होते हैं। अधिकांश बच्चे तो साथी बना कर प्रसन्न ही होते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि अधिकतर बच्चों में समाजप्रिय होने की तथा मित्रता स्थापित करने की प्रवृत्ति आरम्भ से ही होती है। आयु के साथ ही साथ यह प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। हम लोगों की ही भाँति बच्चे भी शान्त, संयमी, बुद्धिमान् और पढ़ने-लिखने में चतुर मित्र पसन्द करते हैं। प्रायः आठ वर्ष की आयु से पन्द्रह वर्ष की आयु तक बच्चे अपने साथियों को ले कर अपना दल बनाने में बहुत प्रसन्नता से लगे रहते हैं। इस आयु में वे माता-पिता से अधिक साथियों के साथ रहने के इच्छुक होते हैं। यह मित्रता तीन वर्ष से पाँच या छः वर्ष के बच्चों की मित्रता से अधिक दीर्घायु होती है। इसी आयु में बच्चे दलपति बनते हैं। प्रायः बच्चे उसी को दलपति मानते हैं जो उन सब से अधिक शरारती किन्तु पढ़ाई में तेज़ हो और उन्हें हँस-हँसा कर प्रसन्न रख सके तथा उत्साहित करता रहे। दूसरी ओर वह बालक भी जो शारीरिक शक्ति अथवा अन्य किसी ढंग से अपने साथियों को दबा सके, उन पर शासन कर सके, नेता बन जाता है। नेता बनने के लिए इन दिनों बहुत से साथियों की आवश्यकता नहीं होती है। मित्र दल छोटे होते हैं और नेता भी उन छोटे ही दलों का अगुआ होता है। प्रायः दूसरी श्रेणी के सत्तावादी बालनेताओं को अपनी प्रवृत्ति और अपना स्वभाव कुछ ही दिनों पश्चात् साथियों के दबाव से बदलना पड़ता है। इसी समय बालक पढ़ाई के अतिरिक्त खेलों में भी दिलचस्पी लेने लगते हैं और वह बालक जो कि खेल में बहुत चतुर होता है अन्य बालकों का प्रिय बन जाता है।

यही नहीं कि बालकों में केवल मित्रता ही होती है उनमें कभी-कभी झगड़े भी हो जाते हैं। झगड़े और अप्रसन्नता के कारणों की भी कमी

नहीं होती है। किसी एक ही खिलौने पर दो बच्चों की दृष्टि होना, किसी ऐसे खेल को आरम्भ कर देना जो कि दूसरे को पसन्द नहीं है, आदि झगड़े के कारण बन सकते हैं। सम्भवतः झगड़े करना भी बालक पसन्द करते हैं। बालक जिस प्रकार मुसकराना, हँसना और खेलना पसन्द करता है; उसी प्रकार कभी-कभी वह दाँत से काटने, दूसरे बच्चों को चिढ़ाने, खिझाने और मारने द्वारा भी आनन्द प्राप्त करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह झगड़े-टंटे भी कुछ ही देर तक रहने वाले होते हैं। बालक शीघ्र ही, यहाँ तक कि कभी-कभी पाँच मिनट बाद ही इन झगड़ों को, उनके कारणों को, भूल जाते हैं। साथ ही साथ उनमें सहानुभूति की भावना का भी उद्रेक होता है। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते जाते हैं उनके झगड़े भी बढ़ते ही जाते हैं किन्तु साथ ही साथ मित्रों के प्रति प्रेम की भावना भी जड़ पकड़ती जाती है। कभी-कभी तो इस आयु के बने हुए मित्र सारे जीवन ही मित्रता की डोरी में बँधे रहते हैं। जैसे ही बालक पूर्ण यौवन तक पहुँचते हैं झगड़े घटने लगते हैं क्योंकि तब तक बालक साथियों की बातें सहना और उनके साथ निबाहना सीख लेता है किन्तु जो बालक ऐसा नहीं कर पाते हैं वे समाज में कभी-कभी अपने आप को ठीक-ठीक बैठा नहीं पाते हैं। इसी आयु में अर्थात् आठ और बारह तेरह वर्ष के बीच की आयु में बालकों के दलों में भी मतभेद और लड़ाई-झगड़े हो जाते हैं। इसी आयु में बालक दल के नियमों में रहना अथवा दल से प्रेम करना तथा अपने आपको दल में ही मिला देना सीखते हैं। कभी कभी माता-पिता और अध्यापकों के लिए बच्चों के झगड़े एक कठिन समस्या सी बन जाते हैं। मैंने माताओं को अक्सर शिकायत करते सुना है कि उनके बच्चे बड़े झगड़ालू हैं, आपस में तथा अन्य बालकों से खेलने भी दौड़ते हैं और फिर लड़ते और रोते भी हैं। माताएँ ऐसे अवसरों पर या तो अपने बालकों को डाँट-फटकार देती हैं या फिर दूसरे बच्चों को डाँट कर या मार कर उनकी माताओं से झगड़ा मोल ले लेती हैं। परिणाम यह होता है कि दोनों माताओं में झगड़ा हो जाता है और प्रायः बहुत देर तक अनबन रहती है किन्तु बच्चे कुछ ही देर पश्चात् फिर पहले ही की भाँति मिल-जुल कर खेलने लगते

हैं। अतः माताओं को बच्चों के झगड़ों में बिलकुल ही नहीं पड़ना चाहिए। बालक अपने लड़ाई-झगड़े स्वयं बहुत अच्छी तरह निपटा सकते हैं। स्वयं अपने झगड़े निपटाने से वह अपनी बात सुनाना तथा दूसरों की सुनना भी सीखते हैं और संसार में रहने के लिए आवश्यक दूसरों की उचित और अनुचित बातें सहना भी सीख लेते हैं। जिन बच्चों की माताएँ सदा ही बच्चों की आड़ ले कर उन्हें बचा देती हैं वे बच्चे परमुखापेक्षी और माँ पर आश्रित बन जाते हैं। जीवन में कठिनाइयों का परिचय उन्हें आगे चल कर होता है। समस्त जीवन एकाकी रह कर तो चल सकता ही नहीं है। यद्यपि बालकों के प्रारम्भिक खेल एकाकी ही होते हैं फिर भी कुछ ही वर्षों अथवा मासों के पश्चात् उन्हें साथियों की आवश्यकता पड़ती है और वह आवश्यकता सम्भवतः फिर सारा जीवन ही रहती है। जब एक बार बच्चा साथियों के साथ खेलना आरम्भ कर देता है तो फिर उसे एकाकी खेलने में आनन्द ही नहीं आता है। यहीं से बालक का सामाजिक जीवन और उसका विकास होना आरम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे बालक न केवल साथी ही चाहता है वरन् ऐसे साथी चाहता है जो कि उसकी बातें सुन कर मान भी सकें। अब उसे ऐसे खेल भाते हैं जिनमें वह इच्छानुसार अपनी बुद्धि का प्रदर्शन कर सके तथा प्रबन्ध करने की योग्यता भी दिखा सके। उसे ऐसे खेल अथवा काम भी अब अधिक पसन्द आते हैं जिनमें कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके तथा उसका बुद्धिपूर्वक उपयोग भी कर सके।

बच्चे के ठीक-ठीक सामाजिक विकास के लिए उसका स्वस्थ होना आवश्यक है। शरीर के अस्वस्थ होने से बालक सुस्त और चुप रहता है जिससे कि वह अन्य बच्चों के साथ हिल-मिल नहीं पाता है। यों भी शरीर और व्यक्तित्व का बालक के सामाजिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त बालक के जीवन और चरित्र के निर्माण में परिवार, पारिवारिक जीवन और व्यक्ति तथा बालक की पाठशाला भी अपना स्थान रखते हैं। बालक का अपने परिवार में एक स्थान होता है और वह उसके बाह्य जीवन को भी प्रभावित करता रहता है। उदाहरणार्थ—विधवा

माँ का अकेला बच्चा प्रायः ठीक ढंग से चरित्र का निर्माण नहीं कर पाता है। धनी माता-पिता के बच्चे जिन्हें अधिक धन, लाड-प्यार और सेवा मिलती है, चरित्र की दृष्टि से उन्नत नहीं हो पाते हैं। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है। विश्व में आकर बालक यदि शरीर से स्वस्थ हो तो जिज्ञासु, सरल और सामाजिक जीव बन जाता है। प्रारम्भ से ही उसे स्नेह मिलता है और वह स्नेह देता भी है। बहुत बार नन्हें बच्चे इसलिए रोते देख गये हैं कि माता बीमार है। एक दिन एक छोटी बालिका ने अपने पिता से कहा—'पिता जी, धूप लगती है, तांगा ले लो।' पिता ने लाचारी से कहा—'बेटा, हम लोग अमीर नहीं हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं कि ताँगा करूँ।' लड़की को प्रातः काल ही माँ से दो पैसे बहुत रो-धोकर मिले थे। पिता के लिए लड़की ने बड़े उत्साह से उनका त्याग करना स्वीकार कर लिया और कहने लगी—"पैसे मैं देती हूँ, तुम ताँगा ले लो। माँ कहती है कि तुम्हें धूप में पैदल नहीं चलना चाहिए।" पिता हँस दिये किन्तु बालिका में स्नेह और त्याग भावना की साढ़े चार वर्ष की आयु में भी कमी न थी। घर में छोटे भाई या बहन के हो जाने से बालक के लिए थोड़ी सी कठिनाई अवश्य उपस्थित हो जाती है जिसकी ओर कि हम संकेत कर चुके हैं। सबसे अधिक कठिनाई का सामना बालक को उस समय करना पड़ता है जब कि वह स्कूल में भेजा जाता है। अभी तक तो सारे घर, परिवार के व्यक्ति उसी पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते थे, उसे आदर-सम्मान भी देते थे किन्तु स्कूल में आ कर अवस्था भिन्न हो जाती है। अब उसे कोई पूछता भी नहीं। घर पर उसने देखा था कि सब कोई उसके पिता को आदर की दृष्टि से देखते हैं, उनकी आज्ञा मानते हैं। बालक की दृष्टि में अभी तक मान्य व्यक्ति पिताजी थे। वही पिताजी मास्टरजी से बड़े आदर के साथ बात-चीत करके बालक को उनके पास छोड़ कर चले जाते हैं। बालक के लिए यह सब कुछ नवीन है। अब उसे अपने आप को एक ऐसे वातावरण के अनुकूल बनाना है जिससे उसका कभी का भी परिचय नहीं है। जहाँ उसका कोई विशेष स्थान नहीं है, जहाँ उसे कोई भी घर की तरह प्यार नहीं करता है, वहीं उसे प्रतिदिन आना है। बच्चों के लिए यह एक समस्या बन जाती है कि किस प्रकार वातावरण के अनुकूल अपने आपको बनाया

जाय। जो बच्चे अपने आपको स्कूल के वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं वे साधारणतया स्कूल जाना पसन्द करते हैं। स्कूल में उन्हें अन्य बच्चे साथी और मित्र के रूप में मिल जाते हैं। वे बच्चे जो घर पर बहुत अधिक लाडले होते हैं अथवा किसी कारण से अपने आपको स्कूल के वातावरण के अनुरूप नहीं बना पाते, घर आ कर रोने लगते हैं, स्कूल जाना नहीं चाहते हैं। स्कूल न जाने पर माता-पिता डाँटते-फटकारते और मारते हैं जिससे बच्चे के लिए स्कूल का अर्थ उत्तरोत्तर भयंकर होता जाता है और दिनों-दिन स्कूल से उसकी घृणा बढ़ती जाती है। अतः न तो वह पढ़ाई में ही अच्छा हो पाता है और न स्कूल में अपना सामाजिक जीवन ही ठीक ठीक विकसित कर पाता है। रोने वाले बच्चे के माता-पिता को चाहिए कि मारपीट कर स्कूल न भेजें वरन् स्कूल को उसके लिए अधिकाधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने में अध्यापकों का भी सहयोग आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता है और बालक को बरबस स्कूल जाना ही पड़ता है तो उसकी स्कूल न जाने की दबाई हुई इच्छा उसे कहीं न कहीं कष्ट अवश्य देती है। वह या तो दबे हुए बन्द व्यक्तित्व का विकास करता है और या हर समय बड़बड़ाने वाला पर-निन्दा करने वाला चिड़चिड़ा व्यक्ति बन जाता है। कभी-कभी परिणाम स्वहीनत्व भावना (Inferiority complex) की उत्पत्ति के रूप में भी प्रकट होता है जो कि यावज्जीवन बालक की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बन कर अटक जाता है। अतः यथासम्भव बालक को इस मनोग्रन्थि (complex) से बचाना चाहिए। माता और अध्यापिकाओं का प्रयत्न यही होना चाहिए कि बालक अपने आपको हर प्रकार के वातावरण के अनुकूल बनाना सीख ले क्योंकि जीवन में इसकी बड़ी भारी आवश्यकता पड़ती है। वही व्यक्ति जीवन में सफल हो सकता है जो कि वातावरण के अनुरूप बनना भली प्रकार जानता है, और बन सकता है। यह बात बालक को अन्य बालकों से पृथक् रख कर सिखाई नहीं जा सकती है। माता को चाहिए कि बालक के लिए अन्य बालकों के साथ खेलने की अधिक से अधिक सुविधा उपस्थित करे तथा उसे स्कूल में अवश्य भेजे, ताकि अन्य बालकों से मिलजुल कर बालक का चरित्र ठीक ढंग से विकसित हो

सके। बालक को नैतिक जीवन और विचारों की प्रारम्भिक शिक्षा भी खेल तथा स्कूल में अन्य बालकों के साथ रख कर ही दी जा सकती है। बच्चों को अपने साथियों को अपने घर बुलाने और उनकी खातिर करने तथा उनके घर जाने की भी स्वतंत्रता होनी चाहिए। स्कूलों में बाल-सभा आदि संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए जहाँ कि बच्चे एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आ कर अपने गुणों का विकास कर सकें तथा समाज में अन्य लोगों के साथ रहना और सम्बन्ध निबाहना सीख सकें। बच्चों को अपनी सभाओं आदि का प्रबन्ध स्वयं करने देना चाहिये ताकि उन्हें प्रबन्ध करना भी आ जाये।

बालक के चरित्र-निर्माण और मानसिक विकास पर उसके परिवार की प्रथाओं, संस्कृति और विचारधारा का भी प्रभाव पड़ता है। यथासम्भव माता-पिता को अपनी विचारधारा और संस्कृति वैसी ही बनानी चाहिए जैसी कि वह अपने बच्चे के सम्मुख आदर्श रूप में रखना चाहते हैं। जुआ खेलने वाला पिता बच्चे को कितने ही उपदेश दे कर भी जुआरी बनने से रोक नहीं सकता है। कर्कशा माता अपनी लड़की के सुभाषिणी होने की आशा नहीं कर सकती है। बालक के आदर्श सुने हुए उपदेश न हो कर जीवित व्यक्ति होते हैं। बालक का व्यवहार आरम्भ में आज्ञा पालन करने के रूप में नैतिक कहा जा सकता है। माता अथवा अन्य व्यक्ति जिन कामों की प्रशंसा करते हैं बालक उन्हीं को उचित समझ लेता है और करने लगता है। जिन कामों की वह निन्दा सुनता है उन्हें वह करना नहीं चाहता है; किन्तु इनमें प्रशंसा और निन्दा के साथ ही साथ आनन्द और दुःख का सम्मिश्रण भी आवश्यक है। कुछ दिनों पश्चात्, लगभग स्कूल की आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते, बालक में विवेक-बुद्धि का विकास होना आरम्भ हो जाता है। अब वह कुछ काम इसलिए नहीं करता है कि उससे प्रशंसा मिलती है वरन् इसलिए करता है कि वह न केवल समाज द्वारा अच्छे माने गये हैं बल्कि अच्छे हैं। इसके साथ ही साथ उसमें भले के लिए प्रशंसा और बुरे के लिए निन्दा की भावना भी जाग्रत होती है। बालक की अपनी तर्क-बुद्धि तो होती ही है किन्तु उसी के बल पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि बालक के कर्म

नैतिक विचार पूर्ण बौद्धिक प्रेरणा के फल होते हैं। बालक अभी उस प्रकार की प्रेरणा तक नहीं पहुँच पाता है। बालक की प्रेरणाएँ अधिकतर भावनात्मक ही होती हैं, बौद्धिक नहीं। अतः बालक के किसी काम को देखते ही उसकी प्रेरणा जाने बिना एकदम भला अथवा बुरा कह कर नैतिक निर्णय नहीं दे देना चाहिये। यथासम्भव उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचाने से बचाते हुए उसे उचित मार्ग दिखाना चाहिये। एक बालिका अपनी माता को एक झूठी बात सुना रही थी। माता शान्तिपूर्वक सुनती, विश्वास प्रकट करती रही। जब छः वर्ष की बच्ची अपनी बात कह चुकी तो माता ने उसे जनवरी की ठंढी रात में नौ बजे बिस्तर से उठ कर साबुन से जिह्वा धो डालने को विवश किया। कारण पूछने पर माता ने बड़े प्रेम से कहा—"बेटा, तुमने झूठी बात कही है न! उससे जिह्वा गन्दी हो गई; छिः बस धो डालो। साफ हो जायेगी।" सम्भवतः बालिका ने जीवन में फिर कभी झूठ नहीं बोला होगा क्योंकि निषेध की विधि सुन्दर और सरल थी।

चरित्र-निर्माण में ज्ञान, आदतों और लक्ष्य का भी बड़ा भारी हाथ है। किसी भी व्यक्ति का चरित्र उनके ज्ञान से ही आँका जा सकता है। बालकों को जो कुछ पढ़ने के लिए दिया जाय अथवा जो भी कुछ वे सुनें सीखें, वह उनके चरित्र-निर्माण में बहुत कुछ काम देता है। अतः यथासम्भव बालकों को उचित ज्ञान ही देना चाहिए। जो पुस्तकें वे पढ़ें अथवा जो कहानियाँ उन्हें सुनाई जायें अथवा जो बातचीत उनके सम्मुख की जाये वह उसी तरह की होनी चाहिए जिससे उनका चरित्र निर्मल और उज्ज्वल बन सके। यही नहीं, बालक में जो-जो और जिस तरह की आदतें पड़ रही हों उन पर बड़ी सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए ताकि वह आगामी जीवन में चल कर उन्हीं आदतों को ले कर दुःखी न हों। वास्तव में चरित्र आदतों से मिल कर ही तो बनता है। यदि बालक आरम्भ से ही सत्यवादी, नम्र, ईमानदार और मानव-प्रेमी हो तो उसका चरित्र निर्मल गिना जाएगा। बालकों को चरित्र-निर्माण सम्बन्धी उपदेश कभी भी नहीं देने चाहिए। वास्तव में माता को बालक के मन में उपदेश के मार्ग से नहीं वरन् धीरे-धीरे सस्नेह बातचीत और अनुकूल

वातावरण बना कर ही अच्छी आदतों के लिए स्थान बनाना चाहिए। यद्यपि बालक को चोरी, ठगी, झूठ बोलने आदि से सर्वथा अपरिचित नहीं रखना चाहिए किन्तु यह सब बालक के मन के सम्मुख ऐसे रूप में उपस्थित करने चाहिए कि बालक के मन में उनके प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो सके और वह उनसे दूर ही रहे। बाल्यावस्था में यथासम्भव बालकों को सत्य आदि के विषय में अप्रत्यक्ष रूप से स्नेह उत्पन्न कराने का प्रयत्न व्यर्थ ही सा होता है क्योंकि उनके लिए अप्रत्यक्ष के लक्षण समझ पाना प्रायः कठिन ही होता है। उचित यही है कि उन्हें दैनिक व्यवहार में सत्यवादी अथवा मानवप्रेमी अथवा ईमानदार होने की आदत डलवाई जाय। यही उसके लिए आसान भी होगा और उससे उसका चरित्र-निर्माण भी पूरी तरह हो सकेगा। बालक को सत्य-प्रिय, अहिंसक तथा अन्य सद्गुणों का आगार बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापिका अथवा माता स्वयं भी अपने चरित्र को उसी प्रकार ढाल सकें।

यही नहीं, प्रारम्भ से ही बालक के सम्मुख जीवन का एक लक्ष्य होना चाहिये। यह सत्य है कि बहुत ही कम आयु में वह लक्ष्य अत्यन्त अस्पष्ट-सा होगा किन्तु धीरे-धीरे आयु के बढ़ने के साथ-साथ, संसार का अनुभव बढ़ने के साथ ही साथ वह लक्ष्य भी स्पष्ट होता जायेगा। माता बालक को विभिन्न चरित्र वाले विश्वनायकों की कथाएँ सुना-सुना कर उसमें किसी एक चरित्र के लिए, चाहे वह किसी देशभक्त का हो अथवा ईश्वर-भक्त का अथवा मानवप्रेमी का, प्रेम उत्पन्न कर सकती है और वही चरित्र अथवा उस ढंग का चरित्र बालक के लिए आदर्श बन सकता है। उस आदर्श तक पहुँच पाना ही उसका लक्ष्य बन जायेगा। बालक को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए माता को कुछ कठोर भी होना ही पड़ेगा। प्रायः देखा गया है कि जिन बच्चों की बाल्यकाल से ही बहुत अधिक देखभाल की जाय वे प्रायः आश्रित से ही बन जाते हैं। बालक का रोना सुनते ही यदि तुरन्त उसे गोदी में उठा लिया जाये अथवा उसकी पीठ थपकाना आरम्भ कर दिया जाये तो वह प्रायः रोना अपनी आदत बना लेगा क्योंकि इस प्रकार उसे स्नेह और दूसरों का अपना होना, अधिक

आकर्षण तथा देख-भाल प्राप्त होगी। कभी-कभी अधिक ध्यान आकर्षित करने के लिए अथवा स्कूल जाने से छुटकारा प्राप्त करने के लिए बालक रोगी होने का बहाना करना भी सीख जाते हैं। माता को चतुरता से यह आदत छुड़ानी चाहिये। प्रायः स्कूल जाने के समय कई बच्चों के सिर या पेट में दर्द होने लगता है। जल्दी घबरा जाना और डरे हुए से रहना भी कई बच्चों की आदत बन जाती है। ऐसी अवस्था में माता को प्यार और आदर से काम लेना चाहिये तथा अन्य गुरुजनों को भी बालक का स्नेह और विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। बालक आज्ञा का पालन करता है किन्तु स्नेह के संकेतों पर चल कर उन संकेतों के पीछे छिपे हुए आदर्शों को बिना जाने हुए ही मनप्राण से ग्रहण करता जाता है और यही आवश्यक भी है। बालक सहज विश्वासी और भोला होता है। माता तथा दयालु गुरुजनों पर उसका सहज विश्वास और सरल स्नेह होता है। उसी के बल पर बच्चे को स्वतन्त्र विचारवान् तथा शिव-शुभ स्वभाववान आसानी से बनाया जा सकता है।

व्यक्तित्व—वस्तुतः व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सब ही गुणों का सम्पूर्ण रूप होता है। उसका शरीर, उसकी वेशभूषा, उसकी बोलचाल, उसका व्यवहार आदि सब उसके व्यक्तित्व का ही अंश होते हैं और वह जो कुछ भी है उसके सम्पूर्ण रूप को ही उसका व्यक्तित्व कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति में जन्मगत प्रतिभा भी होती ही है और वह अपने आप ही प्रकाशित भी हो जाती है किन्तु फिर भी, उसके अतिरिक्त भी अन्य बहुत से गुणों को विकसित करने के लिए तथा उस प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा को भी विकसित करने के लिए बाल्यकाल में उचित वातावरण की आवश्यकता होती है। यही नहीं, रुचिनिर्माण भी बाल्यकाल में ही होता है। अतः शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं चारित्रिक सब प्रकार का विकास बाल्यकाल में ही होना आरम्भ हो जाता है और उसी काल की पड़ी नींव पर भविष्य में भी विकास हो पाता है। इसीलिए माता-पिता को बालकों का बाल्यकाल में बहुत ध्यान रखना चाहिये। यूँ तो परिवार के सब व्यक्तियों का प्रभाव बालक पर पड़ता है किन्तु बालक के सर्वाधिक निकट माता होती है। अतः बालक

माता का हर प्रकार से अनुसरण करना चाहता है। माता उसके मानसिक उठान में भी पर्याप्त सहायता दे सकती है। माता ही चाहे तो बालक को बना सकती है और यदि वही चाहे तो बालक को बिगाड़ भी सकती है। अन्य व्यक्तियों का भी उसके व्यक्तित्व के निर्माण में पर्याप्त हाथ होता है। बाल्यकाल में पड़ा हुआ स्वभाव प्रायः व्यक्तितत्व का बड़े हो कर भी विशेष अंग बना ही रहता है। अतः परिवार के सब सदस्यों को बालक के सम्मुख वह आदर्श उपस्थित करना चाहिए जो कि वह बालक को बनाना चाहते हों।

अध्याय २

बाल्यकाल तथा जीवन

बाल्यकाल और जीवन—वस्तुतः जीवन का एक नन्हा सा काल्पनिक मानचित्र तो व्यक्ति बाल्यकाल में ही बना लेता है। बच्चे माता और पिता को एक ही घर-परिवार में रहते देखते हैं और वे स्वयं भी उन्हीं की भाँति अनजाने ही बनने की कल्पना करते हैं। वस्तुतः हम किसी न किसी संस्कृति को ले कर रहते हैं और बच्चे उसी संस्कृति को जान कर अथवा अनजाने ही, अधिक सम्भावना तो यही मान लेने की है कि अनजाने ही ग्रहण करते जाते हैं। फिर तो उनका भी उन्हीं संस्कृति प्रतिमानों अथवा उनमें से चुने हुए किसी संस्कृति प्रतिमान पर चलना सरल हो जाता है। नन्हीं बालिका माता को अपने बच्चों को प्यार दुलार करते देखती है। उनके लिए भोजन बनाते, कपड़े सीते तथा घर सजाते हुए देखती है और ठीक उसी ढंग पर वह अपनी गुड़िया के लिए झूठ-मूठ भोजन बनाती, कपड़े सीती और घर सजाती है, उन्हें प्यार-दुलार करती है। वह अपने घर और बाल-बच्चों की कल्पना करती है और कुछ बड़े होते-होते उसके निकट वह आदर्श, वह संस्कृति प्रतिमान और भी अधिक स्पष्ट होता जाता है और उसका सारा जीवन ही उस संस्कृति प्रतिमान के अनुरूप बनता जाता है तथा उसके साथ-साथ चल कर ही उसका व्यक्तित्व बनता जाता है।

बाल्यकाल के आरम्भ में बालक एकाकी होता है। वह अपने ही दुःख, सुख, स्वार्थ आदि पर दृष्टि रखता है किन्तु ऐसी अवस्था सदा सर्वदा तो रह पाती ही नहीं है। बालक तनिक सा ही बड़ा होता है कि घर में एक अन्य नवीन बालक का जन्म हो जाता है। अब इस बालक को कुछ न कुछ त्याग तो करना ही पड़ता है। माता जो कि अब तक उसकी नितान्त अपनी, एक-बारगी अपनी थी, नन्हें बालक पर अधिक ध्यान देने लगती है। अतः बालक सामाजिक जीव बनने लगता है और अब हमें यह समझने की आवश्यकता है कि वह किस प्रकार सामाजिक जीव बन पाता है अथवा वह उस संस्कृति प्रतिमान को ग्रहण करके पूर्णतया अपना किस प्रकार बना लेता है जो कि उसके परिवार द्वारा ग्रहण किया हुआ संस्कृति प्रतिमान है। इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेना गृहिणी के लिए हितकर ही होता है।

संस्कृति प्रतिमान अथवा व्यक्तित्व श्रेणी बहुत कुछ पारिवारिक परि-स्थितियों पर निर्भर होता है और इनमें भोजन, जलवायु, देश-विधि, प्रथा, परम्परा, प्रचलन, वातावरण, आर्थिक स्थिति, धार्मिक विचार एवं विश्वास, कला, नैसर्गिक संस्कार आदि सब को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें से किसी भी एक को लेकर व्यक्तित्व श्रेणी की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

बालक जन्म से ही मानव नहीं होता है। इस समय तो वह एक पशुमात्र ही होता है किन्तु उसमें मानव बनने के लिए, व्यक्तित्व का विकास करने योग्य सब गुण बीज रूप से रहते ही हैं। उनके विकास की दिशा और सफलता पर ही उसका व्यक्तित्व आश्रित होता है। बालक यद्यपि जन्म-काल में एक नन्हा सा जीव मात्र ही होता है किन्तु जिस वातावरण में वह उत्पन्न होता है वह तो किसी न किसी संस्कृति का प्रतिमान होता है। बालक का जन्म भी तो दो व्यक्तियों के मिलने के फलस्वरूप ही होता है। यही नहीं, जीवन भर वह व्यक्तियों के सम्पर्क में रहता है और उसका अन्तः सम्बन्ध उनसे बना ही रहता है।

मानव-व्यक्तित्व और उसकी सीमाएँ—उसके व्यक्तित्व का विकास तो होता है किन्तु वह सीमित ही होता है। उसकी सीमाएँ होती हैं उसका

अपना प्राकृतिक स्वभाव, बाह्य जगत, वह संस्कृति जिसमें कि उसने जन्म लिया है। वस्तुतः यह तीनों तत्त्व भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये तत्त्व उसे प्रभावित करते भी है और किसी न किसी मात्रा में भले ही वह न्यूनातिन्यून हो, उससे प्रभावित होते भी हैं। नैसर्गिक गुण आदि तथा वातावरण दोनों ही परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और दोनों पर दृष्टि रखे बिना काम चल ही नहीं सकता है। बाह्य जगत अर्थात् प्रकृति से सम्बन्धित सीमाएँ तो मानव ने वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा बहुत कुछ न्यून कर दी हैं। यहाँ तक कि मानव 'प्राण' भी वैज्ञानिक रीति से उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। इनके अतिरिक्त स्वयं उसके अपने प्राकृतिक स्वभाव से सम्बन्धित गुण आदि भी तो हैं ही। इन्हीं को सँभालना मानव के लिए कुछ कठिन हो जाता है। मानव के हाथ, उसका अँगूठा, चलते समय उसके दोनों हाथों का खाली रहना, सिर, घूम सकने वाली आँखें, गर्दन का चारों ओर घूम सकना, श्रवण शक्ति की तीव्रता और विभिन्न शब्दों में भेद कर सकने की योग्यता, मस्तिष्क और तत्सम्बन्धी क्रियाओं की अपूर्व योग्यता और शक्ति, पुट्ठों आदि की भी विशेष योग्यतापूर्ण क्रियाएँ कर सकने योग्य व्यवस्था, बोलने की शक्ति और तत्सम्बन्धी जटिल किन्तु बहुत ही सुन्दर व्यवस्था आदि शारीरिक व्यवस्थाओं एवं शक्तियों ने मानव को अन्य पशुओं से कहीं अधिक कुशल और योग्य बना दिया है। यह न भी माना जाय तो इतना तो मानना ही होगा कि इन गुणों के कारण मानव अन्य पशुओं से भिन्न अवश्य है और उसकी वह भिन्नता ही उसे अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक उन्नत और कुशल बना देती है। सम्भवतः अन्य पशुओं की अपेक्षा उसके बड़े होने में जो अधिक समय लगता है, वह भी उसके उन्नत, उच्च और कुशल विकास का द्योतक होता है।

यद्यपि अन्य पशु भी किसी न किसी सीमा तक मनुष्य के कुछ विशेष गुणों को रखते हैं, जैसे कि सीख सकना, बुद्धि, चेतना, नैतिकता आदि किन्तु इन सब के होते हुए भी मानव की कुछ एक जातीय एवं बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ उसे अन्य पशुओं से भिन्न करती हैं और यही उसका महत्त्व है। यह तो ठीक ही है कि मानव में कुछ शारीरिक प्राकृतिक विशेषताएँ हैं। यह

भी सत्य है कि इन्हीं विशेषताओं के कारण वह अन्य पशुओं से भिन्न जान पड़ता है और इन्हीं विशेषताओं का विकास और रूपान्तर विभिन्न संस्कृतियों की सृष्टि करता है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इन प्राकृतिक शारीरिक गुणों (biological traits & factors), विशेषताओं का सांस्कृतिक रूपान्तर अथवा इन्हें सांस्कृतिक ढाँचे में ढालना व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शरीर के प्राकृतिक गुण-धर्म तो सब बालकों में एक ही से होते हैं और उनसे लाभ उठाने की बीज रूप में शक्ति भी सब में एक-सी होती है किन्तु उसे सांस्कृतिक ढंग पर विकसित करना ही तो व्यक्तित्व का निर्माण करना है। ये शारीरिक गुण-धर्म, प्राकृतिक विशेषताएँ मानव की विजय को, उसकी शक्ति को, उसकी प्राप्ति को सीमित तो करते हैं किन्तु वे उसकी सफलता को अथवा उसके कार्य-क्षेत्र के चुनाव आदि को निश्चित एवं निर्धारित नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये तो प्रायः सब ही व्यक्तियों में लगभग मिलते-जुलते से ही होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कार्य-क्षेत्र के चुनाव और सफलता में व्यक्ति की बुद्धि और उसका प्रकार, शारीरिक शक्ति, प्रतिभा आदि भी बहुत कुछ महत्त्व रखते हैं। इसी कारण आज दिन बुद्धि-परीक्षण आदि बालक के लिए शिक्षा-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र का चुनाव करने में सहायता देने के उपयोग में लाए जाते हैं किन्तु केवल बुद्धि की तीव्रता और कुशाग्रता ही किसी भी व्यक्ति के जीवन की सफलता का कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि उस व्यक्ति की रुचि, उसका स्वास्थ्य, जीवन का लक्ष्य, उसका उद्देश्य, शिक्षा, पारिवारिक सामाजिक स्तर, जीवन में प्राप्त होने वाले अवसर और वे सब प्रभाव जो कि उसके मानसिक एवं व्यक्तित्व के सब प्रकार के विकासों को प्रभावित करते हैं, आदि भी उसके जीवन की सफलता अथवा असफलता को हर प्रकार से प्रभावित करते रहते हैं। सब व्यक्तियों में मानवीय शारीरिक प्राकृतिक एक-सी विशेषताएँ होते हुए भी कुछ तो बुद्धि की कुशाग्रता एवं किसी प्रकार की प्रतिभा सम्बन्धी भिन्नताएँ होती ही हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की विभिन्न व्यक्तिगत योग्यताएँ भी होती हैं और विभिन्न सांस्कृतिक वातावरण तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत इतिहास भी तो

होता ही है। एक ही घर-परिवार में एक ही माता-पिता की पहली और दूसरी सन्तान का वातावरण ठीक-ठीक एक-सा ही नहीं होता है। पहले बालक के जन्म-काल से ही माता-पिता की रुचि उसमें अधिक हो सकती है और दूसरी सन्तान के उत्पन्न होने तक रुचि न्यून भी हो सकती है। यही नहीं, यह भी तो सम्भव है कि प्रथम सन्तान के जन्म-काल में माता-पिता की आर्थिक स्थिति दूसरी सन्तान के जन्म-काल से भिन्न हो, आदि आदि।

सब ओर दृष्टि रखते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सब प्रकार के व्यवहार आदि का एक ऐसा प्रतिमान है जो कि वह अपने बाह्य, शारीरिक एवं आन्तरिक तथा सब प्रकार के प्राप्त सांस्कृतिक वातावरण से होने वाले क्रिया-प्रतिक्रिया आदि सम्बन्धों से धीरे-धीरे ग्रहण अथवा उनके द्वारा निर्माण कर लेता है और ऐसा करते हुए वह कुछ अन्य इसी प्रकार से निर्मित व्यक्तित्वों से भी अन्तः सम्बन्ध रखता है जो कि अन्तःक्रियाओं द्वारा इस प्रकार के निर्माण अथवा विकास में सहायता करते हैं। इस प्रकार का व्यक्तित्व संस्कृति का फल तो होता है किन्तु स्वयं भी संस्कृति के निर्माण में अथवा उसके संस्कार में सहायता देता है। इस प्रकार की सहायता देना मानव के लिए तो और भी अधिक सुलभ है क्योंकि वह भाषा रखता है और अपने विचारों को प्रकट करके बहुत कुछ कार्य कर सकता है।

व्यक्तित्व के सांस्कृतिक आधार—बालक बाल्य काल से ही अपने व्यक्तित्व का विकास अथवा निर्माण करने लगता है। यद्यपि बड़े हो कर जीवन-क्षेत्र में आ जाने तक उसके व्यक्तित्व का एक प्रकार से निर्माण हो जाता है किन्तु यह निर्माण पूर्ण नहीं हो जाता है। यूँ तो व्यक्ति जब तक जीवित रहता है व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से कुछ न कुछ ग्रहण करता ही रहता है फिर भी उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वप्रथम आधार तो परिवार ही है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि परिवार का बालक के व्यक्तित्व के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। साधारणतया बालक परिवार में जन्म लेता है और परिवार के आस-पास सम्बन्धियों के अतिरिक्त मित्र, पड़ौसी आदि तो होते ही हैं, कुछ सांस्कृतिक सम्पत्ति भी होती है, जैसे कि दन्तकथाएँ, पूर्वजों की गाथाएँ

परम्पराएँ, धार्मिक विश्वास, विचार-धाराएँ आदि। इनसे तथा बाह्य वातावरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों से बालक निरन्तर ही प्रभावित होता रहता है। यद्यपि किसी भी सांस्कृतिक प्रतिमान के भीतर रहने वाले परिवारों में बहुत कुछ एकता होती है किन्तु प्रत्येक परिवार की कुछ निजी विशेषताएँ भी होती ही हैं। यूँ तो हम परिवारों को उच्च, मध्यम और निम्न-श्रेणी में विभाजित करके देख सकते हैं। इस प्रकार के विभाजन का आधार आर्थिक भी हो सकता है और अन्य किसी प्रकार का भी। प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण आर्थिक दृष्टि से निम्न श्रेणी में आयेगा किन्तु उसे सर्वश्रेष्ठ वर्ण माना है और सम्भवतः इस प्रकार के विभाजन का आधार नैतिक एवं बौद्धिक था। आधार जो भी कोई हो, परिवारों को श्रेणीबद्ध करके उनके बालकों के व्यक्तित्वों के विषय में अनुमान लगाए जा सकते हैं किन्तु ऐसा करते हुए भी हमें यह कदापि न भूल जाना चाहिए कि परिवारों की तो अपनी विशेषताएँ होती ही हैं। एक ही परिवार में भी विभिन्न बालकों के लिए वातावरण विभिन्न प्रकार का हो सकता है।

व्यक्तित्व के विकास का दूसरा आधार है प्राथमिक और माध्यमिक समूह। प्राथमिक समूहों में अन्तःसम्बन्ध व्यक्तिगत और स्नेहपूर्ण होता है। वहाँ अन्तःसम्बन्ध किसी अन्य उद्देश्य के माध्यम के रूप में नहीं होते हैं वरन् उसका निजी महत्त्व होता है। परिवार, स्कूल, क्लब, मित्रता आदि ऐसे ही समूह होते हैं। ऐसी अवस्था में एक दूसरे को समझने की सुविधा होती है तथा एक दूसरे के प्रति हार्दिक स्नेह की भावनाएँ प्रसारित की जाती हैं। इस प्रकार की सामाजिकता कुछ सोच-समझ कर जान-बूझ कर नहीं बढ़ाई जाती है वरन् अनजाने, आलोचना आदि का विषय न हो कर केवल स्वीकार कर ली जाती है। यद्यपि यहाँ भी सत्ता, अधिकार आदि की चर्चा और उसका क्रियात्मक रूप रहता ही है किन्तु उसके साथ ही साथ रक्त-सम्बन्ध, हित-भावना अथवा स्नेह भावना भी रहती ही है।

माध्यमिक समूहों में सामाजिक अन्तःसम्बन्ध व्यक्तिगत नहीं होते हैं। उनमें स्नेह तो होता ही नहीं है, अधिकतर उपयोगिता का ही प्रश्न होता है। ये

अन्तःसम्बन्ध किसी उद्देश्य विशेष की ओर लक्ष्य करके चलते हैं। कूले के विचारानुसार प्राथमिक समूहों का सामाजिक निर्माण की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व होता है। यद्यपि इन समूहों में सामाजिकता को अभिव्यक्ति एवं प्रसार मिलता है किन्तु इन्हीं समूहों में ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, निजी महत्त्व की अत्यधिक भावना, असहिष्णुता आदि का भी जन्म होता है। बाहरी व्यक्ति को अपने शत्रु मान लेना भी कठिन नहीं होता है। अपने समूह अथवा समूह के सदस्यों को ही अकारण औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझने की भावना भी हो जाती है। माध्यमिक समूहों में इस भावना की तीव्रता में कुछ कमी होती है, उदार भावनाओं का प्रसार होता है और व्यक्ति एक ही दायरे में बन्द न रह कर औरों तक पहुँचने का भी प्रयत्न करता है। सब समूहों को प्राथमिक और माध्यमिक में नहीं बाँटा जा सकता है। कुछ समूहों में दोनों के गुण भी होते हैं। ये प्रायः दोनों के बीच के समूह होते हैं।

संस्थाएँ—समूह तो व्यक्तियों के वे दल हैं जो कि जाने और समझे जा सकते हैं किन्तु संस्थाएँ उनका अमूर्त रूप हैं। वे कोई न कोई उद्देश्य, लक्ष्य ले कर चलती हैं। सामाजिक संस्था वह विचार है जिसका कि जन्म इस तथ्य से होता है कि समूहों में आपस में प्रभेद है। प्रचलन और सांस्कृतिक सब ही गुण और काम-काज आदि का सम्पूर्ण जटिल रूप जो कि समूहों में अभिव्यक्ति तथा क्रियात्मक रूप पाता है, संस्था कहलाता है। बालक के लिए परिवार नामक संस्था में उसके सब लिखित और अलिखित नियमादि आदर्श का काम करते हैं। वस्तुतः बालक बड़ा होने पर कौन-सा सांस्कृतिक प्रतिमान ग्रहण करेगा और कौन से सांस्कृतिक प्रतिमान को अस्वीकार करेगा यह बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर होता है कि बाल्यकाल में उसके अनुभव कैसे और कौन से रहे हैं। यद्यपि बालक परिवार की सीमाओं से बाहर भी बहुत कुछ सीखता है किन्तु वह जो कुछ बाहर सीखता है उसे भी तो उसी रंग में रँग कर देखता है, प्राप्त करता है जो कि उसे परिवार से प्राप्त हुआ है। उदाहरणार्थ—वह बालक जो कि अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान था अपने परिवार में पूर्णतया स्वतन्त्र, निरंकुश शासक की भाँति सब पर शासन

करता है। सब लोग उसकी ज़िद सुनते और मानते हैं। पाँच वर्ष का होने पर जब यह बालक पाठशाला में जायेगा तो उसे वातावरण एकबारगी अपने परिवार के वातावरण से भिन्न ही मिलेगा और उसका व्यक्तित्व उस नवीन वातावरण और उसमें स्थित सब ही तथ्यों को अपने अब तक के अनुभवों द्वारा प्राप्त व्यक्तित्व से ही देखेगा। ऐसी अवस्था में उसके दुःखी होने की ही अधिक सम्भावना है क्योंकि उसका व्यक्तित्व इन नवीन परिस्थितियों से एकबारगी भिन्न है। यही नहीं, पाठशाला में एक बालक यह सुनता है कि सड़क पर कूड़ा, कचरा नहीं फेंकना चाहिए किन्तु घर पर वह माता को सदा खिड़की से गली में कूड़ा फेंकते देखता रहा है। अब बाहर वह जो कुछ सीखेगा उसे घर के अनुभवों द्वारा प्राप्त करने का ही तो प्रयत्न करेगा। वस्तुतः बाह्य विश्व में तो व्यवहार के प्रतिमान बहुत ही शीघ्र परिवर्तित होते रहते हैं जब कि परिवार में व्यवहार प्रतिमान अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील होते हैं। अतः बालक को अपने आपको इन शीघ्र परिवर्तनशील ज्ञान-विज्ञान-जन्य व्यवहार प्रतिमानों एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों से आनुकूल्य प्राप्त कराना पड़ता है और ऐसा करते हुए उसका व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल बन जाता है। प्रत्येक संस्कृति प्रतिमान उनके जीवन और व्यक्तित्व का एक अंश होता है। इस प्रकार उसका समूचा व्यक्तित्व इन सब विभिन्न सामाजिक व्यक्तित्वों को ले कर बनता है। बालक में विभिन्न व्यक्तियों से व्यवहार करने के लिए विभिन्न स्वभावजन्य अथवा चरित्र-जन्य अन्तःसम्बन्ध कर पाने योग्य व्यक्तित्वांश रहते हैं। बालक माता से हठ करता है, मचलता है किन्तु पिता से हठ नहीं करता है।

व्यक्तित्व के गुण—बालक को विभिन्न समूहों से व्यवहार करना होता है। विभिन्न समूहों की माँगें जिनकी कि पूर्ति बालक को करनी होती है, विभिन्न होती हैं। इन माँगों में विरोध भी होता है और यदि व्यक्ति उनमें किसी प्रकार का समझौता नहीं करा पाता है तो उसे बहुत ही अधिक मानसिक कष्ट होता है तथा उसे अपराधी का सा अनुभव भी होता है। इसी को 'अन्तर्द्वन्द्व' कहते हैं और इसी से विवेक अथवा सामाजिक विवेक का जन्म होता है। समाज द्वारा स्वीकृत और ग्राह्य व्यवहार विवेकपूर्ण व्यवहार माना

जाता है। यदि व्यक्ति जीवन के सब क्षेत्रों में अपने कर्तव्य कर्म बिना मानसिक कष्ट पाये ठीक-ठीक करता जाता है और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक शीघ्रतापूर्वक बिना किसी दुविधा और मानसिक कष्ट के ही आ जाता है, तो उसे साधारण मानव कहा जा सकता है। इसी प्रकार के व्यक्तित्व को समव्यक्तित्व कहा जाता हैं। व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत स्थिर, संगठित, सामाजिक ढंग से सुव्यवस्थित स्वभाव कहा जा सकता है। बहुत दूर तक तो सामाजिक रीति-नीति, प्रचलन, परम्परा आदि स्वभाव को सुव्यवस्थित, संगठित, स्थिर आदि करने में सहायक होते हैं। प्रायः बालक की सात आठ वर्ष की आयु से ही उसके व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। फिर भी मानव का शारीरिक एवं बौद्धिक तथा मानसिक ढाँचा परिवर्तनशील है। इसी कारण शिक्षा द्वारा उसमें आवश्यक परिवर्तन आदि भी लाये जा सकते हैं। वस्तुतः व्यक्तित्व के लिए तो स्वभाव में स्थिरता और परिवर्तनशीलता दोनों की ही पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है। स्थिरता न होने पर तो व्यक्तित्व बन ही नहीं पायेगा और परिवर्तनशीलता न होने पर व्यक्तित्व कुछ इतना अधिक अनुदार हो जायेगा कि उसमें आवश्यक परिवर्तन भी न हो सकेंगे। फलस्वरूप व्यक्ति बाह्य जगत में होने वाले आविष्कार आदि से समीकरण भी स्थापित नहीं कर पायेगा। ये दोनों गुण एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं हैं। इन दोनों गुणों के उचित मात्रा में किसी भी व्यक्ति में होने से उसका व्यक्तित्व इस योग्य होता है कि वह नवीन परिस्थितियों से सहज ही समीकरण एवं आनुकूल्य स्थापित कर सके जिसकी कि जीवन में समय-समय पर बहुत ही अधिक आवश्यकता पड़ती रहती है। व्यक्तित्व में स्थिरता और परिवर्तनशीलता के उचित सन्तुलन न होने पर व्यक्ति सरलता से व्यक्तित्वों और संस्कृतियों के साथ समीकरण एवं आनुकूल्य स्थापित नहीं कर पाता है और ऐसा किए बिना काम ही नहीं चल सकता है। इन दोनों गुणों में से किसी भी एक की आवश्यकता से अधिकता अथवा न्यूनता व्यक्ति के व्यक्तित्व को असन्तुलित कर देती है और परिणाम स्वरूप उसे दुःख ही भोगना पड़ता है। अच्छे व्यक्तित्व से तात्पर्य है ऐसे व्यक्तित्व से जो कि सहज ही उचित सामाजिक समीकरण स्थापित कर सके

और साथ ही साथ अपने स्वभाव की स्थिरता और दृढ़ता भी बनाए रख सके, नवीन परिस्थितियों से सरलता से ही समझौता कर सके तथा इस परिवर्तनशील तथा शीघ्रता से वैज्ञानिक उन्नति करने वाले विश्व में पिछड़ न जाए, प्राथमिक तथा माध्यमिक दोनों प्रकार के समूहों में ठीक ढंग से रह सके तथा भाग्य के धक्कों को हर प्रकार से सहन कर सके, सब ही नवीनता के परीक्षण में प्रथम भी न हो और अन्तिम भी न हो। इस प्रकार के व्यक्तित्वान व्यक्ति दाम्पत्य जीवन में भी सुखी रह सकते हैं क्योंकि उनका व्यक्तित्व सन्तुलित होता है।

दाम्पत्य सुख का रहस्य—यह तो हम देख ही चुके हैं कि परिवार में रह कर किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का जिस ढंग से विकास होता है वही उसके सम्पूर्ण यावज्जीवन रहने वाले व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन आदि की नींव डालता है। बाल्य काल के व्यक्तित्व प्रतिमान ही बालक के जीवन भर की सफलता और असफलता को प्रभावित करते हैं। अतः बाल्यकाल में यदि कुछ एक व्यवहार प्रतिमान बालक के व्यक्तित्व के अंग बना दिए जाएँ तो वह जीवन भर सुखी रह सकता है। उदाहरणार्थ, सुखी रहने का स्वभाव। सुखी रह पाने में बहुत कुछ परिस्थितियों का भी हाथ होता ही है, फिर भी सुखी रहना भी स्वभाव का एक अंश बन जाता है। कुछ व्यक्ति अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर भी दुःखी रहते हैं और अन्य व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखी रह सकते हैं। दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए सुखी रहने का स्वभाव होना आवश्यक है। प्रायः सुखी परिवारों के बालकों में सुखी रह पाने की योग्यता आ ही जाती है। बहुत अधिक भावुक, शीघ्र ही क्रोधित हो जाने वाले व्यक्ति, दूसरों की भावनाओं का ध्यान न रखने वाले, निन्दा, स्तुति पर अधिक ध्यान देने वाले, धार्मिक कर्मकाण्ड के विषय में अधिक सतर्क व्यक्ति शीघ्र दुःखी हो जाते हैं। माता-पिता से बहुत अधिक प्रेम करने वाले, बाल्यकाल में सुखी रहने वाले, बचपन में अधिक दण्ड नहीं पाने वाले तथा माता-पिता से किसी प्रकार का द्वन्द्व न करने वाले बच्चे अधिकतर अपने दाम्यत्य जीवन में सुखी रहते हैं क्योंकि उन्हें सुखी रहने की आदत पड़ जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कभी दुःखी होते ही नहीं हैं वरन् इससे केवल इतना ही तात्पर्य है कि उनके जीवन

में दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक होता है और वे दुःख को भी सुख में परिवर्तित करना जानते हैं। हास्य शक्ति और अपने ऊपर किए जाने वाले उपहास आदि को भी हँस कर ग्रहण करने की क्षमता सुखी स्वभाव निर्माण करने में हितकर सिद्ध होती है। स्वस्थ एवं सन्तुलित व्यक्ति प्रायः सुखी रहने वाले स्वभाव के होते हैं।

प्रायः जिन व्यक्तियों में अपनी भावनाओं को सन्तुलित रखने की शक्ति होती है, वे सुखी रहते हैं। भावनाओं को सन्तुलित रखने का अर्थ उन्हें सर्वथा नष्ट कर देना अथवा उनकी अभिव्यक्ति ही न होने देना नहीं है। वस्तुतः भावनाओं का उत्तेजनात्मक रूप (emotion) भी है तो स्वाभाविक ही किन्तु इतना प्रश्न अवश्य उठता है कि इसका क्रियात्मक रूप क्या होना चाहिए। भावनात्मक व्यवहार का अर्थ अनावश्यक उत्तेजनात्मक, बुद्धि-रहित व्यवहार नहीं होना चाहिये वरन् यह तो इस प्रकार का व्यवहार है जिसमें कि शरीर उतनी शक्ति का व्यय करता है जितनी कि परिस्थितियों से उचित समीकरण एवं अनुकूलता स्थापित करने के लिए आवश्यक होती है। इसका अर्थ यह होना चाहिए कि व्यक्ति ने परिस्थितियों को ठीक ढंग से समझ लिया है तथा उसके प्रति ठीक ही प्रतिक्रिया हुई है और आवश्यकतानुसार ही शक्ति का व्यय किया गया है। भावनात्मक असन्तुलन का कारण अधिकतर भय होता है। स्वहीनत्व भावना और तज्जन्य भय तथा इसी प्रकार के अन्य भय भी व्यक्ति को अत्यधिक उत्तेजित कर देते हैं। परिणाम स्वरूप उसका जीवन दुःखी हो जाता है।

स्त्री पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के प्रति ठीक दृष्टिकोण होना दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाता है। इस प्रकार के सम्बन्धों के विषय में कपोल कल्पित और विचित्र कथाएँ गढ़ कर सुना देना तो हानिकर होता ही है प्रायः कच्ची अवस्था में होने वाले प्रणय सम्बन्धों को भी गुरुजनों को केवल दण्ड, डाँट, धमकाने और हास्य का ही विषय नहीं समझ लेना चाहिए वरन् उनकी दिशा भी ठीक कर देना अथवा उन्हें बुद्धिमत्ता-पूर्वक उस मार्ग से हटा देना उचित है। माता-पिता और बालकों में ऐसे सम्बन्ध होने चाहिए कि एक

दूसरे से घबराता और बचता न हो वरन् परस्पर निस्संकोच सब प्रकार की बातचीत कर सकने का मार्ग खुला होना ही चाहिए।

माता-पिता को परिवार में एक सन्तान की अपेक्षा दूसरी को अधिक स्नेह नहीं करना चाहिए। सब सन्तानों से एक ही-सा व्यवहार होना चाहिए अन्यथा सन्तानों में परस्पर द्वेष आदि की उत्पत्ति हो जाती है जो कि उनके जीवन को दुःखी बना देती है। प्रायः आपस में एक दूसरे से दुःखी दम्पति सन्तानों में से किसी एक को विशेष रूप से अपना मान लेते हैं और उसका पक्ष ले कर आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, जो कि अनुचित है।

अनुशासन-प्रियता अच्छी होती है किन्तु कभी-कभी अनुशासन की अधिकता अथवा न्यूनता जीवन को विषमय भी कर देती है।

यह कहना कठिन है कि दाम्पत्य जीवन में सुखी रहने के लिए स्त्री और पुरुष का एक से स्वभाव आदि का होना अच्छा है अथवा भिन्न स्वभाव आदि का। प्रायः देखा तो यही जाता है कि उन्हीं दो व्यक्तियों में विवाह हो पाता है जो कि एक-सी बाह्य परिस्थितियों के होते हैं क्योंकि उन्हीं में सम्बन्ध होने की सम्भावना अधिक होती है। दूसरी ओर यह भी सुना जाता है कि व्यक्ति में स्वयं अपने व्यक्तित्त्व में जिस गुण की न्यूनता होती है दूसरे में वही गुण उसे अधिक आकर्षित करता है। दोनों ही प्रकार के उदाहरण सुखी और दुःखी दोनों ही प्रकार के मिलते हैं। अतः इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है फिर भी यदि दो व्यक्ति समान गुण, कर्म, स्वभाव के मिल सकें तो सम्भवतः दाम्पत्य जीवन अच्छा ही होगा।

यद्यपि बाल्यकाल में ग्रहण किए हुए व्यवहार प्रतिमान व्यक्ति के जीवन की दिशा का निर्देशन करते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे प्रतिमान अपरिवर्तनशील हैं। मानव में उन्हें परिवर्तित करने की क्षमता भी तो होती ही है। ज्ञान, नवीन परिचय, नवीन मित्रों के संसर्ग तथा अन्य बहुत से कारणों से व्यक्ति अपने बाल्यकाल के व्यवहार प्रतिमानों को परिवर्तित, संशोधित, संवर्द्धित आदि भी कर पाता है। जीवन के सब स्तरों पर व्यक्ति कुछ न कुछ तो सीखता ही रहता है और उसका सीखना जीवन के अन्त तक

बना ही रहता है। यद्यपि आयु बढ़ने के साथ-साथ नवीन के साथ समझौता करना कुछ कठिन अवश्य होता जाता है। फिर भी व्यक्ति सदा-सर्वदा ही स्वयं अपने आपको समझ-बूझ कर अपने स्वभाव के उन अंशों को संशोधित कर सकता है जिनके संशोधन की आवश्यकता होती है तथा अपनी सन्तान को उन दोषों से बचा सकता है जिनसे कि उसने स्वयं जीवन में दुःख पाया है।

विवाहित जीवन का आरम्भ—विश्व की विशाल पाठशाला की प्रथम शिक्षा के अंक बालक परिवार में ही सीखता है। अतः माता-पिता को बालक के जीवन-निर्माण का उत्तरदायित्व बुद्धिमत्ता पूर्वक सोच समझ कर लेना और निबाहना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश में माता-पिता अपनी सन्तान के विवाह के लिए भी उत्तरदायी होते हैं और वे ही दो समान गुण कर्म के व्यक्तियों को विवाह द्वारा एकत्रित कर देते हैं फिर भी उन्हें अपनी सन्तान को विवाह और दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी कर्तव्य आदि की भी शिक्षा देनी चाहिए। हमारे देश में विवाह से पूर्व परिचय, घनिष्ठता आदि का प्रचलन नहीं है। अतः माता-पिता को वर और वधू को परस्पर परिचय करना तथा एक दूसरे को समझना, उन्हें जीवन की इन नवीन परिस्थितियों के लिए तैयार कर देना चाहिए। अन्यथा हो सकता है कि स्वयं भटक कर मार्ग खोजते हुए उन्हें कठिनाइयों का भी सामना करना पड़े। लज्जाशील होने के कारण वधू को तो और भी अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। अतः माता को अपनी कन्या को स्त्री-जीवन की सब आवश्यक घटनाओं एवं बातों से परिचित करा देना चाहिए। विवाहित जीवन आरम्भ करने के लिए वर-वधू को अनुभवी माता-पिता के पथ-निर्देशन की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है। प्रायः यह कार्य मित्रों द्वारा किया जाता है जो कि कभी-कभी उतना ठीक नहीं भी हो पाता है। अतः माता-पिता और सन्तान में ही परस्पर सख्य भाव होना चाहिए ताकि वे अपने अनुभवों से अपनी सन्तान को लाभ पहुँचा सकें। व्यक्तित्व के ठीक ढंग से विकसित होने पर तो यह समस्या और भी सरलता से हल हो जाती है।

बाल्यकाल और दाम्पत्य जीवन—हमारे देश में प्रायः माता-पिता

स्वयं अपनी सन्तान को दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी शिक्षा नहीं देते हैं। यौन सम्बन्धी शिक्षा तो प्रायः कहीं भी दी ही नहीं जाती है। परिमाण स्वरूप कभी-कभी अनजान व्यक्ति कुफल भोगने के लिए भी विवश हो जाते हैं। प्रायः यौवन से कुछ पूर्व ही बालक और बालिका का परस्पर आकर्षण आरम्भ हो जाता है। बालिका को तो युवती होने के आस-पास लक्षणों के प्रकट होने पर अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिये। माता को बालिका के रजस्वला होने पर उसे तत्सम्बन्धी शिक्षा देनी चाहिये। इस समय प्रायः बालिकाएँ घबरा जाती हैं, रोती हैं और कभी-कभी लज्जा के कारण छिपाती भी हैं किन्तु चतुर माता बालिका का विश्वास सदा ही प्राप्त किए रहती है। अतः वह उसे धैर्य दे कर समयोचित शिक्षा एवं सहायता देती है। बालक के लिए भी यौवन के पूर्व एवं आस-पास पिता द्वारा इस प्रकार की शिक्षा प्राप्ति की सुविधा होनी चाहिए। कुछ देशों में तो इस प्रकार की शिक्षा पाठशालाओं आदि में भी दी जाती है किन्तु हमारे देश में अभी यह कार्य माता-पिता तथा अन्य गुरुजन घर पर ही भली प्रकार कर सकते हैं।

बालक और बालिका—बाल्य काल में प्रायः बालक और बालिका साथ ही साथ खेलते-कूदते हैं और उन्हें आपस की लिंग-भिन्नता का उतना ध्यान भी नहीं होता है किन्तु कुछ ही बड़े होने पर हमारे देश में प्रायः एक दूसरे से बहुत दूर पर की वस्तु हो जाता है, जिससे कि एक का आकर्षण भी दूसरे के लिए बढ़ जाता है। अब तो प्रायः सब शिक्षाशास्त्री मानने लगे हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा काल में सहशिक्षा ही होनी चाहिए जिससे बालक और बालिका साथ रह कर एक दूसरे को साधारण साथी की भाँति समझने और मानने लगें। एकबारगी एक को दूसरे से बहुत दूर और भिन्न बना कर रखना उसके व्यक्तित्व के साधारण एवं स्वाभाविक विकास के लिए हानिकर भी हो सकता है क्योंकि कुछ काल पश्चात् वयस प्राप्त करके तो युवक और युवती दोनों को मिल-जुल कर ही परिवार की स्थापना करनी पड़ती है।

प्रणय—यद्यपि व्यक्ति बहुत सी चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार की वस्तुओं को, विचारादि को प्रेम कर सकता है किन्तु यहाँ हम व्यक्तियों के

ही परस्पर प्रेम की चर्चा करेंगे क्योंकि पारिवारिक सुखी जीवन के लिए व्यक्तियों में परस्पर प्रेम होना अत्यन्त आवश्यक है। पति-पत्नी के प्रेम का जहाँ तक प्रश्न है, कुछ देशों में स्त्री और पुरुष एक दूसरे की ओर आकर्षित हो कर एक दूसरे से कुछ घनिष्ठता स्थापित कर लेते हैं। तत्पश्चात् विवाह होता है किन्तु अन्य कुछ देशों में जिनमें से हमारा देश भी एक है, दो गुण कर्म स्वभाव आदि में एक समान लगने वाले स्त्री-पुरुष को एकत्रित रहने का अवसर विवाह करके दिया जाता है ताकि उनमें स्वाभाविक रूप से प्रणय आरंम्भ हो जाये। वस्तुतः जब भी कोई व्यक्ति स्त्री पुरुष हों अथवा स्त्री-स्त्री अथवा पुरुष-पुरुष एक दूसरे को प्रेम करते हैं तो यह सम्भव नहीं है कि जिसे प्रेम करें उसके समूचे व्यक्तित्व को ही प्रेम करें अथवा उसे वातावरण, निजी सम्बन्धों की पृष्ठ भूमिका से भिन्न करके प्रेम करें। प्रेम की उत्पत्ति विचारों से भी हो सकती है। वह भारतीय बालिका जिसका विवाह किसी एक अनजाने, अनदेखे पुरुष से चौदह वर्ष की ही अवस्था में हो गया है उस पुरुष को इसलिए प्रेम नहीं करती है कि वह सुन्दर है अथवा उसके प्रति अनुरक्त है वरन् केवल इसीलिए करती है कि वह उसका पति है। अतः सामाजिक सम्बन्ध भी प्रेम की उत्पत्ति कर सकते हैं। दूसरी ओर अचानक अथवा सामाजिक व्यवस्था के ही द्वारा स्त्री पुरुष एक दूसरे को देख कर, बातचीत करके भी एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो सकते हैं और यह आकर्षण प्रेम में भी परिवर्तित हो सकता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कोई भी व्यक्ति जिसे प्यार करता है उसके कुछ अंश को स्नेह की दृष्टि से नहीं भी देख पाता है। पत्नी अपने पति को प्रेम करती है और हो सकता है कि उसके ६८ प्रतिशत व्यक्तित्व को प्रेम करती हो किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें जो दोष हैं, उन्हें प्रेम नहीं कर पाती है। यह अनुपात प्रत्येक अवस्था में अधिक अथवा न्यून हो सकता है। यह सरलता से नहीं कहा जा सकता है कि कोई भी पुरुष अथवा स्त्री किस वस्तु, गुण आदि के प्रति आकर्षित होते हैं। अतः प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष का व्यक्तिगत अध्ययन एवं मानसिक विश्लेषण ही इस दिशा में संकेत कर सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में परस्पर परिचय, दर्शन आदि से उत्पन्न होने वाले प्रेम

में प्रिय जन के दोषों की ओर से आँखें मूँद लेने की प्रवृत्ति होती है। कभी कभी तो व्यक्ति उन दोषों को भी प्रेम करने लगता है। कम से कम उसे वे दोष दिखाई ही नहीं देते हैं और यदि दिखाई देते भी हैं तो वह उन्हें और ही रंग में रँग कर देखने लगता है तथा उनके पक्ष में ही तर्क आदि देने लगता है। यह भी हो सकता है कि प्रणय-काल में वह दोष प्रेमी की दृष्टि में पड़ा ही न हो अथवा प्रणय हो चुकने के पश्चात् वह दोष प्रियजन के व्यक्तित्व में प्रवेश कर गया हो। यह भी होता देखा गया है कि प्रणय-काल कुछ देर तक रहने के पश्चात् एक व्यक्ति अथवा दोनों व्यक्ति पश्चात्ताप करने लगते हैं और एक दूसरे से मुक्ति चाहते हैं। प्रायः इस प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से नहीं की जाती है और उन्हें यथासम्भव छुपाया ही जाता है। फलस्वरूप इस प्रकार की भावनाओं की अस्पष्ट अभिव्यक्ति झुँझलाहट, अकारण क्रोध, दूसरे के दोष खोजने आदि के द्वारा होती है। यद्यपि किसी एक सीमा तक यह सब दोष विवाह के पश्चात् होने वाले प्रणय में भी होते ही हैं और कभी कभी तो विवाह हो जाने पर भी प्रणय होता ही नहीं है किन्तु फिर भी विचार जन्य एवं सम्बन्ध जन्य प्रणय यद्यपि उतना अधिक उत्तेजक और आनन्ददायक नहीं होता है किन्तु उसमें टूटने की सम्भावना तनिक न्यून हो जाती है।

प्रायः पति-पत्नी में प्रेम कई कारणों से न्यून हो जाता है। ये कारण हैं एक तो वासना की तृप्ति न हो पाना। दूसरे किन्हीं भी अन्य साधारण घरेलू अथवा सामाजिक अथवा राजनीतिक आदि समस्याओं को ले कर इतनी अधिक कटुता का पति-पत्नी में उत्पन्न हो जाना कि उनमें मानसिक ऐसी भावनात्मक ग्रन्थियाँ पड़ जाएँ जिनके कारण एक का दूसरे के निकट जाना भी कठिन हो जाए। उस अवस्था में भी वासनात्मक अतृप्ति रहेगी ही। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि वर्तमान साथी की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा साथी एक अथवा दूसरे को मिल गया है जिसके साथ उसे अधिक तृप्ति और सुख की प्राप्ति की आशा है। इन तीनों ही दशाओं में झुँझलाहट अवश्य दिखाई देती है। परस्पर के अधिक परिचय से प्रेम न्यून नहीं हो जाता है और न उदासीनता

की ही वृद्धि होती है वरन् उसमें गम्भीरता भी आ जाती है। इस गम्भीरता को उत्पन्न करने के लिए भारतीय विवाह में विवाह से पूर्व के प्रेम तथा उत्तेजना को उतना स्थान नहीं दिया गया है। वस्तुतः विवाह से पूर्व ही प्रेम हो जाने पर उत्तेजना भी विवाह से पूर्व ही समाप्त हो जाती है और विवाह के पश्चात् केवल गम्भीरता ही रह जाती है किन्तु भारतीय विवाह में पूर्व परिचय न होने के कारण पति-पत्नी में एक दूसरे को जानने समझने की उत्सुकता अधिक रहती है। परिणामस्वरूप प्रणय-उत्सुकता रहती ही है। वस्तुतः प्रणय में दोनों ही की आवश्यकता है, उत्तेजना की भी और गम्भीरता की भी।

वस्तुतः पति-पत्नी में यूँ तो कलह होने के अनेकों कारण होते हैं किन्तु उनमें से कुछ यह भी हैं कि पति और पत्नी में से एक का अपने अन्य कामों में अधिक व्यस्त होना और अपने जीवन साथी की ओर ध्यान न देना। यदि पति अपने व्यापार में, नौकरी अथवा व्यवसाय में अत्यधिक व्यस्त हैं और पत्नी की ओर ठीक से ध्यान नहीं दे पाते हैं तथा सन्तान हो जाने के पश्चात् सन्तान का भी सम्पूर्ण भार पूर्णतया पत्नी पर ही छोड़ देते हैं और स्वयं उनकी ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं देते हैं तो पत्नी में झुँझलाहट उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यदि पत्नी सन्तान हो जाने के पश्चात् सन्तान की ही ओर अथवा अपनी सखी, मित्र अथवा मायके वालों की ओर ही अधिक ध्यान देने लगती है तो पति असन्तुष्ट हो जाता है। यदि पति-पत्नी में परस्पर सख्य भाव नहीं होता है और यदि उन दोनों के सब काम-काजों में जिनका कि सम्बन्ध उन लोगों से है एक दूसरे की सलाह नहीं ली जाती है तो असन्तोष ही बढ़ता है। यदि माता अथवा पिता दोनों में से एक सन्तान पर अत्यधिक अपना ही आधिपत्य दिखाते हैं तो दूसरे का असन्तुष्ट हो जाना स्वाभाविक ही होता है। एक का दूसरे को मूर्ख अथवा अनजान समझना और उसके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य में हस्तक्षेप करना भी उसे असन्तुष्ट कर देता है और परिणामस्वरूप असन्तोष की वृद्धि ही होती है।

प्रणय के ह्रास का एक कारण यह भी है कि पूर्व काल की भाँति आज-कल विवाहित व्यक्ति अविवाहित व्यक्तियों को वयस्क हो जाने पर भी विवाह

सम्बन्धी बातें नहीं बताते हैं। वस्तुतः माता, भाभी, विवाहिता बहिन आदि को बालिका के युवती हो जाने पर उसे सब आवश्यक बातें बता देनी चाहिए।

विवाह सम्बन्ध में जहाँ तक प्रणय का प्रश्न है, वह बरबस नहीं लिया जा सकता है। अतः धन, वैभव, पद, मर्यादा आदि के नाम पर बरबस विवाह करने वाले व्यक्तियों को प्रणय की दृष्टि से घाटे में ही रहना पड़ता है। सत्ता के नाम पर भी प्रणय नहीं मिल पाता है। अतः पती-पत्नी में से किसी को एक दूसरे पर अनावश्यक अधिकार नहीं प्रकट करना चाहिए।

अन्य समीकरण—वस्तुतः दाम्पत्य जीवन में परस्पर भावनात्मक, सामाजिक और वासनात्मक समीकरण स्थापित करना होता है। भावनात्मक समीकरण के विषय में तो हम चर्चा कर ही चुके हैं। प्रायः विश्वास और विचार तथा कर्तव्य के बल पर प्रणय करना कठिन हो जाता है और जैसा कि हमने अनुमान किया है भावनाओं को संयमित तो किया जा सकता है किन्तु उनका दमन करना किसी भी अवस्था में हितकर नहीं होता है क्योंकि एक स्थान पर दमन करने पर उनकी अभिव्यक्ति किसी अन्य स्थान पर और भी अधिक विकृत रूप में होती है। विशेषतया 'भय' तो जीवन के आरम्भ से ले कर अन्त तक भावनात्मक असन्तुलन का ही कारण होता है।

वासनात्मक तृप्ति न होने पर किसी भी प्रकार पति-पत्नी की आपस में न तो बन ही सकती है और न उनका जीवन सुखी ही हो सकता है। यद्यपि 'वासना' मानव-जीवन के लिए जीवन-मरण का प्रश्न नहीं है और न उसकी उतनी अनिवार्य आवश्यकता ही है फिर भी दाम्पत्य-जीवन में उसकी तृप्ति होना आवश्यक है। अतः पति और पत्नी दोनों को ही इस दिशा में एक दूसरे को तृप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।

दम्पति के सामाजिक जीवन में एक व्यक्ति को दूसरे का पूरक होना चाहिए और ऐसा कर पाने के लिए स्वयं अपने व्यक्तितत्व का यदि तनिक सा संशोधनादि भी करना पड़े, तो भी करना ही चाहिए। समाज में 'परिवार' का महत्त्व है और पति-पत्नी मिल-जुल कर एक परिवार की सृष्टि करते हैं।

आर्थिक समीकरण—दाम्पत्य जीवन में आर्थिक समीकरण का

परिवारों में भी जहाँ कि पुत्र नौकरी पर घर से दूर चला जाता है उसकी पत्नी को भी वहीं जाना पड़ता है। अतः नवीन गृहस्थी तो जमानी ही पड़ती है।

गृहस्थी का उत्तरदायित्व—वस्तुतः गृहस्थी का उत्तरदायित्व पति और पत्नी दोनों पर ही होना चाहिए और उन्हें सब कार्य, विशेषतया प्रमुख नीति मिलजुल कर ही निर्धारित करना चाहिए किन्तु हेनरी कारे जैसे लेखकों के विचारों में भी कुछ सत्य तो है ही जो कि यह विश्वास करते हैं कि गृहस्थी के सब कार्य तथा नीति-निर्धारण पति-पत्नी दोनों मिल कर नहीं कर सकते हैं। क्रियात्मक दृष्टि से तो एक की ही सत्ता, उसी का प्रभुत्व चलेगा, भले ही वह पति हो अथवा पत्नी। यूँ तो प्रायः नवविवाहित दम्पत्ति के हाथ में शीघ्र गृहस्थी का उत्तरदायित्व आता ही नहीं है और जब तक आता है तब तक वे उतनी गम्भीरता तो प्राप्त कर ही लेते हैं कि एक दूसरे को समझ सकें। किसी भी अवस्था में उत्तरदायित्व दोनों का सम्मिलित ही होना चाहिए क्योंकि यदि पति अपनी पत्नी को अधिक चतुर मान कर सारा गृहस्थी सम्बन्धी उत्तरदायित्व उसपर छोड़ भी देता है तो भी यह आवश्यक नहीं है कि बच्चे भी बड़े हो कर इस प्रकार की व्यवस्था से पिता को माता से नीचा समझे बिना मान ही लें। अतः बच्चों को तो यही जानना चाहिए कि उनके लिए माता और पिता दोनों का अत्यधिक, एक समान ही महत्त्व है। यदि दोनों में परस्पर इतनी अधिक समझौते की भावना है कि एक के विचारों का दूसरा स्वाभाविक रीति से ही विरोध नहीं करता है और यदि परिवार में अर्थ-उपार्जन का कार्य केवल पति ही करता है तो पत्नी पर सहज ही गृहस्थी का सारा भार छोड़ा जा सकता है।

सफल गृहस्थी का परीक्षण इस बात से किया जा सकता है कि उस गृहस्थी से निकलने वाले बालक एवं बालिकाएँ कहाँ तक जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्णतया योग्य होते हैं तथा उस परिवार के सब व्यक्तियों का जीवन कहाँ तक सुखी और सन्तुष्ट होता है।

अध्याय ३

गृहस्थ-जीवन

गृहस्थी की समस्याएँ—गृहस्थी की प्रमुख समस्या आर्थिक समस्या होती है। गृहिणी को यह जानना चाहिए कि परिवार की आय कितनी और कहाँ-कहाँ से होती है तथा उसे किसी प्रकार से वह शारीरिक परिश्रम और बुद्धि का उपयोग करके बढ़ा अथवा बचा सकती है अथवा नहीं। परिवार के बजट में भावी सन्तान, उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि पर होने वाले व्यय तथा अपनी वृद्धावस्था के व्यय के लिए भी स्थान होना चाहिए। अपने खाली समय में करने के लिए भी गृहिणी के पास कुछ न कुछ उपयोगी कार्य होना ही चाहिए। भारतीय परिवार में गृहस्थी की एक समस्या परिवार में आने वाले अतिथि के आदर-सत्कार पर होने वाला व्यय और सास, ननद आदि को देने के रूप में तथा समय समय पर त्योहार आदि पर होने वाले व्यय भी सम्मिलित होते हैं। अतः गृहस्थी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या तो आर्थिक समस्या ही होती है। यदि गृहिणी गृही की सम्मति से अच्छा बजट बना लेती है और घर में उसी के अनुसार व्यय होता है तो परिवार में सुख-शान्ति बनी रहती है। उसके बजट में न केवल प्रतिदिन के पौष्टिक भोजन, वस्त्र, नौकर-चाकर यदि कोई हों तो उनके वेतन, मकान का किराया आदि का ही व्यय सम्मिलित होना चाहिए वरन् भावी प्रसवकालीन व्यय, बालकों के मुण्डन-संस्कार, यज्ञोपवीत संस्कार आदि में होनेवाले अनुमानित व्यय भी सम्मिलित किये जाने चाहिए। अच्छे बजट की सबसे बड़ी परख यह है कि आय और व्यय में तो सन्तुलन हो ही, साथ ही साथ धन, समय और शक्ति के व्यय और उससे होने वाले लाभ और उपयोग में भी सन्तुलन हो। आय के बढ़ने के साथ-साथ जीवन-स्तर बढ़ाया भी जा सकता है और यह पति-पत्नी दोनों की सलाह से ही होना चाहिए। इसी प्रकार आय बढ़े अथवा न बढ़े सन्तान की संख्या बढ़ने के कारण अथवा रोगादि बढ़ जाने से होने वाले अधिक व्यय की अवस्था में सन्तुलन बनाए रखने के लिए किन मदों

में व्यय कम किया जाय यह भी बहुत चतुरता से निश्चित करना चाहिए क्योंकि इसमें होने वाली तनिक सी भी भूल सारे गृहस्थ-जीवन के सुख को धूमिल कर सकती है।

गृहस्थी की दूसरी समस्या परिवार के सब सदस्यों को स्वस्थ रखने से सम्बन्धित है। यद्यपि इसका भी सम्बन्ध बहुत कुछ बजट से है क्योंकि भोजन और औषधि दोनों पर ही व्यय होता है फिर भी इसे एक पृथक् समस्या मानना ही उचित है। भोजन यदि पौष्टिक और ठीक दिया जाए तो रोग की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। प्रायः ग्रामों में तो खाद्य सामग्री खेतों आदि से एकत्रित भी की जा सकती है किन्तु नगरों में तो मोल ही लेना होता है। यूँ चतुर गृहिणी घर के आस-पास तनिक-सी भी धरती होने पर वहाँ कुछ तरकारियाँ आदि बो सकती है और धरती न होने पर भी काठ के बकस, टीन के टब आदि में कुछ तरकारी आदि बो कर बाज़ार की तरकारियों का कुछ व्यय तो कम कर ही सकती है। भोजन को शुद्धता से, ठीक ढंग से बनाना भी गृहिणी का ही कार्य है। वह अचार, चटनी, मुरब्बे, शरबत आदि बना कर गृहस्थी के कुछ व्यय न्यून कर सकती है। भोजन का परोसना भी एक कला है और भोजन के पश्चात् बर्तनों को स्वच्छ करना अथवा करवाना भी गृहिणी का ही कार्य है विशेषतया जब कि घर अथवा रसोई छोटी हो तो उसे और भी अधिक ध्यान स्वच्छता की ओर देना पड़ता है क्योंकि स्वच्छता न रहने पर मक्खियों का राज्य हो सकता है और परिणाम-स्वरूप घर में सहज ही रोग-कीटाणुओं का भी प्रवेश हो सकता है। अधिक धन होने पर भोजन के पदार्थों को अधिक मात्रा में तथा अधिक अच्छा लिया जा सकता है तथा दावत आदि के द्वारा गृहस्थी के सामाजिक जीवन और तज्जन्य आनन्द में भी वृद्धि की जा सकती है। स्वस्थ भोजन व्यक्ति को स्वस्थ रखता है।

चतुर गृहिणी अपनी बुद्धि से काम ले कर कम व्यय में परिवार को अधिक धन व्यय करके प्राप्त करने वाले सुख भी दे सकती है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में अधिकांश लोगों की सामर्थ्य हजारों रुपये व्यय करके रिफ्रिजरेटर लेने की नहीं है और गर्मी में खाद्य वस्तुएँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। ऐसी

अवस्था में चतुर गृहिणी घर के किसी अपेक्षाकृत स्वच्छ एवं शीतल स्थान पर नीचे रेत बिछा कर और उस पर पानी छिड़क कर तथा उस पर कूँड़े में पानी डाल कर उसके ऊपर घड़ा रख सकती है। घड़े के भीतर खाद्य पदार्थ रख कर घड़े के ऊपर एक ढकने में पानी भर कर रखने से खाद्य वस्तुएँ ठंढी और नष्ट होने से बची रहती हैं। इस प्रकार कम व्यय में ही सुविधा प्राप्त हो जाती है।

परिवार के सब सदस्यों को वस्त्र देना भी गृहस्थी की समस्याओं में से ही एक है और इसका भी स्वास्थ्य से सम्बन्ध है। परिवार के सब व्यक्तियों को ऋतु के अनुसार ही वस्त्र मिलने चाहिए। वस्त्रों की रूपरेखा उनका प्रकार आर्थिक अवस्था के ही अनुरूप हो सकता है। अधिक धन होने पर बढ़िया वस्त्र बनाए अथवा लिए जा सकते हैं। उनकी संख्या भी अधिक रखी जा सकती है। अधिक धन न होने पर गृहिणी स्वेटर आदि आवश्यक वस्त्र स्वयं बुन सकती है। सिलाई का काम भी बहुत कुछ गृहिणी स्वयं करके व्यय बचा सकती है। इसके अतिरिक्त वस्त्रों को धोने, इस्तिरी करने, फट जाने पर मरम्मत करने और ऋतु-परिवर्तन होने पर भली प्रकार देखभाल कर रखने अथवा निकालने का कार्य भी गृहस्थी में होना चाहिए। ठीक वस्त्र व्यक्ति को स्वस्थ रखते हैं।

रहने के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक घर भी होना अत्यन्त आवश्यक है। घर का बहुत बड़ा और बहुत से बढ़िया सामान से भरा हुआ होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि उसका खुला, प्रकाश और वायुवान होना आवश्यक है। प्रायः घर ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ कि नालियाँ आदि अच्छी हों और पड़ौस भी स्वास्थ्यकर हो। घर में स्वच्छता रहनी चाहिए। घर के सब कमरे, गुसलखाना, पाखाना आदि प्रतिदिन स्वच्छ किए जाने चाहिये तथा स्वच्छ रहने चाहिए। धन अधिक होने पर यह कार्य नौकर भी कर सकते हैं किन्तु गृहिणी को स्वयं उनके कार्य की देख-रेख करनी चाहिये क्योंकि स्वच्छता स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

बालकों के शारीरिक विकास, उठान और उनके स्वास्थ्य की भी पूरी

देख-रेख होनी चाहिये। उनकी स्वास्थ्य-सम्बन्धी आदतें ठीक होनी चाहिये। प्रतिदिन दाँत साफ करना, समय पर भोजन तथा विश्राम करना, पाखाने जाना, स्नान करना, वस्त्र आदि पहनना बालकों की आदत हो जानी चाहिए। स्वच्छ वायु में रहना तथा व्यायाम करना भी बालकों के लिए आवश्यक होता है। उनका पढ़ना-लिखना, संगीत, साहित्य, कला आदि से प्रेम होना भी उस अवस्था में सम्भव हो सकता है जब कि माता पिता उस ओर ध्यान दें किन्तु ध्यान देने अथवा देख भाल करने का यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि बालकों को अपने ढंग से आत्म-अभिव्यक्ति करने का भी अवसर न मिले। रोग में माता ही बालकों की परिचर्या करती है फिर भी पिता भी कुछ न कुछ देख भाल तो करते ही हैं और चिकित्सा आदि गुरु गम्भीर विषयों को ले कर माता-पिता दोनों को मिल कर ही निश्चय करने चाहिये तथा चिकित्सक के प्रत्येक आदेश का ठीक-ठीक पालन करके उनके साथ सहयोग भी करना ही चाहिए। बालकों ही की नहीं वरन् रोगावस्था में गृहिणी को घर के अन्य व्यक्तियों की परिचर्या भी करनी ही होती है अतः उसे रोगी की परिचर्या करने का पूरा-पूरा ज्ञान तथा अभ्यास भी होना ही चाहिये। यूँ तो स्नेह और कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमादि तथा परिचर्या सम्बन्धी अत्यावश्यक बातों का ज्ञान होने पर कोई भी गृहिणी अच्छी परिचारिका हो सकती है फिर भी उसे इस सम्बन्ध में विशेष योग्यता प्राप्त करने का प्रयत्न भी करना ही चाहिए।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त नारी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है परिवार को अर्थ-सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त रखना। स्त्री को घर का व्यय-भार तो लेना ही होता है अर्थात् पुरुष जो कुछ कमा कर लाता है स्त्री को उस धन का यथार्थ मूल्य समझ कर उसे ठीक ढंग से और इस प्रकार खर्च करना चाहिए कि उसका अधिकाधिक उपयोग हो सके तथा उससे अधिकाधिक सम्भव लाभ उठाया जा सके। स्त्री को धन उपार्जन करने में स्वयं परिश्रम नहीं करना पड़ता है इसलिए उसकी ऐसी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए कि धन को चाहे जैसे-तैसे खर्च कर दिया जाए अथवा धन एकत्रित करना कोई कठिन कार्य ही नहीं है, अतः उसे उड़ाया जाए। अधिक धन होने पर तो ऐसी मनोवृत्ति होती ही है जो

कि ठीक नहीं है किन्तु कुछ स्त्रियाँ तो अधिक धन न होने पर भी असावधानी से व्यय करती हैं और फिर पति को अर्थ-चिन्ता-ग्रस्त कर देती हैं किन्तु सुगृहिणी तो वही है जो कि पति की कम आय में भी सोच-विचार कर काम करती है और पति एवं परिवार को थोड़ी आमदनी में भी अधिकाधिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न करती है तथा सम्भव हो तो आपत्ति काल के लिए भी कुछ बचा रखती है। ऐसा कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि वह अनावश्यक वस्तुएँ न खरीदे तथा खरीदी हुई वस्तुओं के मूल्य की ठीक-ठीक जाँच करके ही उन्हें ले। किसी प्रकार के आवश्यक खर्च को समय से न करने पर असमय में कुछ अधिक ही खर्च करना पड़ता है जैसे बिजली के बिल को समय से ही दे कर कुछ न कुछ धन डिस्काउंट के नाम से बच ही जाता है। गृहिणी को इस ओर दृष्टि रखनी चाहिए। इसी प्रकार नवीन प्रचलन होने पर पुराने वस्त्रादि को ही ठीक करके नवीन प्रचलन का स्वयं घर पर सिलाई की मशीन अथवा हाथ से ही बना लेना नवीन बनवाने की अपेक्षा धन की बचत की दृष्टि से कहीं अच्छा रहता है। इसी प्रकार चतुर गृहिणी और भी कई प्रकार से गृहस्थी के व्यय को कम कर सकती है।

गृहिणी को यह भी देखना चाहिए कि बालकों की स्वाभाविक शारीरिक एवं मानसिक उठान के लिए उन्हें उपयुक्त वातावरण देना आवश्यक है। हर समय बालक को खाने के लिए देते रहने, अकारण सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए चिन्तित रहने, अकारण ताकत आदि की औषधियाँ आदि देने, हर समय उनकी ही चिन्ता करते रहने, उन्हीं की ओर ध्यान देते रहने से बालकों की शारीरिक और मानसिक उठान स्वाभाविक नहीं हो पाती है और दूसरी ओर उनकी ओर बिलकुल ही ध्यान न देने से भी परिणाम लगभग वैसा ही होता है। अतः उचित तो यह है कि बालकों की सुख-सुविधा के लिए, उनके व्यक्तित्व के स्वाभाविक एवं सन्तुलित उठान एवं उभार के लिए उपयुक्त वातावरण तो दिया जाए अर्थात् उनपर उतना ही ध्यान दिया जाय जितना कि आवश्यक हो तथा उन्हें स्वयं भी अपने ऊपर निर्भर रहने का स्वभाव बनाने की भी पूरी-पूरी सुविधा दी जाए। माता-पिता को बालकों के अध्यापकों को

पूरा-पूरा सहयोग देना चाहिए अर्थात् बच्चों के स्कूल के काम की भी देख-रेख करनी चाहिए किन्तु बच्चे को हर समय पढ़ने के लिए कहते रहना भी अनुचित है। पूरे परिवार के मनोरंजन, उनकी चिन्ता-रहित कुछ घड़ियों को मुक्त हास्य से दिन में एक बार भर सकने की सुविधा एवं वैसा वातावरण उपस्थित करना भी गृहिणी का ही कार्य है। बच्चों का बाल्यकाल समाप्त हो कर यौवन में पदार्पण करने का काल बहुत ही कठिन होता है। माता-पिता और विशेषतया माता को इस समय उनपर दृष्टि रखनी चाहिए तथा उनके अनजाने में ही मित्र रूप से उन्हें विकास प्राप्त होने तथा आत्म-निर्भर, आत्म-विश्वासी बनने देने में सहायता देनी चाहिए। बच्चों को युवक एवं युवती बन कर विवाह एवं दाम्पत्य जीवन के योग्य बना सकना माता का ही कार्य है। परिवार में किसी प्रकार का नैतिक अथवा धार्मिक वातावरण उपस्थित करना भी गृहिणी का ही कार्य होना चाहिए।

गृहिणी ही परिवार के सदस्यों में परस्पर तथा सम्बन्धियों से उचित सम्बन्ध बनाए रखने में सहायक हो सकती है। यदि गृहिणी बुद्धिमती है तो वह सब सम्बन्धियों से परिवार के अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने में अवश्य सफल होगी। इसी प्रकार चतुर गृहिणी अड़ौस-पड़ौस तथा समाज में भी परिवार का उचित स्थान सहज ही में बनाए रख सकती है। यद्यपि इन सब कार्यों में पति-पत्नी दोनों का ही पूरा-पूरा सहयोग होना चाहिए किन्तु चतुर गृहिणी ही इन सब की सफलता का श्रेय प्राप्त करने की अधिकारिणी होती है।

नौकरों की समस्या—जिन घरों में नौकर होते हैं वहाँ गृहिणी की एक समस्या नौकरों से काम लेना तथा अन्य व्यवहार रखना भी होता है। वस्तुतः नौकर भी मनुष्य ही होते हैं और समस्त मानवीय गुण एवं दुर्बलताएँ उनमें भी होती हैं अतः गृहिणी को तनिक सा मानव मनोविज्ञान तथा उद्योग मनोविज्ञान का ज्ञान और तत्सम्बन्धी समझ होना भी आवश्यक है। इतना तो समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि जिन घरों में प्रत्येक कार्य समय पर तथा सुव्यवस्थित ढंग से होता है वहाँ नौकरों का कार्य अत्यन्त सुगम एवं सहज हो जाता है किन्तु समय पर और ढंग से कार्य न होने पर घर के नौकरों का काम

न केवल बढ़ ही जाता है वरन् ठीक से हो भी नहीं पाता है। परिणाम-स्वरूप गृहिणी को झींखना तो पड़ता है, नौकरों की शिकायत भी सदा बनी रहती है और नौकर भी तंग आये रहते हैं।

नौकरों पर विश्वास करना उन्हें ईमानदार बनाता है। जितनी अधिक नौकरों की अनावश्यक देखभाल की जायेगी उतना ही नौकर चोर, निकम्मे, धोखा देनेवाले बनते जायेंगे। वे भी मनुष्य हैं और उनके साथ मनुष्य की भाँति व्यवहार किये जाने पर वे सम्भवतः अपने कर्तव्य भी समझने लगते हैं। उनके काम में अनावश्यक और अधिक हस्तक्षेप करना भी ठीक नहीं होता है। अतः गृहिणी को नौकरों से उन्हें गृहस्थी का एक अंग समझ कर ही व्यवहार करना चाहिए तथा उनके भी खाने, पीने आदि का ध्यान रखना चाहिए। समय पर वेतन दे देना तथा कभी आवश्यकता पड़ने पर दो-चार रुपये उधार भी दे देना नौकरों को प्रभावित करता है। जब कभी किसी नौकर की स्त्री अथवा उसका बच्चा अपने घर पर आये तो उसके साथ भी दयापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। नौकरों को गाली देना, मारना-पीटना तो हर प्रकार से अनुचित है। अन्य भी किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नौकरों के साथ नहीं करना चाहिए। नौकर को एक बार अपनी सब आवश्यकाएँ बता देनी चाहिए तथा उसी के अनुसार आदेश भी दे देना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर फिर एक बार समझा देना चाहिए और यदि कभी काम अधिक हो तो स्वयं भी सहायता कर देनी चाहिए।

विवाह के लिए योग्यता—साधारणतया स्वस्थ वयस्क वर और कन्या का परस्पर विवाह होता है। विवाह योग्य कन्या का ही होना चाहिए। यूँ तो कुछ विद्वान् विवाह योग्य आयु कुछ कम रखते हैं और अन्य कुछ अधिक जिसकी चर्चा हम पृथक् से करेंगे किन्तु हमारे देश में १४ वर्ष से कम आयु की कन्या और १८ वर्ष से कम आयु के वर का विवाह नहीं होना चाहिए। यद्यपि इस दिशा में बहुत पूर्व शारदा ऐक्ट द्वारा वैधानिक पग उठाया गया था फिर भी आज भी यह प्रश्न विचारणीय है कि कन्या १४ वर्ष की आयु प्राप्त करके और वर १८ वर्ष की आयु के पश्चात् विवाह करने योग्य हो जाते

हैं अथवा नहीं। मेरे विचार में तो इस देश की जलवायु को देखते हुए शारीरिक दृष्टि से कन्या की विवाह योग्य आयु १६ वर्ष और वर की २० और २४ के बीच में हो सकती है। इस विषय में विधिविधान भी बनाये जा सकते हैं।

वर और कन्या का शारीरिक दृष्टि से पूर्णतया स्वस्थ होना आवश्यक है। यावज्जीवन रहने वाले किसी रोग में ग्रस्त अथवा किसी भयंकर छूत की बीमारी में ग्रस्त वर और कन्या का विवाह नहीं होना चाहिए और इस प्रकार के विवाहों को कानूनी दृष्टि से अवैध ठहराया जाना चाहिए।

वस्तुतः हमारे देश में विवाह एक सामाजिक बन्धन न हो कर होता है जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति में इसे सामाजिक समझौता न मान कर सर्वथा धार्मिक कृत्य माना जाता है और यही कारण है कि एक बार किसी प्रकार से विवाह की रसम पूरी हो जाने पर अर्थात् फेरे पड़ जाने पर वह बन्धन किसी प्रकार भी टूट नहीं सकता है किन्तु बरबस विवाह कर लेना जिसे कि हमारे आठ प्रकार के विवाहों में से एक मान भी लिया गया है, अनमेल विवाह—उदाहरणार्थ साठ वर्ष के पुरुष का १४ वर्ष की बालिका से विवाह, धोखा दे कर किसी को दिखा कर किसी अन्य से विवाह कर देना, धोखे से गर्भवती कन्या का विवाह कर देना, किसी भी एक का भयंकर रोग में ग्रस्त होना आदि आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो कि वर और कन्या अर्थात् पति पत्नी का जीवन तो नष्ट कर ही देती हैं, उस विवाह को समाज के लिए भी अभिशाप ही बना देती हैं। अतः देश-विधि के इस दिशा में सुधार करने के लिए सोच-विचार कर कुछ कानून बनाने चाहिए। हिन्दू कोड बिल के रूप में कुछ प्रयत्न तो किये भी जा रहे हैं।

वर-विक्रय अथवा बरबस माँग कर लिया हुआ दहेज भी एक अत्यन्त घृणित प्रथा है और किसी न किसी प्रकार देश-विधि को इसका भी सुधार करना चाहिए। केवल शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ वर-कन्या का ही विवाह होना चाहिए। विवाह के नाम पर न तो कन्या विक्रय ही होना चाहिए और न वर विक्रय ही। किसी भी अवस्था में चिर रोगी अथवा विक्षिप्त व्यक्तियों का विवाह नहीं होना चाहिए।

विवाह से सम्बन्धित सब कानूनों का वर कन्या को ज्ञान होना चाहिए और सब प्रकार के धार्मिक, नैतिक एवं वैधानिक उत्तरदायित्व समझा कर ही उन दोनों का विवाह करना चाहिए।

तलाक की व्यवस्था भी होनी चाहिए, भले ही वह बहुत ही सीमित तथा कठिन हो। यदि गृहस्थ जीवन सुखी होगा तो कोई भी तलाक लेना नहीं चाहेगा किन्तु अत्यन्त कष्ट कर साथ रह कर बिताने वाले जीवन की अपेक्षा आत्म-सम्मान सहित पृथक् रह कर जीवन व्यतीत करना अच्छा है।

स्वयंवर—किसी समय में हमारे देश में कन्या वर को चुनती थी। सम्भवतः बड़े परिवारों अर्थात् राजा-महाराजाओं की कन्याएँ बहुत से अपनी ही बराबरी के राजकुमारों आदि की कीर्ति-गाथाएँ सुनती रहती थीं और फिर वे एक समय में एक स्थान पर एकत्रित किए जाते थे। कन्या उनमें से अपने लिए वर-मनोनीत कर लिया करती थी। साधारण परिवारों की भी बालिकाएँ किसी प्रकार से अपने लिए वर-मनोनीत करके माता पिता को बता दिया करती होंगी। यही नहीं, स्वयं अपनी इच्छा से माता-पिता को बिना सूचित किए भी विवाह हो जाता था जिसे गान्धर्व विवाह कहते थे। राक्षस और पिशाच-विवाह भी विवाह माने जाते थे किन्तु कुछ काल पश्चात् कन्या की विवाह सम्बन्ध में सम्मति भी उसकी अनधिकार चेष्टा मात्र ही रह गई। विवाह की आयु भी विदेशी आक्रमणों जन्य-संघर्षमय जीवन में बहुत नीचे उतरती गई और "अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी..." आदि तक पहुँच गई। सम्भवतः इसके पीछे यही भावना रही होगी कि वही कन्या का पालन-पोषण और रक्षा करें जिनके परिवार का उसे सदस्य बनना होगा। साथ-साथ विवाह सम्बन्धी नियम बन्धनों की भी बहुतायत हो गई। वयस्क होने से पूर्व कन्या का विवाह न कर पाने पर जाति-च्युत होना पड़ेगा और बिरादरी, जाति के सब विधि-निषेधों को मान कर ही विवाह सम्पन्न करना होगा। अतः माता-पिता सहज ही कन्या को एक विपत्ति समझने लगे और इससे न केवल स्त्री का सामाजिक स्तर ही नीचा हो गया वरन् उसकी अन्य प्रकार से भी बहुत कुछ दुर्गति हुई। जो भी कुछ हो, हमारे देश में सदियों वर-कन्या को एकत्रित करने का भार

माता-पिता पर ही रहा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यौवन का उषःकाल और उसके तनिक इधर तथा उधर का समय बालक और बालिका के लिए बड़ा कठिन समय होता है। अधिकतर अपरिपक्व प्रणय आदि इसी काल में होते हैं। प्रायः बालिका इस काल में लज्जालु, झेंपने वाली, छिपने वाली और तनिक घबराई सी होती हैं तथा बालक भी बहुत कुछ अपने आप में अधिक अचेतन से हो जाते हैं। एक का दूसरे की ओर आकर्षण भी बढ़ जाता है। जहाँ बालक और बालिका को सर्वथा पृथक, दर्शनों से भी परे की वस्तु बना कर रखा जाता है वहाँ तो एक दूसरे का आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। अतः ऐसे समय में माता-पिता को सावधानी से बालक-बालिका की देख-भाल करनी चाहिए तथा उन्हें जीवन को समझ पाने की दिशा में सहायता भी देनी चाहिए।

काल्पनिक प्रणय और वास्तविक जीवन—इस आयु में काल्पनिक प्रणय की मधुर रूपरेखा अधिकतर बालक और बालिका के दिवास्वप्नों का विषय बन जाती है किन्तु वास्तविक जीवन तो केवल काल्पनिक प्रणय से ही नहीं बनता है और जिन देशों में विवाह से पूर्व बालक-बालिका के परस्पर मिलन अर्थात् कोर्टशिप की व्यवस्था है वहाँ प्रायः इस प्रकार के सम्बन्धों का फल भयंकर भी हो जाता है। दूसरी ओर यद्यपि अनजाने अनदेखे अथवा थोड़ी ही देर गुरुजनों की उपस्थिति में मिल कर देखे हुए वर-कन्या का विवाह होता है वहाँ तनिक सा नवीनता, अपरिचित होने का आकर्षण तो रहता ही है साथ ही साथ यह भय भी रहता है कि कैसे निभेगी। यह भी सत्य है कि इसके विपरीत 'कोर्टशिप' और प्रणय करने के पश्चात् किए गए विवाह सम्बन्ध सदा-सर्वदा सफल ही होते हों, यह बात भी नहीं है अतः यह एक बड़ी कठिन समस्या है जिसका कि कोई समुचित हल अभी तक नहीं हो पाया है कि बालक-बालिका को परस्पर मिलने की सारी सुविधाएँ दे कर समाज को उन्हें 'कोर्टशिप' प्रणय और फिर विवाह करने देना चाहिए अथवा स्वयं माता-पिता आदि गुरुजनों को विवाह निश्चित करके कर देना चाहिए। एक में भावनात्मक उत्तेजना, अपरिपक्व बुद्धि और उत्तेजना में होने वाले प्रणय के दुष्परिणाम अर्थात् असफल विवाह होने

की सम्भावना भी हो सकती है और दूसरे में माता-पिता का युवक और युवती की रुचि, प्रवृत्ति आदि को ठीक-ठीक न समझने के कारण होने वाले अनमेल विवाह की सम्भावना भी रहती ही है। फिर भी युवक और युवती के परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार के तो सामाजिक व्यवस्था के अनुसार होने ही चाहिए जिससे कि एक दूसरे को सदा-सर्वदा भय का कारण, अपरिचित और अजनबी सा ही न समझता रहे। छोटी आयु में सहशिक्षा तो लाभकर होती ही है, बहुत उच्च शिक्षा में भी सहशिक्षा होनी ही चाहिए। बीच के कुछ एक वर्ष दोनों की शिक्षा पृथक्-पृथक् होनी चाहिए।

यदि कभी किसी युग में इस देश में फिर से स्वयंवर प्रथा का प्रचलन हो भी जाए अर्थात् युवती स्वयं अपनी इच्छा से अपने लिए वर का चुनाव करने भी लगे तो भी माता-पिता को उसे इस विषय में सहायता तो देनी ही चाहिए।

काल्पनिक प्रणय की तीव्रता से बचने के लिए ही प्रायः सब देशों में विवाह से कुछ काल पूर्व सगाई करने की प्रथा होती है। सगाई सम्भवतः इस लिए की जाती है कि सगाई और विवाह के बीच के समय में एक दूसरे से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रख कर दोनों परिवार एक दूसरे को भली प्रकार जान-समझ लें तथा वर-कन्या भी एक दूसरे के स्वभाव आदि को समझ लें। यद्यपि हमारे देश में वर-कन्या को अधिक घनिष्ठता स्थापित करने का अवसर नहीं मिल पाता है और यह ठीक भी है क्योंकि अत्यधिक घनिष्ठता का परिणाम यौवनावस्था में आवश्यकता से अधिक घनिष्ठता भी हो सकता है जो कि बालिका के लिए भयंकर भी सिद्ध हो सकता है। अतः बालक-बालिका का सम्बन्ध अत्यन्त सीमित ही रहता है।

हमारे देश में शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता और सतीत्व का बहुत अधिक महत्त्व है। माता को यह भली प्रकार बालक और बालिका दोनों को ही समझा देना चाहिए किन्तु इसका अर्थ एक दूसरे के प्रति अनुदार, संकीर्ण और अक्षमाशील नहीं होना चाहिए।

विवाह की आयु—विवाह की आयु क्या होनी चाहिए यह एक

विवादास्पद प्रश्न हो सकता है किन्तु यहाँ हम जल्दी होने वाले विवाह की हानियाँ तथा उसके लाभों पर एक दृष्टि तो डाल ही सकते हैं। वस्तुतः किसी भी अवस्था में कन्या का पति के साथ युवती होने से पूर्व तो सम्बन्ध होना ही नहीं चाहिए। इस प्रकार के अथवा इससे निकट ही होने वाले सम्बन्धों में संतान दुर्बल होती है तथा माता का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। क्षय रोग होने के कारणों में से एक बाल-विवाह अथवा जल्दी विवाह और सन्तान उत्पन्न करना भी है। ऐसे विवाह में पति-पत्नी छोटी आयु के होने के कारण गृहस्थ जीवन के कठिन उत्तरदायित्वों को सँभालने के योग्य भी नहीं होते हैं। परिणाम स्वरूप उनमें मानसिक विकृति, झुँझलाहट, एक दूसरे पर दोषारोपण करने की प्रवृत्ति आदि का जन्म हो जाता है और जीवन कटु हो जाता है। पति-पत्नी माता-पिता पर ही आर्थिक दृष्टि से आश्रित रहते हैं अतएव उनमें आत्म-निर्भरता नहीं आ पाती है और कभी-कभी तो माता-पिता पर भी झुँझलाहट ही आती रहती है। ऐसी अवस्था में उन्हें अनिच्छा से भी आर्थिक दृष्टि से आश्रित होने के कारण सम्मिलित परिवार में रहना ही पड़ता है जिसका परिणाम असन्तुष्ट जीवन भी हो सकता है। ऐसे माता पिता की सन्तान से दादा दादी का स्नेह अधिक होता है और उनका लाड़-प्यार बच्चों के माता-पिता को उन पर शासन नहीं करने देता है। फलस्वरूप बच्चे कभी कभी बिगड़ भी जाते हैं। यह सब दोष शीघ्र विवाह करने की दशा में होते ही हैं और यदि पुरुष पूर्ण शिक्षित हो कर ही विवाह करे ताकि एक ओर तो उसकी शिक्षा में ध्यान बँट जाने से बाधा न पड़े और दूसरी ओर वह विवाह करने से पूर्व पूर्ण शिक्षित हो कर आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाये ताकि उसे अपनी गृहस्थी का व्यय-भार स्वयं उठाने की क्षमता प्राप्त हो सके, तो उसे देर में, बड़ी आयु में ही विवाह करना होगा क्योंकि उसके पूर्ण शिक्षित हो कर कार्यक्षेत्र का चुनाव करने में पर्याप्त समय लगेगा ही। ऐसी अवस्था में कन्या जिस परिवार से आयेगी वहाँ के संस्कार, वहाँ की शिक्षा-दीक्षा ले कर ही आयेगी और उस प्रकार से इस नवीन परिवार में सर्वथा घुल-मिल जाना उसके लिए तनिक कठिन हो जायेगा जैसा कि छोटी आयु में आनेवाली कन्या कर सकती है। कम

आयु में व्यक्तित्व का धरातल कोमल होता है और वह शीघ्र ही अपने अनुरूप बनाया जा सकता है किन्तु बड़े हो कर व्यक्तित्व में परिवर्तन लाना तनिक कठिन हो जाता है। बहुत अधिक आयु हो जाने पर तो भावनाओं में गम्भीरता तो भर जाती है किन्तु उतनी अधिक उत्तेजना नहीं रहती है। अतः पति पत्नी के विवाहित आनन्द में कमी आने की सम्भावना रहती ही है। अतः देशकाल और परिस्थितियों को देखते हुए ही विवाह योग्य आयु निश्चित की जा सकती है। यूँ तो व्यक्ति की व्यक्तिगत माँगें, इच्छाएँ और आवश्यकताएँ भी एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं और होती भी हैं।

विवाहित स्त्रियाँ और जीविकोपार्जन का प्रश्न—यद्यपि हमारे देश में किसी एक समय में पुरुष धनोपार्जन करते थे और स्त्रियाँ घर के काम-काज करती थीं तथा उस धन का सदुपयोग करती थीं। आज इस देश में भी अवस्था तनिक परिवर्तित हो गई है। कुछ तो स्त्रियाँ अधिक शिक्षित हो कर अपनी शिक्षा को केवल घरेलू कार्यों तक ही सीमित नहीं रखना चाहती हैं और इसलिए पुरुषों की भाँति घर से बाहर के क्षेत्र में भी कार्य करना चाहती हैं, और इसी के अन्तर्गत अर्थोपार्जन भी किसी न किसी रूप में आ ही जाता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक कठिनाइयों अर्थात् जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की प्रबल आकांक्षा और मँहगाई के बीच होने वाले प्रबल संघर्ष ने केवल पुरुष की ही आय से गृहस्थी के कार्य चलने देना कठिन कर दिया है। अतः स्त्री भी जीविकोपार्जन करना चाहती है। साधारणतया मज़दूर और निम्न वर्ग में तो सदा-सर्वदा से स्त्री और पुरुष दोनों ही अर्थोपार्जन करते रहे हैं। मध्य-वर्ग में हमारे देश में नगरों में स्त्रियों के जीविकोपार्जन की समस्या कुछ-कुछ उठने लगी है। जहाँ भी कहीं यह प्रश्न उठता है, वहाँ सब से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि यदि नारी के लिए जीविकोपार्जन करना आवश्यक हो ही जाए तो वह किस प्रकार अपने समस्त गृहस्थी सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करते हुए भी जीविका के प्रश्न को हल कर सकती है।

कुछ कार्य तो प्रकृति ने सर्वथा नारी के ही लिए निश्चित कर दिए हैं और किसी प्रकार भी उनका विभाजन हो ही नहीं सकता है जैसे कि सन्तानोत्पत्ति।

इस कार्य के कारण नारी को कुछ काल के लिए जो भी कार्य, नौकरी अथवा व्यवसाय वह करेगी, उससे वंचित होना ही पड़ेगा। यदि उसे अपने व्यवसाय आदि से उतने समय के लिए छुट्टी मिल सके तो अच्छा ही है। अन्यथा उतने काल के लिए उसे कुछ भी पारिश्रमिक नहीं मिलेगा। बालकों के लालन-पालन का कार्य भी उसे एक सीमा तक स्वयं करना ही होता है और गृहस्थी के अन्य कुछ एक कार्य भी उसके जिम्मे रहेंगे ही। फिर भी यदि नारी गृहस्थी की सुव्यवस्था कर पाती है तो उसे कुछ समय बाहर का काम करने के लिए भी मिल जाता है। उदाहरणार्थ—यदि कोई स्त्री स्कूल में अध्यापिका है और उसे प्रातः १० बजे से सायं ४ बजे तक स्कूल में रहना पड़ता है तो वह प्रातः ५ अथवा ६ बजे से उठ कर घर की सफाई और लगभग ६·३० अथवा ७ तक जलपान तैयार करके बच्चों और पति को दे सकती है। यदि कोई नौकर घर में हो तो वह सफाई का कार्य नौकर के जिम्मे करके स्वयं उसकी तनिक-सी देखभाल करती हुई ७ बजे तक जलपान का कार्य समाप्त करके तथा ७·३० तक स्वयं स्नान आदि करके अथवा यदि प्रातः शीघ्र ही स्नान कर लेती है तो इस समय पति के स्नान आदि का प्रबन्ध करके ९ बजे तक भोजन तैयार कर सकती है। तत्पश्चात् यदि शीघ्र भोजन कर लें तो घर के सब लोगों को भोजन करा के अन्यथा बना हुआ भोजन ढक कर रख कर ९·३० बजे स्कूल के लिए चल सकती है और नौकर को ४ बजे के जलपान के लिए आदेश दे जा सकती है। नौकर न होने पर स्वयं रविवार अथवा किसी अन्य छुट्टी के दिन ७ दिन के जलपान का सामान तैयार कर सकती है और स्कूल से लौटते समय फल आदि ला सकती है। ४:३० बजे आ कर दूध गरम करने अथवा चाय बनाने में उतना अधिक समय नहीं लगता है। नौकर यदि न हो तो महरी अथवा कहार आ कर बर्तन माँज सकता है। ऐसी अवस्था में उसे यदि समय पर प्रति दिन बर्तन खाली मिल जाते हैं तो उसे भी सुविधा होती है और गृहिणी का कार्य भी हलका होता है।

इतनी अधिक कठिनता गृहस्थी के कार्य सम्पन्न करने की समस्या सम्बन्धी नहीं होती है जितनी कि बालकों का लालन-पालन करने को ले कर।

हमारे देश में जीविकोपार्जन करने वाली स्त्रियों के बच्चों को रखने वाली संस्थाओं (क्रैश) आदि का तो सर्वथा अभाव ही है। अधिकतर कार्य करने वाली बहिनें घर की ही किसी वृद्धा स्त्री, सास अथवा माता अथवा जिठानी आदि के आश्रय में बालक को छोड़ जाती हैं। कभी-कभी नौकर पर भी छोड़ना पड़ता है पर ऐसा करना अत्यन्त हानिकर है क्योंकि प्रायः नौकर बालकों की देख भाल ठीक नहीं करते हैं और उन्हें बुरी आदतें डलवा देते हैं। अच्छा तो यह हो कि या तो ऐसी संस्थाएँ हो जहाँ कि ६ मास की आयु से ले कर अथवा इससे भी कम आयु के बालकों से ले कर ३ वर्ष तक के बालक रखे जा सकें और ३ वर्ष के पश्चात् नरसरी स्कूलों में बच्चे भेजे जा सकें। मज़दूर स्त्रियों के लिए तो विशेषतया ऐसी संस्थाओं का प्रबन्ध होना चाहिए जहाँ कि माताएँ निश्चिन्त हो कर अपने बच्चों को छोड़ कर काम पर जा सकें। यदि स्त्रियों के जीविकोपार्जन का प्रचलन अधिक हो जाए तो प्रत्येक मुहल्ले की कोई वृद्धा स्त्री थोड़ा सा ही शुल्क ले कर मुहल्ले की काम करने वाली बहिनों के बच्चों को दिन भर अपने पास रख सकती हैं। ऐसा करने से बच्चों के लालन पालन की समस्या का बहुत कुछ हल हो सकता है। अन्यथा बच्चों के शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट करके जीविकोपार्जन करना अनुचित है किन्तु लाचारी की अवस्था में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता है।

एक और प्रश्न हमारे देश में स्त्रियों के जीविकोपार्जन करने से संबंधित है। यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक भी है। वस्तुतः स्त्री घरेलू काम काज करके भी आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निकम्मी नहीं होती है। उसके घरेलू कार्यों का भी आर्थिक दृष्टि से मूल्य होता ही है फिर भी बहुत कुछ यह विश्वास किया जाता है कि स्त्री पुरुष की आश्रित है। पुरुष और स्त्री स्वयं भी प्रायः ऐसा ही समझते हैं। जब स्त्री भी अर्थोपार्जन करने लगती है तो वह यह समझने लगती है कि वह स्वतन्त्र है और पुरुष के लिए उसका यह स्वातन्त्र्य सहन करना कठिन हो जाता है। वह यह विचार करने लगता है कि स्त्री अब मुझे मानती नहीं है। फलस्वरूप दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध असन्तुलित सा होने लगता है और नित्य नवीन संघर्षों को जन्म देने लगता है। यह अवस्था अभी कुछ दिनों तक रहेगी और

उसके बाद अपने आप ही ठीक हो जायेगी क्योंकि इधर मध्यम वर्ग में अभी कुछ ही दिनों से नारी ने भी जीविकोपार्जन करना आरम्भ किया है। निम्न-वर्ग में जहाँ यह होता ही था वहाँ समस्या का यह रूप नहीं है। वस्तुतः जहाँ पति और पत्नी में गम्भीर स्नेह है, परस्पर विश्वास है वहाँ यह प्रश्न इस रूप में उठ ही नहीं सकता है। दोनों ही पक्षों को मिल-जुल कर अन्य प्रश्नों की ही भाँति आर्थिक प्रश्न को भी सुलझाना चाहिए। फिर भी यदि आर्थिक दृष्टि से स्त्री की उपयोगिता अर्थोपार्जन करने में बाहर जा कर अधिक नहीं हो सकती है तो उसे पुरुष द्वारा संगृहित धन का ही ऐसे ढंग से उपयोग करना चाहिए जिससे उसी धन का अधिकाधिक उपयोग हो सके और इस प्रकार से वह घर के धन की बचत भी कर सकेगी तथा आर्थिक दृष्टि से अपनी उपयोगिता भी सिद्ध कर सकेगी। दूसरी ओर योग्यता होने पर और गृहस्थी का काम-काज ठीक से करते रहने पर भी यदि वह जीविकोपार्जन कर सकती है तो वैसा करने में कोई हानि भी नहीं है किन्तु गृहस्थी की सुख-शान्ति, बालकों का समुचित रूप से लालन-पालन किया जाना आदि नारी के अत्यन्त पुनीत एवं आवश्यक कर्तव्य हैं।

यदि गृहिणी इन सब कार्यों को सुचारु रूप से करते हुए भी जीविकोपार्जन का कार्य करना चाहे तो उसे अपने सब कार्यों को दैनिक, साप्ताहिक, सामयिक कार्यों में बाँट लेना चाहिए। ऐसे तो आकस्मिक कार्य तो जब भी कभी आ पड़ेंगे उसे करना ही होगा जैसे कि परिवार में किसी व्यक्ति का विवाह, यज्ञोपवीत तथा किसी का रोगी हो जाना आदि।

साधारणतया दैनिक कार्यों में उसे घरेलू कार्य और व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों का ब्योरा तैयार कर लेना होगा। यदि वह डायरी रख सके तो और भी अच्छा हो। घरेलू दैनिक कार्यों में उसे घर की सफाई प्रतिदिन करना अथवा करवाना चाहिए। रसोई, स्नानगृह, शौचगृह की सफाई तो बहुत अच्छी तरह प्रतिदिन करवानी ही चाहिए किन्तु अन्य कमरों में भी झाड़ू लगाना तथा सब चीजों को झाड़ पोंछ तो देना ही चाहिए। यदि प्रतिदिन सफाई और झाड़-पोंछ होती रहे तो घर चमकता रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि एक-आध दिन झाड़ू न भी लग सके तो भी गन्दगी नहीं जान पड़ेगी। बच्चों को भी सब वस्तुएँ

यथास्थान रखने की आदत डलवानी चाहिए। इससे गृहिणी का कार्य कुछ कम ही हो जाता है।

भोजन बनाना अथवा बनवाना भी गृहिणी का नित्य कर्म है। परिवार के सब व्यक्तियों को पौष्टिक और आवश्यकतानुसार भोजन मिले यह गृहिणी को स्वयं देखना चाहिए। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति के रोगी हो जाने पर उसके पथ्य एवं औषध की व्यवस्था भी गृहिणी को ही करनी पड़ती है।

बच्चों की देखभाल इस ढंग से करना कि उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास ठीक ढंग से हो सके, गृहिणी का ही कार्य है। उसे कुछ न कुछ कपड़े भी नित्य धोने अथवा धुलवाने पड़ते हैं। पलंग की चादरें, तकिये गिलाफ आदि को भी देख लेना चाहिए। समय पर पलंग, बिस्तर लगवा कर बच्चों को सुलाना और प्रातःकाल समय पर उठाना भी गृहिणी का ही कार्य है।

इसके अतिरिक्त प्रतिदिन का हिसाब लिखना भी आवश्यक है ताकि घर के बजट पर उसका नियन्त्रण एवं अधिकार रहे। यदि किसी एक मद में अधिक व्यय हो जाये तो दूसरी में तनिक कम करके हिसाब ठीक कर लेना चाहिए।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त उसे दैनिक व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों का भी ब्योरा रखना चाहिए और व्यवसाय सम्बन्धी जो भी कार्य करने की तैयारी करना आवश्यक हो उसे घर पर कर लेना चाहिए ताकि घर के कार्य के कारण व्यवसाय के कार्यों की और दूसरी ओर व्यवसाय के कार्यों के कारण घर के कार्यों की हानि न हो।

साप्ताहिक कार्यों में साप्ताहिक घर की सफाई, आचार, मुरब्बे आदि को आवश्यकतानुसार धूप दिखाना, कपड़े धोना, धोबी को कपड़े देना और लेना, कपड़ों की सिलाई और मरम्मत आदि को गिना जा सकता है। त्योहारों की तैयारी करना, घर की पुताई, बुनाई, कपड़े बनवाना आदि सामयिक कार्य होते हैं।

गृहिणी को कार्य और समय दोनों का ही पूरा-पूरा ध्यान रख कर प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित ढंग से ही करना चाहिए। इस प्रकार वह अपने घरेलू और जीविकोपार्जन सम्बन्धी दोनों ही कार्य ठीक ढंग से कर सकेगी।

अध्याय ४

माता और बालक

माता—विवाह के पश्चात् साधारणतया प्रत्येक स्त्री माता बनती है। यद्यपि स्त्री पुरुष का परस्पर सम्बन्ध यदि सावधानी एवं सतर्कता से आरम्भ न किया जाए तो परस्पर इस सम्बन्ध को ले कर अविश्वास और अन्य प्रकार की अस्वाभाविक भावनाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु साधारणतया नारी जन्मदात्री तो हो ही जाती है। राष्ट्र का भविष्य उसकी सन्तान पर ही निर्भर रहता है और सन्तान का भविष्य बहुत कुछ माता पर ही निर्भर रहता है। माता की ही सावधानी बालक को स्वस्थ शरीर लेकर पृथ्वी पर आने देने में सहायक हो सकती है। वस्तुतः बालक की देखरेख उसी समय से आरम्भ हो जाती है जब कि वह माता के गर्भ में आता है। अतः गर्भवती माता की सावधानी से देखरेख होनी चाहिए। गर्भवती स्त्री के भोजन की चर्चा तो हम यथास्थान कर ही चुके हैं। उसके वस्त्र सदा स्वच्छ होने चाहिए। उसे बहुत कस कर वस्त्र नहीं पहनने चाहिए और धोती तथा पेटीकोट तो कदापि कस कर नहीं बाँधना चाहिए किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके वस्त्र भली प्रकार सिले अथवा आकर्षक न हों।

यद्यपि गर्भिणी को बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए किन्तु कुछ काम अवश्य करना चाहिए। केवल आराम ही करते रहने से बालक के जन्म के समय माता को अत्यधिक कष्ट होता है। घरेलू कार्य तो उसे करते ही रहना चाहिए। झाड़ू बुहारू भी कर सकती है। केवल बहुत भारी-भारी वस्तुएँ उठाना रखना नहीं चाहिए। शुद्ध वायु में टहलना फिरना गर्भवती स्त्री के लिए लाभदायक होता है। चर्खा आदि चलाना भी अच्छा रहता है। घर के प्रायः सब कार्य किए जा सकते हैं। उसे वस्तुतः कार्य और विश्राम के बीच इतना अनुपात रखना चाहिए कि अपना शरीर उसे हलका ही लगता रहे, भारी न जान पड़े। समय-समय पर गर्भवती स्त्री की डाक्टरी परीक्षा करवाते

रहना चाहिए ताकि यदि कोई कठिनाई हो तो समय से ही उसकी चिकित्सा करवाई जा सके। गर्भवती स्त्री के रक्त तथा मूत्र की परीक्षा भी समय-समय पर करवाते रहना अच्छा होता है।

गर्भवती स्त्री के लिए कूदना, फाँदना, उत्तेजित करने वाली पुस्तकें पढ़ना तथा ऐसी बातें सुनना भी निषिद्ध है। उसे अपने मानसिक भाव शुद्ध पवित्र रखने चाहिए तथा उसका मन शान्त रहना चाहिए। क्रोध, द्वेष, घृणा, शोक आदि से दूर ही रहना चाहिए।

प्रसव—यूँ तो प्रायः आजकल स्त्रियाँ भी डाक्टर होती हैं और नगरों में तो उनका मिलना कठिन भी नहीं है फिर भी पहले से ही डाक्टरनी का प्रबन्ध कर लेना चाहिए। यदि सुविधा हो और सम्भव हो तो प्रसव हस्पताल में ही करवाना चाहिए क्योंकि वैसी सुविधाएँ साधारण घरों में मिलना कठिन ही होता है किन्तु वैसा न हो सकने पर प्रसूता के लिए एक खुले हवादार ऐसे स्वच्छ कमरे का प्रबन्ध करना चाहिए जहाँ कि धूप पर्याप्त मात्रा में आ सके। प्रसूता का पलंग लोहे का हो तो अच्छा है अन्यथा भली प्रकार कसा हुआ निवाड़ का अथवा बान का भी हो सकता है। पलंग पर गद्देदार स्वच्छ बिस्तर लगा देना चाहिए। बिस्तर पर एक पूरा पलंग के ही माप का मोमजामा भी होना चाहिए ताकि सारा बिस्तर खराब न हो। बालक को लिटाने के लिए एक पृथक् पालने का प्रबन्ध होना चाहिए।

प्रसूता के प्रयोग में लाने के लिए स्वच्छ वस्त्र ही होने चाहिये और उसका बिस्तर भी स्वच्छ तथा कोमल होना चाहिये। बालक के लिए भी ऋतु के अनुसार कुछ स्वच्छ वस्त्रों का प्रबन्ध कर रखना चाहिये। प्रसूता के प्रयोग में लाने के लिए कमरे में बैड पैन, शुद्ध रूई, शुद्ध कैंची का होना भी आवश्यक है। एक मेज़, दो तीन कुर्सियाँ भी रखी जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त केवल वही सामान प्रसूता के कमरे में और रखना चाहिये जिनकी कि डाक्टरनी के आदेशानुसार आवश्यकता हो। खाने पीने का तथा अन्य सामान वहाँ नहीं रखना चाहिए। प्रसूता के लिए मेवा तथा अन्य खाद्य वस्तुएँ पहले से तैयार की जा सकती हैं किन्तु उन्हें दूसरे कमरे में रखना चाहिये।

प्रसूता को तर, सुपाच्य, पौष्टिक और गरम भोजन देना चाहिये। अवस्थानुसार उसे बादाम, पिस्ता, मुनक्का आदि दिया जा सकता है। घी में भून कर कीकर का गोंद, बादाम, सोंठ, सूजी का हलवा आदि भी दिया जाता है। पिसा हुआ बादाम घी में मिला कर उसमें चीनी अथवा शहद डाल कर देना भी लाभदायक होता है। दूध में भी बादाम, मुनक्का, इलायची, सोंठ, पीपल, पहाड़ी गोखरू आदि थोड़ी थोड़ी मात्रा में लगभग तीन-तीन माशे मिला कर उसे पका कर दिया जा सकता है। सोंठ डाल कर पतली, हलकी, चोकर सहित आटे की रोटी भी दी जा सकती है। दूध पिलाने वाली माता के भोजन की चर्चा तो हम यथास्थान कर ही चुके हैं।

पौष्टिक भोजन के अतिरिक्त प्रसूता को पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये और उसके कमरे में सर्वथा शान्ति होनी चाहिये ताकि उसे अच्छी तरह नींद आ जाये।

उसके शरीर की नित्य सफाई होनी चाहिये। तेल मल कर पुटाशियम परमेंगनेट पड़े हुए पानी से उसके शरीर को साफ करना चाहिये। कपड़े नित्य बदलना, दाँत और बाल साफ करना भी आवश्यक है।

उसे सर्दी से बचाना चाहिए। किसी भी अवस्था में प्रसूता को उत्तेजित नहीं करना चाहिये। बालक के दुग्धपान से पूर्व तथा पश्चात् उसे अपने स्तनों के अग्रभाग को गर्म जल में रूई भिगो कर उससे सदैव साफ करते रहना चाहिये।

प्रसव तो सुयोग्य डाक्टरनी की देखरेख में होना ही चाहिये, प्रसूता की देखरेख करते हुए भी डाक्टरनी से आदेश लेते रहना अच्छा ही होता है।

सन्तति नियमन (बर्थ कन्ट्रोल)—यह ठीक है कि बालक भगवान की एक अनुपम देन है किन्तु बहुत अधिक सन्तान होने तथा शीघ्र ही होते जाने से माता अत्यन्त दुर्बल हो जाती है तथा कभी कभी तो ऐसी अवस्था में क्षयरोग होने का भी भय होता है। आर्थिक दृष्टि से भी अधिक सन्तानों का समुचित भार वहन करना कठिन हो जाता है। अधिक बच्चों की देखरेख भी माता के लिए ठीक से करना कठिन हो जाता है अतः अधिक से अधिक चार सन्तान होनी चाहिए और वह भी सम्भवतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से। साधारणतया तो दो अथवा तीन

सन्तान होना ही पर्याप्त होता है।

अधिक सन्तान न होने देने के लिए सर्वोत्तम उपाय संयम है और उसी का हमारे शास्त्रों में विधान भी है किन्तु ऐसा न हो सकने पर किसी चतुर डाक्टरनी से सम्मति लेनी चाहिये तथा उसी के आदेशानुसार कार्य करना चाहिये। स्वयं बिना किसी सुयोग्य व्यक्ति की सलाह के कुछ भी करना हानिकर हो सकता है।

बालक और माता-पिता—यह तो हम देख ही चुके हैं कि किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन प्रतिमान की नींव उसके बाल्यकाल में ही पड़ जाती है। अतः बाल्य-काल ही उसके जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल होता है। दूसरी ओर स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य जीवन में भी सन्तान का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना होती है। कभी-कभी तो दुःखी, असन्तुलित और एक दूसरे से ऊब उठने वाले स्त्री-पुरुष भी सन्तान के जन्म हो जाने पर सुखी, सन्तुलित और एक दूसरे को सहन करने वाले हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तान माता और पिता दोनों की ही वस्तु होती है। सन्तान के शरीर में प्रवाहित होने वाला रक्त उसे दोनों से ही प्राप्त होता है। अतः वह दोनों को एक करने वाली वस्तु बन जाती है और उसके हित अहित का प्रश्न दोनों का ही निजी प्रश्न हो जाता है। भले ही वह व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से ऊब ही गए हों किन्तु सन्तान के आ जाने से उन दोनों के जीवन में, गृहस्थी में एक नवीनता का प्रवेश होता है और वह नवीनता दोनों को पुनर्निमाण करने के लिए एकत्रित कर देती है।

यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत सा शोध एवं खोज कार्य हो चुका है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कैसा व्यक्तित्व असन्तुलित कहा जा सकता है किन्तु स्वाभाविक और ठीक व्यक्तित्व के लक्षण पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किए जा सके हैं। फिर भी इतना तो माना ही जाता है कि परिवर्तित हो पाने की क्षमता रखने वाला अथवा गतिशील (Dynamic) व्यक्तित्व अच्छा व्यक्तित्व होता है। गतिशील व्यक्तित्व मनोवैज्ञानिकों की धारणानुसार मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है और समाज शास्त्रियों के मतानुसार भी सांस्कृतिक व्यक्तित्व होना आवश्यक है। वस्तुतः मानव-जीवन में व्यक्तित्व का गतिशील

और सांस्कृतिक दोनों ही होना आवश्यक है। स्वाभाविक और पूर्ण विकासप्राप्त, भावनापूर्ण व्यक्तित्व जीवन में आने वाले प्रत्येक परिवर्तन को, यहाँ तक कि आँधी, तूफान, झटकों, द्वन्द्व, संघर्षों आदि सब को स्वीकार तो करता ही है उनका अधिकाधिक सुन्दर रूप ग्रहण करने का प्रयत्न भी करता है। जीवन-संघर्ष उसे न तो उत्तेजना की चरम सीमा तक ही पहुँचा पाते हैं और न उनके व्यक्तित्व को ही भंग कर पाते हैं। वह स्वयं अपने आप में इतना पूर्ण होता है कि उसे दूसरों के द्वारा जीवित रहने की आवश्यकता नहीं होती है। वह दूसरों को भी अपने आप में ही पूर्ण और सर्वथा वैसा ही समझता है जैसा कि अपने आप को। ये सब गुण व्यक्ति को बाल्यकाल में अपने माता-पिता से ही प्राप्त करने होते हैं। भावनाओं का पूर्ण विकास केवल माता और पिता से सम्बन्ध रख कर किया जा सकता है। जब बालक माता-पिता के साथ रखने वाले सम्बन्धों के द्वारा भावनाओं को पूर्ण, परिपक्व कर लेता है और उसे माता-पिता के शासन, स्नेह, सहायता, स्वीकृति आदि की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं रहती है तब वह अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर पाता है।

यदि माता अथवा पिता दोनों में से किसी एक का भी व्यक्तित्व विकास-प्राप्त भावनाओं सहित एवं पूर्ण नहीं होगा तो सन्तान-जन्म उसके लिए एक कठिन समस्या सी हो जायेगी। यूँ तो प्रथम सन्तान का माता अथवा पिता होना व्यक्ति के जीवन की एक विचित्र सी ही घटना होती है। सन्तुलित व्यक्तित्ववान माता-पिता के साथ यह घटना आनन्ददायिनी भी हो सकती है और इससे विपरीत दशा होने पर दुःखदायी भी हो सकती है।

प्रथम बालक का जन्म माता और पिता दोनों को ही नवीन अनुभव देता है किन्तु माता को तो जान पड़ता है कि उसने अपने हृदय के, शरीर के भीतर से जीवन उत्पन्न किया है अतः उसकी बालक के प्रति ममता भी अधिक होती है। पिता बालक के जन्म की घटना से प्रत्यक्ष रूप से उतना अधिक सम्बन्धित नहीं होता है। अतः वह धीरे-धीरे सांस्कृतिक एवं सामाजिक धरातल पर खड़ा हो कर पितृत्व का अनुभव करता है। पितृत्व उसके लिए

नवीन पद, नवीन उत्तरदायित्व आदि लेकर आता है। माता का तो व्यक्तित्व सन्तोनात्पत्ति के पश्चात कुछ उभर आता है। यही कारण है कि कुछ स्त्रियों के हिस्टीरिया के दौरे सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् समाप्त हो जाते हैं।

कभी-कभी पिता माता के नई सन्तान में ही बहुत अधिक मग्न हो जाने से बच्चे चिढ़ भी जाते हैं। बहुत कुछ उसका कारण उनके बाल्यकाल में उनके बाद भाई अथवा बहिन के जन्म होने पर उनका महत्त्व घट जाना ही होता है। अतः माता-पिता को बहुत सावधानी से नवीन सन्तान का जन्म होने पर पहली सन्तान को देखते-भालते रहना चाहिये ताकि उसमें ईर्ष्या, द्वेष का जन्म न हो पाए। उसे ऐसा न जान पड़े कि नवीन आगन्तुक उसके अधिकारों पर डाका डाल रहा है। यह तब हो सकता है जब कि माता उसे यह अनुभव करा दे कि उसका स्थान तो पूर्णतया सुरक्षित ही है और नवीन आगन्तुक उसका ही है। यदि पहली सन्तान जो कि दूसरी सन्तान की अपेक्षा कुछ बड़ी ही होगी दूसरी सन्तान पर अपना अधिकार समझेगी उसे "मेरा मुन्ना" करके जानेगी तो उसे अपने अधिकारों के छिनने का उतना भान भी नहीं होगा। माता को बालक के पिता की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते रहना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माता प्राकृतिक कारणों से स्वाभाविक रूप से ही बालक में अधिक लिप्त होगी किन्तु उसे पति के साथ ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे कि उसे यह आभास न मिले कि उनकी पत्नी अब पूर्णतया उसकी ही न रह कर बहुत कुछ उनसे छिन कर उनकी सन्तान को मिल गई है। ऐसा होने से यदि बाल्य काल में अधिकार छिनने की झुँझलाहट उनमें रही होगी तो वह उभर जायेगी। पति को यह अनुभव ही नहीं होना चाहिये कि गर्भवती होने की दशा में अथवा बालक के जन्म होने के पश्चात् पत्नी उसके सुख आनन्द की साथी नहीं रह गई है। वस्तुतः बालक परिवार में पति-पत्नी को एक नवीन ध्यान-केन्द्र, आनन्द देने के लिए आना चाहिए, उनके आनन्दों में बाधा स्वरूप नहीं।

बच्चों की ओर चार प्रकार का दृष्टिकोण रखा जा सकता है। उन्हें एक उत्तरदायित्व, अथवा एक कर्तव्य समझ कर, आनन्द और सन्तोष का एक नवीन मार्ग समझ कर, कुछ गुणों का बीज रूप में आगार समझ कर और

एक व्यर्थ की विपत्ति समझ कर। यद्यपि किसी न किसी समय पर, कभी न कभी ये चारों ही दृष्टिकोण एक-एक कर के माता-पिता के सम्मुख आते हैं फिर भी इनमें से कोई एक दृष्टिकोण प्रधान होता है। यह सत्य है कि बालक का जन्म घर के कामों को लगभग ५०% बढ़ा देता है और यह बढ़े हुए कार्य गृहस्वामी की सेवा में कुछ कमी भी कर ही देते हैं फिर भी माता-पिता होने का गौरव और आनन्द उन्हें इससे कष्ट नहीं होने देता है। अपूर्ण अविकसित एवं असन्तुलित व्यक्तित्व वाले माता-पिता आपस में होनेवाली अनबन का कारण व्यर्थ में ही सन्तान को मान बैठते हैं। इस दशा में वे अकारण ही सन्तान के प्रति कठोर हो उठते हैं किन्तु इसमें दोष सन्तान का न हो कर उन्हीं का होता है वरन् वे तो सन्तान के व्यक्तित्व को भी अपूर्ण, असन्तुलित बनाने की दिशा में ही कर्मशील होते हैं। माता अथवा पिता दोनों का ही सन्तान पर आवश्यक से अधिक आधिपत्य, सत्ता जमाना घर में अशान्ति के बीज बोना है।

कुछ पिता तो कम किन्तु अधिकतर माताएँ बच्चों पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देती हैं। आयु हो जाने पर भी सारे उनके काम स्वयं ही करती है, बड़ी आयु तक साथ सुलाती, कपड़े पहनाती, खिलाती-पिलाती हैं। बालक को सारे समय अपने ही साथ रखना चाहती हैं आदि आदि। माता से अधिक देर तक और अधिक सेवा, स्नेह और सुरक्षा पा कर बालक मित्रों तक के साथ से बचा ही रहता है। परिणाम स्वरूप बालक न तो स्वावलम्बी हो पाता है और न सामाजिक ही। ऐसे बालक स्वार्थी, अनुशासनहीन, ज़िद्दी, ढीठ और पर-मुखापेक्षी ही रहते हैं। दूसरों से न तो उन्हें ठीक-ठीक व्यवहार करना ही आ पाता है और न दूसरे उनके साथ सुखी ही रह सकते हैं। ऐसे बच्चे जीवन भर दुःखी और असन्तुष्ट ही रहते हैं।

वस्तुतः बालक के प्रति माता-पिता का दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए जो कि बालक को कुछ गुणों का आगार समझें यद्यपि वे गुण उसमें बीज रूप से ही रहते हैं। इस बीज रूप गुणों का विकास अनुकूल वातावरण एवं परिस्थितियाँ पाने पर ही हो सकता है। यद्यपि यह दृष्टिकोण प्रधान होना चाहिए किन्तु अन्य

भावनाएँ भी कभी-कभी उभर ही आती हैं।

प्रायः दो प्रकार की अपेक्षा माता-पिता बालकों से करते हैं। कुछ माता-पिता तो बालकों को जातीय नियमादि के अनुसार सांस्कृतिक रूपरेखा, प्रचलन आदि ले कर सभ्य, आज्ञाकारी अर्थात् परम्पराओं के अनुरूप "सुशील" देखना चाहते हैं किन्तु कुछ माता-पिता ऐसे भी होते हैं जोकि बालकों के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास अर्थात् उनकी आत्माभिव्यक्ति, आत्म-विकास देखना चाहते हैं। दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं वाले माता-पिता अपने अपने उद्देश्य की सफलता के लिए प्रयत्नशील होते हैं और उसी प्रकार का दिशानिर्देशन अपनी सन्तान के लिए करते हैं जैसा कि वे उसे बनाना चाहते हैं। प्रायः उच्च, उच्च मध्य वर्ग एवं शिक्षित माता-पिता बालक का स्वाभाविक विकास देखना चाहते हैं किन्तु कम शिक्षित अथवा अशिक्षित एवं निम्न मध्य वर्ग अथवा निम्न वर्ग के माता-पिता प्रायः बालकों को परम्पराओं के अनुरूप ही बनते देखना चाहते हैं।

वस्तुतः माता-पिता का लक्ष्य बालक का स्वाभाविक विकास अर्थात् उसके प्रकृति-प्रदत्त गुणों का विकास ही होना चाहिए। वे उसके विकसित व्यक्तित्व को सांस्कृतिक रूपरेखा दे सकते हैं। बालक की प्राकृतिक आवश्यकताओं को समझना माता-पिता का कार्य होना चाहिए। प्रायः उसकी तथा प्रत्येक व्यक्ति की मुख्यतः तीन प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं सुरक्षा, जीवन यापन सम्बन्धी सुविधाएँ एवं सामाजिक जीवन। इनमें से एक है भावनात्मक सुरक्षा, सफलता-प्राप्ति और अपने ही संसार को बसा, भरा-पूरा रखना। इन्हीं तीन प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति जीवन भर ही करता रहता है किन्तु इनका आरम्भ व्यक्ति के बाल्यकाल से ही हो जाता है। भावनात्मक सुरक्षा में स्नेह का सर्वप्रथम स्थान होता है। बालक को स्नेह की अत्यधिक आवश्यकता होती है। शरीर को सब ही सुख-सुविधाएँ मिलते हुए भी यदि स्नेह नहीं मिलता है तो बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना सम्भव नहीं होता है। स्नेह का अर्थ बालक को पूर्णतया माता-पिता का आश्रित ही बना देना नहीं होना चाहिए। माता-पिता का स्नेह बालक को स्वतन्त्र,

आत्म-निर्भर, आत्म-विश्वासी और स्वावलम्बी देखना ही होना चाहिए। बालक की सब इच्छाओं की अनुचित उचित विवेक विचार के बिना ही पूर्ति करते जाना भी माता-पिता का स्नेह नहीं कहा जा सकता है। सफलता और असफलता दोनों ही तो विश्व में हैं। उनमें से केवल एक ही का परिचय बालक को देना उसके लिए अहितकर होता है। अतः माता-पिता का स्नेह बालक के स्वाभाविक विकास में बाधक न हो कर सहायक सिद्ध होना चाहिए। सफलता-प्राप्ति उसका लक्ष्य अवश्य होना चाहिए किन्तु असफलता से भी उसका परिचय होना ही चाहिए ताकि वह उससे घबराने, भय खाने वाले न बने। बालक को एक ऐसे विश्व में रहना होता है जहाँ कि केवल उसका काल्पनिक संसार ही नहीं होता है वरन् और भी बहुत कुछ होता है अतः बालक को परिवार के अन्य सदस्यों के साथ व्यवहार करना भी सिखाना ही चाहिए।

बालक के आस-पास ऐसा वातावरण होना चाहिए जो कि उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो अर्थात् उसका वातावरण शान्त और सुखदायक होना चाहिए। किसी भी कार्य के करने में त्रुटि हो जाने पर उसे भय से व्याकुल न होना पड़े, ताकि वह त्रुटियाँ करे और उन्हें सुधार सके अथवा कम से कम सुधारने का अवसर प्राप्त कर सके। झुँझलाहट, घबराहट, चिन्ता, निरन्तर भय बालक के विकास की दिशा में भयानक रूप से बाधक सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः घर, परिवार तो बालक के लिए एक शिक्षा-संस्था की भाँति होना चाहिए जहाँ कि वह बहुत कुछ सीख सके, समझ सके, जान सके और सीखने,, समझने, जानने के विविध अवसर भी प्राप्त कर सके; जहाँ उसके खेल, विश्राम, झुँझलाहट तथा अन्य सब ही प्रकार की वृत्तियों और भावनाओं में सन्तुलन बनाए रखने योग्य अवसर उसे मिलते रहें।

मुख्यतः बालक को पूर्ण व्यक्ति होने तक अपने माता-पिता के स्नेह के आधार पर पूर्ण भावनात्मक विकास कर लेना चाहिए, अपने समवयस्क मित्रों के समूह का एक अंग बनना चाहिए, सब प्रकार की भावनाओं को संयमित एवं संतुलित कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेनी चाहिए और अपने आप

को परिवार से स्वतन्त्र व्यक्ति समझना भी आरम्भ कर देना चाहिए जो कि उसके बाल्यकाल में सम्भव नहीं था।

वृद्धावस्था में माता-पिता को अनावश्यक रूप से सन्तान पर अधिकार जमाने की चेष्टा नहीं करना चाहिए तथा उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता भी देनी चाहिए। उनके प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करते रहना हानिकर भी सिद्ध हो सकता है। वृद्धावस्था में भी कुछ न कुछ करते रहना आवश्यक है किन्तु वे कार्य भी युवकों के साथ किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने वाले नहीं होने चाहिए। वृद्धावस्था में स्नेह-प्राप्ति की इच्छा बहुत अधिक होती है तथा हमारी भी किसी को आवश्यकता है यह भावना बहुत प्रिय लगती है। उन्हें पुरातन वस्तुओं से भी कुछ अधिक स्नेह हो जाता है। ऐसी अवस्था में अच्छा तो यही है कि वृद्ध जन भगवान और धर्म की ओर ही अधिक ध्यान दें तथा उसी में लीन होने का प्रयत्न करें। उनकी धार्मिक वृत्ति, हस्तक्षेप-रहित कार्य-कलाप, स्नेहशील व्यवहार परिवार पर बहुत अच्छा प्रभाव डालता है।

अध्याय ५

परिवार और उसकी आवश्यकताएँ

दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं में मितव्ययिता—कौटुम्बिक जीवन में सुख, शान्ति तथा आनन्द के लिए उस कुटुम्ब के आय तथा व्यय में संतुलन होना चाहिए। धन कमाना सरल हो सकता है परन्तु एक-एक पाई का पूर्ण लाभ उठाया जा सके ऐसी व्यवस्था कर पाना उतना सहज नहीं होता है। यह तो एक कला है। आय और व्यय में संतुलन रखने के लिए विवेक और इच्छा शक्ति की महान् आवश्यकता है। यदि इससे काम नहीं लिया जाता है तो आवश्यकताओं की अधिकाधिक संतुष्टि नहीं हो सकेगी। फलतः घरेलू जीवन सुखी व सम्पन्न नहीं बन सकता है।

आज के संसार में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकतर बाहर से

खरीदी हुई वस्तुओं पर निर्भर रहती है। अथवा यूँ कहिये कि हम अपनी आय का बहुत सा अंश वस्तुओं के खरीदने में खर्च करते हैं। अतः खरीदने से पहले हमें अपनी आवश्यकताओं को समझ लेना चाहिये और फिर अपनी आय को इन आवश्यकताओं पर इस प्रकार बाँट देना चाहिये कि गृहस्थ-जीवन की हर समस्या सरल हो जाय तथा सुख व शान्ति भी प्राप्त हो सके। इसके लिए 'सम सीमान्त उपयोगिता' के नियम का पालन करना बहुत आवश्यक है। ऐसे तो प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं किन्तु भोजन, वस्त्र, रहने के लिए घर, प्रकाश, शिक्षा, स्वास्थ सम्बन्धी व्यय सब के लिए अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त मनोरंजन तथा सामाजिक व्यय भी आते ही रहते हैं जिन्हें कि महत्त्व देना पड़ता है तथा उनकी पूर्ति के लिए भी व्यय करना पड़ता है। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि मनुष्य की आवश्यकताएँ असंख्य, अगणित और अपरिमित हैं। अतः विवेक व इच्छा शक्ति से इनको अपनी आय की परिधि में बाँधे रहना परमावश्यक है।

इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि कभी भी दो परिवारों की आवश्यकताएँ समान नहीं होती हैं। फिर भी कुछ बातों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाये तो गृहस्थी रूपी गाड़ी सरलता से चल सकती है।

पहली बात तो यह है कि धन के व्यय करने में विवेक से काम ले, इच्छा शक्ति का प्रयोग करके धन इस प्रकार बाँटे कि सब आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। यदि व्यय में संतुलन नहीं है तो कुछ आवश्यकताओं पर अधिक रुपया कुछ पर कम खर्च होगा। फलस्वरूप कुछ आवश्यकताओं को छोड़ना पड़ेगा।

इसके लिए भी एक सुगम उपाय यह हो सकता है पारिवारिक बजट पहले से बना कर देख लिया जाय कि किस वस्तु की आवश्यकता अधिक है और किसकी कम। यह निर्णय जीवन-रक्षा, निपुणता तथा सम्मान-रक्षा के आधार पर करने से कठिन नहीं होगा। यदि इस प्रकार के खर्च से कुछ बच रहे तो आरामदायक वस्तु पर व्यय करना चाहिये तथा यदि उससे भी धन बच रहे तो भविष्य के लिए कुछ बचत की मद में डाल देना उचित है और उसके

बाद फिर विलास की ओर ध्यान देना चाहिए। परन्तु इतने से ही कार्य समाप्त नहीं हो जाता। यदि मनुष्य को मूल्य के औचित्य का ज्ञान नहीं है तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मूल्य की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। सस्ते मँहगे का विचार करना ज़रूरी है। उसके लिए देखना चाहिये कि अमुक वस्तु कहाँ पर सस्ती, एवं कहाँ पर मँहगी मिलता है। जिस समय बाजार में किसी वस्तु की माँग बहुत होगी, स्वाभाविक है कि उसका मूल्य अधिक होगा। अतः उस समय यदि उसका क्रय करना टाला जा सके तो अवश्य टाल देना चाहिये। माँग घटने पर मूल्य भी घटेगा तो वही वस्तु जो अधिक मूल्य पर मिलती थोड़े धन से ही प्राप्त हो सकेगी। साथ ही थोड़ा परिश्रम भी करना चाहिये। नौकरों पर पूरी तरह निर्भर रहने से भी अधिक धन व्यय हो जाता है। यदि मास में एक दिन थोड़ा सा समय लगा कर खरीदारी स्वयं करा ली जाय तो हानि कुछ नहीं होती पर लाभ बहुत होता है।

क्रय करने की भी कला होती है। साधारणतया सब व्यक्तियों में यह कला नहीं होती है पर गृहिणी को क्रय करना आना चाहिये क्योंकि मोल-तोल करने से भी व्यय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि यह ढंग मनुष्य में नहीं है तो उसे या तो उस वस्तु के बिना ही लौटना पड़ता है जिसकी कि आवश्यकता है या एक की जगह दो दे कर वह वस्तु मिलती है। अतः मोल-तोल करने का ढंग न जानने से व्यय बढ़ता है।

बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो इन बातों के न जानने से या जान कर भी उनको प्रयोग में नहीं ला पाने से व्यय सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं। फल यह होता है कि वे कभी पूर्ण रूप से सुखी नहीं हो पाते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो धन कमाते हैं पर उसका ठीक-ठीक उपयोग ही नहीं जानते हैं। धन इकट्ठा कर के रख लेने या बैंकों में जमा कर देने से मानसिक तृप्ति नहीं होती है।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो कि धन कमा कर हानिप्रद वस्तुओं में व्यय कर के जीवन बनाने की जगह और भी नष्ट कर लेते हैं जैसे शराबी और जुआरी लोग। यह न तो स्वयं जीवन में सुखी रहते हैं न अपने परिवार को

शान्ति की साँस लेने देते हैं।

यदि उपर्युक्त बातों को दृष्टि में रख कर मनुष्य धन का व्यय करे तो अपव्यय की कोई सम्भावना नहीं रह सकती और उसका जीवन भी हर प्रकार से सुखी रहता है।

जीवन में हर प्रकार की आवश्यकता होती है और किन्तु भोजन व वस्त्र ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके लिए पर्याप्त व्यय करने की आवश्यकता होती है और इनकी सब को आवश्यकता होती है। अन्य वस्तुओं में भिन्नता हो सकती है यहाँ तक कि वस्त्र और मकान की भी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से नहीं होती है। अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए यद्यपि आवश्यकता की तालिका नहीं बनाई जा सकती है। फिर भी कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है अर्थात् किसी प्रकार का भी क्रय करना हो तो समय, स्थान का विचार करने से समस्या सरल हो सकती है। तात्पर्य यह है कि जिस समय कोई वस्तु बाजार में अधिक मात्रा में आ जाती है तो उस समय उसे इकट्ठा क्रय कर लेने से बड़ा लाभ होता है। यदि यह कहा जाय कि फसल पर अनाज पूरे वर्ष भर के खर्च के लिए रख लेने में दुगने पैसे का लाभ तो होता है किन्तु अधिकांश भारतीय जनता निर्धनता के कारण इसमें असमर्थ है तो यह भी कहा जा सकता है कि जो लोग ऐसा कर सकते हैं उनका भी तो इस ओर ध्यान नहीं रहता है।

स्थान की दृष्टि से भी यही बात आ जाती है। जहाँ पर वस्तु का उत्पादन होता है या चारों ओर से इकट्ठी हो कर मंडी में आती है वहाँ सब माल सस्ता मिलता है। इस प्रकार थोड़े पैसे में ही अधिक काम चल सकता है। इसके लिए दूरदर्शिता और सतर्कता की आवश्यकता होती है।

सब से मुख्य बात क्रय करते समय उपयोगिता का विचार रखना है। अकसर लोग अपनी आवश्यकता को समझ नहीं पाते हैं और भावावेश में अनावश्यक वस्तुएँ भी खरीद लेते हैं। इसके लिए इच्छा शक्ति का प्रयोग ज़रूरी है। यदि एक ग्रामीण कार्यकर्ता एक शहरी को देख कर अपने लिए पैंट और बुशशर्ट का कपड़ा खरीद ले तो उसकी उपयोगिता उसके लिए कुछ भी नहीं होगी। उसे तो घुटने तक धोती बाँध कर खुले खेतों में कार्य करना

होता है। एक अनपढ़ व्यक्ति फाउंटेनपेन केवल फैशन के प्रलोभन में पड़ कर खरीद ले तो उसका उपयोग क्या करेगा ?

मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित हैं इसलिये जीवन में कौन सी आवश्यकताएँ प्राथमिक हैं यह जानना बहुत ही आवश्यक है। इस प्रकार अनावश्यक या कम आवश्यक वस्तुओं पर व्यर्थ में व्यय नहीं करना चाहिए। कभी-कभी मनुष्य वस्तु को देख कर अनायास ही उसे प्राप्त करना चाहता है, भले ही उसे उस वस्तु की आवश्यकता न हो अथवा वह कम आवश्यकता की वस्तु खरीद कर पैसे नष्ट कर रहा हो जिसके फलस्वरूप धन कम रह जाने से उसे किसी आवश्यक वस्तु के लिये कठिनाई पड़ सकती है। सैमुअल स्माइल्स का कहना है कि जिस मनुष्य में उचित-अनुचित का ध्यान रखते हुए समयानुसार 'न' करने का साहस है वह अपव्ययी कभी नहीं हो सकता है। यद्यपि इस प्रकार के 'न' करने में नैतिक साहस की आवश्यकता होनी चाहिए परन्तु न होने पर भी इसे अपने स्वभाव में लाना अवश्य गुणकारी होता है।

मितव्ययिता से लाभ—मितव्ययिता से चलने से पैसे की कठिनाई कभी नहीं हो सकती है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष लाभ तो व्यक्ति विशेष को होता है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से, दृष्टि डालने पर, ज्ञात होगा कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के द्वारा उस व्यक्ति से जो मितव्ययी है, देश को भी लाभ है।

अर्थशास्त्र में मितव्यय के द्वारा होने वाली बचत का बड़ा महत्त्व है। 'बचत' से अर्थशास्त्र में तात्पर्य उस धन से है जो कि अधिक धन उत्पादन में सहायक होता है। बचा हुआ धन देश में उत्पादन कार्य के लिए लगाया जा सकता है तथा उससे देश का आर्थिक विकास एवं उन्नति होती है, व्यापार बढ़ता है जिससे कि देश को बहुत लाभ होता है।

व्यय-तालिका (Budget)—मितव्ययिता का अर्थ यह नहीं है कि परिवार के सदस्य अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त न कर सकें। वस्तुतः मितव्ययिता का तात्पर्य है अनावश्यक वस्तुओं पर तथा बेढंगी रीति से उन्हें क्रमबद्ध कर के धन का अपव्यय न करना। ऐसा कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि परिवार की आय को देख कर उसके अनुरूप ही व्यय किया

जाये। यह तब ही हो सकता है जब कि गृहिणी परिवार की आय को देखते हुए परिवार के सब सदस्यों की आवश्यकताओं, परिवार के सामाजिक स्तर आदि को ध्यान में रख कर मास के आरम्भ में ही व्यय-तालिका बना ले और उसी के अनुसार व्यय करे। यद्यपि कई विद्वानों ने विभिन्न आय के अनुरूप आदर्श व्यय-तालिकाएँ बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु व्यय-तालिका तो गृहिणी और गृहपति को ही मिल-जुल कर अपने परिवार की आवश्यताओं के अनुसार बना लेनी चाहिए। व्यय-तालिका बनाते समय परिवार की आय, परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं, भविष्य की माँगों और उत्तरदायित्वों, आपत्तिकाल आदि की ओर तो दृष्टि रखनी ही चाहिए, मौसम के अनुसार वस्तुओं के मूल्य में होने वाली कमी-बढ़ती और उनके संग्रह सम्बन्धी सुविधाओं आदि की ओर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

पारिवारिक व्यय-तालिका—प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय अपने परिवार को पूर्ण सुख पहुँचाना होता है और प्रबन्ध भी आय के अन्दर ही करना होता है। ऐसा कर पाने के लिए बहुत विचार करने एवं ध्यान रखने की आवश्यकता है। अतः सोच-समझ कर बड़ी मदों में खर्च का विभाजन करके तथा उनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत छोटे से छोटे खर्चे की भी तालिका बना लेनी आवश्यक है। जिनकी आय बँधी होती है उनके लिए इससे बढ़ कर अन्य कोई प्रबन्ध करने का उत्तम ढंग नहीं हो सकता है।

आवश्यकताओं को समझ लेने में केवल थोड़े दिनों के अनुभव की ही आवश्यकता होती है। जो खर्च व्यर्थ प्रतीत हों वे अनुभव के आधार पर अलग किये जा सकते हैं। पहले छोटे-छोटे खर्चों को लिख कर और उनका योग करके यह पता लगाया जा सकता है कि आय के अन्तर्गत खर्च आता है अथवा उससे अधिक। यदि अधिक व्यय हो रहा है तो कम आवश्यक वस्तु पर व्यय कम किया जा सकता है।

इस बजट के बनाने के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। कोई छोटे से छोटे खर्च तक की तालिका बना कर आय से उसकी तुलना कर के फिर ब्योरा बनाते हैं और जो अनावश्यक खर्च होते हैं उन्हें निकाल कर आय और व्यय में संतुलन

स्थापित करते हैं। कोई बड़े मद में आय को विभाजित करते हैं और फिर उसके अन्तर्गत छोटे-छोटे व्यय को देख कर उसमें कमी करते हैं। इस प्रकार का व्योरा कोई साप्ताहिक और कोई मासिक बना कर फिर वर्ष भर का व्यय निकाल लेते हैं। परन्तु पहला ढंग कुछ अधिक सुविधाजनक नहीं है।

यह सत्य है कि धन उपार्जन करना सरल है पर उसे सुचारु रूप से व्यय करना सरल नहीं है। इसके कई कारण हैं। अधिकांश लोगों में दूरदर्शिता की कमी होती है और आवश्यक-अनावश्यक का भेद भी नहीं जानते हैं। मासिक और साप्ताहिक व्योरे में यह भूल जाते हैं कि साप्ताहिक व्यय मासिक व्यय से भिन्न होता है और मासिक व्यय वार्षिक से भिन्न होता है।

मासिक व्यय ऋतु पर भी निर्भर रहता है अर्थात् किसी मास में व्यय अधिक होता है और किसी में कम। उदाहरण के लिए देखा जाय तो सर्दियों में कोयला और ईंधन गर्मी के ऋतु से कहीं अधिक लगता है। किसी महीने में मित्र या नाते-रिश्ते में शादी-ब्याह पड़ गया तो आने-जाने में अथवा भेंट देने में खर्च अधिक हो जाता है। इस प्रकार के व्यय का व्योरा बजट में नहीं होता है। अब यह स्वाभाविक है कि उस महीने में पैसे की तंगी हो जायगी। कभी-कभी तो ऐसे व्यय निकल आते हैं जिनकी कि कल्पना भी पहले नहीं होती है।

वार्षिक व्योरा अधिक उपयुक्त होता है। पहले एक वर्ष के खर्च का हिसाब बना ले। फिर उसे बारह भागों में विभाजित कर के अपनी आय और व्यय की उसी के अनुसार तुलना कर के मासिक ढंग पर व्यय करे। यदि किसी मास में ब्याह-शादी नहीं भी है और वर्ष के इस भाग में व्यय का ५२ बच रहता है तो वह इकट्ठा होता जायगा। जिस महीने में खर्च की इकट्ठी आवश्यकता पड़ेगी उस मास में व्यय में कोई कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार सर्दी के दिनों में गर्म कपड़े क्रय करने से खर्च और भी अधिक होता है। यदि बजट वार्षिक न हो कर मासिक है तो ऐसी अवस्था में कठिनाई पड़ेगी और फिर उस समय किसी दूसरी मद में से पैसा लेना पड़ेगा। यदि वार्षिक बजट है तो हर मास में से कपड़े के लिये कुछ धन अलग रख दिया जा सकता है और समय पर सरलता से उतना धन व्यय कर सकते हैं।

बचत—पारिवारिक व्यय-तालिका में सारी आय को व्यय में लगा देना बुद्धिमानी नहीं होगी। कुछ धन भविष्य के लिये बचा कर भी रखना चाहिए। आय का कुछ अंश ऐसे स्थान या कार्य में लगा होना आवश्यक है जो भविष्य में काम आये।

अब प्रश्न उठता है कि आय का कितना अंश उसके लिए अलग किया जाना सम्भव होगा? इसका उत्तर इतना सरल नहीं है जितना कि प्रश्न है क्योंकि व्यय का कोई निश्चित नियम तो बनाया नहीं जा सकता है। यह नियम तब कार्यान्वित हो सकता था जब समस्त परिवारों की आय और व्यय समान ही होते, परन्तु ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त कभी भी दो परिवारों की आवश्यकताएँ समान नहीं होती हैं और न व्यय करने का ढंग ही समान होता है। एक परिवार बड़े मकान को अन्य किसी भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है किन्तु दूसरा परिवार भोजन या कपड़े पर अधिक व्यय करना आवश्यक समझता है। कोई एक परिवार बड़े सजधज से रह कर समाज में धनी कहाने का इच्छुक है तो दूसरे को सादा रहन सहन ही उपयुक्त जँचता है। कुछ लोग बहुतेरा कार्य स्वयं कर सकने में समर्थ हैं तो बहुत लोग नौकरों के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त सदा ही प्रत्येक वस्तु का एक मूल्य भी नहीं रहता है जब कि आय लगभग समान रहती ही है। प्रत्येक वर्ष का खर्च भी समान नहीं रहता है। दिन प्रति दिन मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती रहती है जिससे प्रत्येक वर्ष का ब्योरा पिछले वर्ष से कुछ भिन्नता लिये रहेगा ही।

प्रत्यक्ष रूप में इन कारणों से कोई निश्चित रूप से नियम नहीं बनाया जा सकता है। केवल विचार मात्र और मार्ग-निर्देशन के लिये समान परिवार, समान आवश्यकता और समान आय के लोगों के खर्चे का ब्योरा देख कर उसके आधार पर अपने बजट का एक नमूना बनाया जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ प्रत्येक वर्ष एक समान नहीं रहती हैं। जीवन के प्रारम्भिक काल में उत्तरदायित्व कम या नहीं के बराबर ही रहता है। केवल भोजन, कपड़ा तथा रहने को घर की आवश्यकता होती है अतः उन दिनों

बचत के लिए पर्याप्त अवसर होता है। बचत का यह धन भविष्य में काम आता है। ज्यों ही घर में बच्चे हो जाते हैं, खर्च बढ़ता जाता है। सर्व प्रथम तो डाक्टर का बिल बढ़ता है। बच्चे छोटे होने से अन्य आवश्यकताएँ भी बढ़ जाती हैं। साधारणतया नौकर रखना अनिवार्य हो जाता है। फिर बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा का प्रश्न भी उठता है, साथ ही समाज में स्थान पाने की इच्छा अधिक होने लगती है जिससे रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा करना पड़ता है। फिर तो बचत का अवसर ही नहीं रहता है।

इस प्रकार भविष्य का सोच विचार कर के ही व्यय करने से जीवन सुखमय हो सकता है।

खाद्य वस्तुओं में मितव्ययिता—प्रायः मास भर की आवश्यकता के लिए सब खाद्य-वस्तुएँ एक ही बार ले कर नहीं रखी जा सकती हैं। तरकारी और फल तो प्रायः प्रतिदिन ही लेने पड़ते हैं अतः गृहिणी को खाद्य वस्तुओं को दो श्रेणियों में बाँट कर जो वस्तुएँ मास में एक बार ली जा सकती हैं उन्हें मंडी से लेना चाहिए ताकि कुछ सस्ती मिलें। प्रतिदिन उपयोग में लाई जानेवाली वस्तुएँ भी वह या तो स्वयं मंडी से जा कर ले आ सकती हैं अथवा नौकर से ठीक ढंग से मोल भाव करके मँगा सकती हैं और स्वयं भी कभी-कभी बाज़ार से मूल्य का पता लगा कर जाँच करती रह सकती हैं। खाद्य वस्तुओं के क्रय करते समय शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना तो आवश्यक है ही किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बेमौसम की वस्तुएँ ले कर अधिक धन व्यय किया ही जाय। इसी प्रकार कुछ वस्तुएँ गृहिणी स्वयं घर में बना कर अथवा मौसम में सुखा कर रख कर भी बचत कर सकती है। यदि घर में कुछ खुली धरती हो तो गृहिणी तरकारियाँ घर ही में उत्पन्न कर सकती है।

अन्य वस्तुओं के विषय में मितव्ययिता—घरेलू जीवन में केवल भोजन कपड़ा ही तो नहीं है अन्य भी अनेकों वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और मनुष्य प्रत्येक वस्तु उसी समय बाज़ार से ही खरीद कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता है अतः जो नियम खाद्य पदार्थ के लिए लागू हैं वही अधिकांश रूप में अन्य वस्तुओं के लिए भी लागू होते हैं वरन् उससे भी अधिक

क्योंकि मनुष्य खाद्य सामग्री को खरीदने के लिये सस्ती महँगी का विचार कर के खरीदना अधिक समय तक टाल नहीं सकता है। चाहे वह वस्तु सस्ती मिले अथवा महँगी खरीदनी ही होगी किन्तु यह बात अन्य सामग्री के लिए नहीं कही जा सकती है। माँग और पूर्त्ति के नियम को देखते हुए सहज ही मनुष्य अपव्यय से बच सकता है। कुछ कारणों से कुछ महीनों में सामग्री महँगी मिलती है जैसे विवाह के दिनों में क्योंकि माँग पूर्त्ति की अपेक्षा बढ़ जाती है अतः मूल्य का बढ़ना उस समय स्वाभाविक है। कपड़ा, सोना, चाँदी, बर्तन तथा अन्य दूसरी वस्तुएँ गृहस्थी के लिए आवश्यक हैं। इन दिनों माँग बढ़ जाने से वे महँगी हो जाती हैं। यदि पूर्ति कम है तब तो वे वस्तुएँ बेहद महँगी मिलती हैं। ऐसी अवस्था में यदि वे वस्तुएँ बहुत ही आवश्यक नहीं है तो उनकी खरीदारी का टाल जाना ही अच्छा होता है।

घर—गृहस्थ हो अथवा सन्यासी हर दशा में मनुष्य को धूप, हवा, गर्मी, वर्षा तथा चोर डाकू से बचने के लिए चार दीवार का घेरा और ऊपर छत की आवश्यकता होती है। गृहस्थ जीवन में घर की समस्या भी होती है। गृहस्थ सामाजिक व्यक्ति होता है। समाज में उसका अपना एक स्थान होता है अतः सभ्य बन कर रहना उसके लिए अनिवार्य है। मनुष्य की सभ्यता उसके घर के प्रबन्ध से बहुत कुछ सम्बन्धित है। रहन-सहन से ही सभ्यता का प्रदर्शन होता है और वह घर के बनाने-सजाने और उसमें विविध वस्तुओं के रखने पर निर्भर रहती है। साधारण आय वाले व्यक्ति अथवा परिवार के लिए घर की समस्या और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उपयुक्त स्थान न पाने के कारण मनुष्य शहरों में भेड़-बकरी की सी अवस्था व्यतीत कर रहे हैं।

गरीबी के कारण अच्छे घर पाने की सुविधा कम मिलती है और बहुत सी बातों का विचार करना भी मनुष्य के वश से बाहर हुआ जा रहा है परन्तु कुछ आवश्यक बातें ऐसी हैं जिन्हें छोड़ा नहीं जा सकता है क्योंकि दैनिक जीवन में इनका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है।

निचली मंज़िल पर होने से घर के फर्श और दीवार में भी सीलन रहती है जो कि स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। नाली घर से बाहर पानी व

श्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है किन्तु ऐसा कर पाने के लिए दैनिक कार्य-प्रणाली को नियमित करना होगा। प्रातःकाल के कलेवा के समय प्रत्येक व्यक्ति को साथ ही एक स्थान पर बैठ कर एक समय पर जलपान कर लेना चाहिए जिससे कि समय पर वह जगह धुल कर साफ हो सके। बर्तन भी शीघ्र ही साफ किये जा सकते हैं। उसके पश्चात् उसी कमरे में बच्चे अपनी पढ़ाई करने में लग सकेंगे। परन्तु पढ़ने का समय भी नियमित होना चाहिये जिससे गृहिणी फिर वहाँ पर खाने के लिए स्थान ठीक करा सके। बच्चों का काम-काज दोपहर के बाद रहने के कमरे में हो सकता है। उसके बाद रात में सोने के कमरे में बच्चों की पढ़ाई हो सकती है ताकि परिवार के अन्य प्राणियों की बातचीत से बच्चों की पढ़ाई में बाधा न पड़े। खाने का कमरा यदि अलग नहीं है तो खाना रसोई घर में भी खाया जा सकता है किन्तु वह स्थान बहुत स्वच्छ और सुसज्जित रखने की विशेष आवश्यकता होती है क्योंकि भोजन ऐसी जगह खाना चाहिये जहाँ सफाई और सजावट हो तभी भोजन का पूर्णरूप से लाभ होता है। बाहरी आदमी या मित्र मंडली को खिलाने के लिए यह स्थान उपयुक्त न होगा। फिर तो रहने के कमरे में ही भोजन कराने का प्रबन्ध करना होगा। यदि खाना परोसने के लिए नौकर या अन्य कोई व्यक्ति न हो तो गृहिणी को इसमें थोड़ी कठिनाई अवश्य होगी।

सामान रखने का कमरा अंधकारमय नहीं होना चाहिए और सामान ऊँचे पर रखना चाहिए तभी नीचे झाड़ू सफाई से लगाई जा सकती है। यह कमरा रसोई घर के निकट ही हो तो अच्छा है। उसमें आलमारियाँ भी बड़ी-बड़ी हों जिससे बर्तन रखने में सुगमता हो सके। बन्द आलमारी इतनी बड़ी हो कि उसमें अनाज के बड़े-बड़े टिन अवश्य आ जाँय।

रसोई गृह में चारों ओर नाली होना आवश्यक है ताकि उसकी सफाई हो सके। पानी रखने के लिये चबूतरा भी होना आवश्यक है। पानी की आवश्यकता रसोई में हर समय होती है। दो ओर बारीक जाली तथा दरवाजे सहित खिड़की होने से मक्खी से बचाव हो सकता है।

इस प्रकार छोटे घरों को भी कलात्मक ढंग से सजाने पर घरेलू जीवन

सुखी बन सकता है।

गृह प्रबन्ध में श्रम-विभाजन—मनुष्य के इतिहास में सदा से ही स्त्री व पुरुष के गृह कार्य अलग-अलग रहे हैं। हो सकता है कि किसी समय श्रम-विभाजन का प्रकार आर्थिक दशा को देखते हुए प्रत्येक परिवार का भिन्न रहा हो। सभ्यता का भी इसमें विशेष हाथ रहा होगा। किन्तु यह सत्य है कि पुरातन-काल से अब तक साधारणतया पुरुष धन कमाने के लिए और स्त्री गृहकार्य के लिए उत्तरदायी रही। साथ ही बच्चों की देख-भाल भी स्त्रियाँ ही करती आई हैं। अब भी यही प्रथा अधिकांश घरों में प्रचलित है किन्तु आजकल कुछ घरों में कुछ स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही घर की आय बढ़ाने में संलग्न हैं। नगरों में यह प्रथा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। इसका पारिवारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ रहा है। विशेष रूप से यदि बच्चे भी हुए तो अवस्था शोचनीय हो सकती है।

माता-पिता का सम्बन्ध बच्चों के लिए बड़े महत्त्व का होता है। यदि माता-पिता में पारस्परिक प्रेम है तो बच्चों का व्यक्तित्व ठीक ढंग से विकसित होता है अन्यथा नहीं। बच्चों के जीवन में अनेकों करवटें होती हैं। किसी समय माता का सहयोग और कभी पिता का सहयोग महत्त्व रखता है। अतः समय-समय पर दोनों की आवश्यकता होती है। बच्चों की शिक्षा माता-पिता के बीच रह कर ही अप्रत्यक्ष रूप में होती रहती है। वे तभी चरित्रवान व्यक्ति बन सकते हैं जब कि माता-पिता में सहयोग एवं शान्तिपूर्ण प्रेममय सम्बन्ध हो।

घर का प्रबन्ध भी स्त्री के ही कन्धों पर रहता है। यद्यपि धनी परिवार में नौकर ही अधिकांश कार्य करते हैं तथापि स्त्री को इसमें दक्ष होना अनिवार्य है। भले ही वह दफ्तर, कालेज, स्कूल अथवा हस्पताल में कार्य करती हो। उसे आवश्यकता, अति आवश्यकता, अनावश्यकता का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तभी वह दोनों ओर के कार्य को निभा सकती है। कार्य कब, किसके द्वारा और किस प्रकार हो यह निर्णय करने की शक्ति का उसमें होना अनिवार्य है। यदि स्त्री विचारशील है तो उसे इस कठिनाई को सुलझाने के लिए अनेकों मार्ग मिल सकते हैं।

स्त्री को ऐसी योजना बनानी होती है कि जिससे उसके सुख-प्राप्ति का

मुख्य ध्येय सफल हो। यह तभी हो सकता है जब कि वह अपनी परिस्थिति के अनुसार ही योजना बनाये। गृहस्थ जीवन की परिवर्तित होने वाली समस्याओं के अनुसार ही स्त्री में भी बदलते रहने की क्षमता होनी चाहिये।

प्रत्येक परिवार की परिस्थिति समान नहीं होती है और गृह प्रबन्ध भी इन्हीं परिस्थितियों पर निर्भर होता है। फिर भी कोई ऐसा ढंग अपनाना होता है जो कि प्रत्येक परिस्थिति, स्थान एवं समय पर लागू हो सके।

स्त्रियों की प्रत्येक कार्यवाही में आय, समय और शक्ति का संतुलन अनिवार्य है। यदि आय कम है तो भोजन सादा होते हुए भी स्वास्थवर्धक होना चाहिये। संतुलित भोजन जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। कपड़े पर व्यय आय के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है किन्तु कम से कम कपड़े आराम के लिए, सर्दी से बचने के लिए तथा सभ्य बनने के लिए आवश्यक हैं। जो व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करते हैं उनका पारिवारिक जीवन कष्ट-मय हो जाता है। वे लोग चिड़चिड़े और घबराये रहते हैं। उनका जीवन असह्य हो जाता है। अच्छे ढंग से प्रबन्ध करने वाली स्त्री वह है जो प्रत्येक कार्य ढंग से समय पर समाप्त कर कुछ समय मनोरंजन के लिए भी निकाल लेती हैं।

जो स्त्रियाँ बाहर नौकरी करती हैं वे चाहे आर्थिक कठिनाई अथवा स्वतन्त्रता की चाह या अन्य किसी कारण से बाध्य हो कर कार्य करें, उन्हें प्रत्येक कार्य बड़ी सतर्कता से करना चाहिये। इसके लिए स्त्री को स्वयं पहले अपनी परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा।

घर के कार्य के सम्बन्ध में भी परिस्थितियाँ कार्य-प्रणाली निर्धारित करने को प्रभावित करती हैं।

प्रत्येक कार्य नियमित ढंग से करने से स्त्री का कार्य कम हो सकता है। समय पर खाना, समय पर सोना और समय-समय पर हित सम्बन्धियों से मिलना भी आवश्यक है। इस प्रकार कुछ समय स्त्री को अपने पति के साथ बैठने के लिये भी मिल सकता है क्योंकि पति जब दिन भर का थका घर पर आता है तो घर का वातावरण प्रसन्नता का होने से वह भी प्रसन्न हो सकता है। उस समय पत्नी के कार्य में व्यस्त होने से पति के पास बैठ कर उसका मन बहलाव न कर

पाने पर धीरे-धीरे पति का मन घर से उचटने लगता है और वह कहीं अन्यत्र अपने मन बहलाने का स्थान ढूँढने लगता है। इससे दोनों के जीवन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

बच्चों के लिए भी प्रत्येक कार्य के लिए समय निर्धारित होना आवश्यक है। सुबह जल्दी उठना, तैयार होना, समय पर पढ़ने बैठना और भोजन करके स्कूल जाने की शिक्षा गृहिणी के ही द्वारा मिलती है। यदि वह कोई भी कार्य अनियमित रूप से करते हैं तो स्कूल भी समय से नहीं पहुँच सकते हैं। इस समय वे भावी जीवन की तैयारी करते हैं अतः भविष्य में वह सदा के लिये अनियमित बन कर अपना जीवन दुखी बना लेते हैं। जो गृहिणी सुघड़ होती है वह अपना कार्य घड़ी की सुई के समान ही नियमित कर लेती है। यहाँ तक कि आय बढ़ जाने से नौकरों द्वारा काम होने पर भी समय का बन्धन नहीं त्यागती है।

शारीरिक शक्ति को लोग अधिक महत्त्व घरों में नहीं देते हैं किन्तु यह ऐसी अनावश्यक बात नहीं है कि टाली जा सके। कार्य इस प्रकार और इतना ही करना चाहिए कि शरीर थके नहीं। कभी-कभी मितव्ययिता की दृष्टि से बहुत कुछ काम ऐसे भी कर लिये जाते हैं जो नौकरों से या किसी को कुछ पैसे दे कर कराये जा सकते हैं परन्तु स्वयं शरीर उनके लिये अयोग्य है। उसका परिणाम भयंकर भी हो सकता है। बीमार पड़ जाने से व्यय भी अधिक होता है, स्वास्थ्य की भी हानि होती है। अतः ऐसे काम कुछ दे कर किसी से करा लेना ही श्रेयस्कर होता है। जिन घरों की आय कम है वहाँ स्त्रियों को कपड़े भी धोने होते हैं, घर की देख-रेख भी करनी होती है, घर की सफाई और उसे शक्ति अनुसार सजाना भी होता है, घर के प्रत्येक प्राणी की सुख-सुविधा का प्रबन्ध करना तो होता ही है साथ ही मित्र सम्बन्धी हितैषी भी आते रहते हैं।

वर्तमान काल में स्त्री को भी उतने ही अधिकार हैं जितने पुरुष को। अतः स्वाभिमान न खो कर उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। घरेलू जीवन में ही अपने को घेर लेने से अन्य शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। इससे भी जीवन असंतुलित हो जाता है। स्त्री को अपने अधिकार, उत्तरदायित्व, कर्तव्य और साधन सभी का प्रयोग संतुलित रूप में करना चाहिये। घर में अपना

उपयुक्त स्थान बना कर ही वह घर का प्रबन्ध कर सकती है।

अपने को पुरुष अथवा घर के अन्य व्यक्तियों के सामने झुका देना ही सब कुछ नहीं है वरन् समयानुसार ही अपने आप को घर की मर्यादा पर न्योछावर करना अच्छा होता है।

जो स्त्री घर में रहती हैं वह घर का काम तो करती ही रहती हैं परन्तु जो स्त्रियाँ बाहर नौकरी भी करती हैं उन्हें नौकरों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बच्चों की देखरेख भी नौकर ही करते हैं। ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम समय घर पर दे पाती हैं। नौकर मनमाना कार्य करते हैं। बच्चे भी अपने को परित्यक्त समझने लगते हैं जिससे उनके भावी जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन स्त्रियों को बाहर निर्धारित घंटों में ही कार्य करना होता है उनको ऐसी असुविधा नहीं हो सकती है। जैसा कि हम कह चुके हैं उन्हें अपने कार्यों को नियमित बना लेना चाहिए। प्रातः और सायंकाल का समय यदि वह अपने कार्यों में बाँट लें और नियम-पूर्वक प्रत्येक कार्य की देखरेख करें तो सभी बातें बहुत कुछ सहज हो सकती हैं। असन्तोष का फिर कोई कारण नहीं होता है।

घर में सब से पहले पति का स्थान आता है। गृहस्थ जीवन में दो प्राणी वैवाहिक बन्धन में बँध कर समाज में उतरते हैं। दोनों मिल कर ही समस्याओं को सुलझाते हैं और उत्तरदायित्व भी दोनों का समान ही होता है। अतः दोनों का सलाह और सहयोग के साथ ही कार्य करना सुखकर हो सकता है। तभी जीवन में सुप्रबन्ध द्वारा सुख व शान्ति प्राप्त होती है। स्त्री का उत्तरदायित्व गृह-प्रबन्ध में अधिक होता है। उसे पति का सहयोग सहज ही प्राप्त नहीं होता है।

प्रत्येक मनुष्य घर में सुख शान्ति चाहता है। अतः वातावरण को शान्त व मनोरंजक बनाने का पूर्ण प्रयत्न स्त्री को करना चाहिये। जब इस प्रकार पति का मन घर में ही लगा रहेगा तो वह स्त्री को उसके कार्यों में सहयोग भी दे सकेगा। जो बच्चे कुछ बड़े हों, समझने वाले हों उन्हें भी घरेलू योजना बनाते समय अपने साथ मिला लेना चाहिये। इससे बच्चों की गृह निर्माण सम्बन्धी शिक्षा यहीं से आरम्भ हो जाती है। ऐसी दशा में बच्चों को स्वयं भी घर की आय तथा परिस्थितियों का ज्ञान होता रहता है जिससे माता-पिता के

प्रति वे सहानुभूति रखने लगते हैं। साथ ही अपनी माँ की कार्य-पटुता का आदर करने की भावना भी उनमें आने लगती है और पिता के बाहरी कार्य-कलापों को भी वे जानने लगते हैं जिससे उनका ज्ञान विस्तृत हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बच्चों को घरेलू झंझटों से बोझीला बना दिया जाय वरन् उनके सामने प्रत्येक योजना इस ढंग से रखनी चाहिये कि वे अपने भावी जीवन के उत्तरदायित्व को समझने लगें अथवा भावी जीवन की वास्तविकता उनसे अज्ञात न रहे, मनुष्य के परिश्रम का मूल्य समझ सकें और माता-पिता को व्यर्थ हैरान न करें एवं नौकरों का भी आदर उनके हृदय में रहे।

गृहिणी को मासिक व्योरे के अनुसार महीने भर की खाद्य सामग्री इकट्ठी मँगा लेनी चाहिये। फिर एक दिन अवकाश के समय उसे साफ करवा कर यथोचित स्थान पर लगवा देना चाहिए। यदि भोजन तैयार करने का भार नौकर पर है तो एक दिन सामान नाप कर उसे बता दे कि उसे कितना खर्च करना है जिससे नौकर को अधिक खर्चने का साहस ही न हो। इसके अतिरिक्त भी नित्य आधा घण्टा रसोई गृह में देना अनिवार्य है क्योंकि नौकर कभी सफाई की परवाह नहीं करते हैं। अतः इस कार्य का स्वयं निरीक्षण करना आवश्यक है। इससे गृह-प्रबन्ध और भोजन दोनों में ही सुधार हो सकता है। पति को भी सन्तोष रहता है कि स्त्री गृह-प्रबन्ध तथा उसकी सुख-सुविधा की ओर ध्यान देती है।

बच्चों की देखरेख में भी थोड़ा सा समय लगाना अनिवार्य है जिससे उनके भोजन करने, वस्त्र पहनने और स्कूल जाने के समय में तथा घर का पाठ पढ़ने में कोई गड़बड़ी न हो।

पति को भी स्त्री के कामों में यथा शक्ति उसका हाथ बटाना चाहिए।

स्त्री सायंकाल के समय जब अपनी नौकरी से वापस आये तो उसे थोड़ा सा आराम करने के बाद ही देखना होगा कि बच्चों तथा पति के लिए जलपान का प्रबन्ध ठीक है। स्वयं भी उन सब के साथ बैठ कर प्रसन्न मन से जलपान ग्रहण करना चाहिए तथा उस समय का वातावरण बहुत ही मनोरंजक बनाना चाहिये क्योंकि सभी थके होते हैं। मनोरंजक तथा प्रसन्न वातावरण से ही उस थकान को दूर किया जा सकता है।

अध्याय ६

शिशु-पालन

माता की देखरेख—बालक के जीवन का आरम्भ माता के गर्भ में होता है। यद्यपि उसमें पिता का भी अंश होता है किन्तु उसके शरीर एवं स्वास्थ्य का आधार बहुत कुछ माता का शरीर और स्वास्थ्य ही होता है अतः माता को तथा अन्य व्यक्तियों को उसकी जब कि वह गर्भवती हो, देख-रेख अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिए क्योंकि उसी पर बालक का भविष्य निर्भर होता है। शरीर और स्वास्थ्य बहुत कुछ ठीक ढंग से और ठीक प्रकार का भोजन करने पर निर्भर रहता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि गर्भवती स्त्री को क्या खाना चाहिए किन्तु यह देखना भी आवश्यक है कि उसे किस प्रकार खाना चाहिए। यूँ तो आवश्यकता से अधिक खाना भी हानिकर हो जाता है किन्तु पिछले महीनों के अतिरिक्त अन्य सब मासों में ठीक से ही भोजन करना चाहिए। प्रथम कुछ मासों में गर्भवती स्त्री को प्रायः बदहज़मी, वमन आना आदि रोग हो जाते हैं। कभी-कभी तो इसका कारण आवश्यकता से अधिक भोजन करना अथवा ठीक समय पर और ठीक ढंग से भोजन न करना भी हो सकता है।

दिन में तीन बार खाना पर्याप्त होता है। भोजन समय पर ही करना चाहिए। प्रायः हमारे देश में स्त्रियाँ खाने का कोई समय ही नहीं रखती हैं। कभी प्रातः १० बजे पुरुषों के जाने के पश्चात् ही भोजन हो गया तो कभी दो बजे दोपहर को। भोजन का समय ठीक होना चाहिए। यूँ तो प्रायः सब कार्य समय पर करने चाहिए किन्तु भोजन समय पर किया जाना तो अत्यन्त आवश्यक है। गर्भवती स्त्री को दूध, फलों का रस, फल आदि अवश्य खाना चाहिए। यदि वह सामिष भोजी हों तो अंडा, मांस, मछली आदि भी खाया जा सकता है अन्यथा पनीर, दूध, दही आदि खाना चाहिए। मक्खन, मलाई, गेहूँ, तरकारियाँ, बिना पौलिश किया हुआ चावल तथा अन्य अन्न भी

खाए जा सकते हैं। प्रायः तरकारियों को कम पानी में अथवा बिना पानी के ही पका कर खाना चाहिए। गर्भवती स्त्री को अधिक विटामिन, कैलशियम, प्रोटीन आदि की आवश्यकता होती है और इस सम्बन्ध में हम सविस्तार चर्चा कर ही चुके हैं।

गर्भवती स्त्री को कोष्ठबद्धता से बचना चाहिए। दिन में एक बार तो मल त्याग करना ही चाहिए और मल का भली प्रकार निकल जाना ही अच्छा होता है। मल सख्त भी नहीं होना चाहिए ताकि उसके त्याग करने में कष्ट न हो। दस्त आना भी अच्छा नहीं होता है।

गर्भवती स्त्री को गर्भ के छठे मास से दूध लाने की तैयारी करनी चाहिए। भोजन अच्छा होने से तथा गर्भवती स्त्री के स्वस्थ होने पर दूध उतरता ही है। छठे मास से स्त्री को स्तन भली प्रकार स्वच्छ रखने चाहिए तथा उनके अग्रभाग को साबुन एवं पानी से भली प्रकार धोकर स्वच्छ कर देना चाहिए। यदि अग्रभाग दबा हुआ हो तो उसे उभारने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि बालक को कष्ट न हो।

गर्भवती स्त्री के दाँतों के खराब होने का भी भय रहता है अतः दाँतों की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान देते रहना चाहिए। यदि सम्भव हो तो दाँतों के डाक्टर को भी दिखा लेना चाहिए।

गर्भवती स्त्री के लिए स्वच्छ वायु तथा व्यायाम की बहुत आवश्यकता होती है। गर्भ के पिछले मासों तक भी खुली वायु में व्यायाम तो करते ही रहना चाहिए। स्वच्छ वायु और धूप की तो गर्भवती स्त्री को बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इस अवस्था में व्यायाम हलका होने चाहिए। भारी वस्तुएँ उठाना, अधिक ज़ोर से दौड़ना आदि हानिकर भी हो सकता है।

अन्य कष्ट—गर्भवती स्त्री को प्रथम कुछ मासों में कुछ और भी कष्ट हो जाते हैं। यदि उन दिनों में स्निग्धता कम ली जाए तो प्रायः वमन होना आदि कम होता है। कुछ दिन पश्चात् दोपहर के भोजन में थोड़ी-थोड़ी वसा अथवा स्निग्धता रखी जा सकती है और फिर धीरे-धीरे स्निग्धता की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। यदि वमन कष्ट अधिक हो तो डाक्टर को दिखाया जा

सकता है किन्तु प्रायः तीन चार मास पश्चात् यह कष्ट अपने आप ही ठीक हो जाता है। प्रायः गर्मियों में तो नीबू का शरबत पीना अच्छा रहता है।

यदि कलेजे में जलन होती हो तो मिर्च, मसाले आदि की मात्रा भोजन में कम कर देनी चाहिए तथा नीबू का पानी अर्थात् पानी में नीबू निचोड़ कर पीना अच्छा रहता है। यदि पैर आदि शीघ्र सो जाते हों तो शरीर को ठंड से बचाना तथा धीरे-धीरे मल देना अच्छा रहता है। नीचे पैर लटका कर बहुत देर तक बैठना भी अच्छा नहीं होता है अतः पलंग आदि पर पैर ऊपर उठा कर ही बैठना चाहिए।

दिखाई कम देना, पैरों आदि का सूज जाना और पर्याप्त विश्राम करने पर भी सूजन न उतरना, लगातार सिर में दर्द रहना, दिन के समय बहुत अधिक वमन होना, मूत्र त्याग कठिनाई से होना तथा ऐसा करते हुए कष्ट अथवा पीड़ा होना, रक्त-स्राव होना आदि लक्षण कठिन परिस्थिति के संकेत हो सकते हैं अतः ऐसी अवस्था में डाक्टर को दिखा लेना चाहिए।

प्रसव कालीन आवश्यकताएँ—प्रायः निम्नलिखित वस्तुओं की प्रसव काल में आवश्यकता होती है :—

२ मेकन्टोश शीट ३ फूट × ४ फुट ६ इंच।
२ पलंग की चादरें।
२ पैकेट चौड़ा सफेद फीता।
२ पैकेट रुई जो कि प्रायः डाक्टरी प्रयोग में आती है।
२ अथवा अधिक पैकेट सैन्टरी टावल।
एक छोटी बोतल कैस्टर आयल।
एक छोटी बोतल ओलिव आयल।
तीन चार चिलमचियाँ।
२ या ३ बड़े जग।
१ बेड पेन।
१ एनीमा का बर्तन।
१ पैकेट स्टेराइल वुल।

चार इंच चौड़ी क्रेप पट्टी।
एक छोटी बोतल डिटोल।
स्टार्च और बोरिक पाउडर।
१ गर्म पानी की बोतल।
१ पालना अथवा झूला।
२ अथवा ३ कम्बल।
२४ × १२ इंच का रबड़।
२ अथवा ३ शालें।

४ छोटे-छोटे बच्चों के तकिए। बच्चों के लिए परों का तकिया ठीक नहीं रहता है अतः नरम रुई का ही तकिया होना चाहिये। बालक के प्रयोग में आने वाले तौलिये आदि नरम ही होने चाहिए क्योंकि बालक की त्वचा अत्यधिक कोमल होती है। बच्चे के कपड़े भी ढीले-ढाले तथा ऐसे होने चाहिए जो कि ६ मास तक चल सकें और उसकी बाढ़ में भी बाधा न दें।

दूध पिलाना—बालक को माता का ही दूध पिलाना चाहिए। यदि किसी विशेष कारण से जैसे कि माता की अत्यधिक रोगावस्था आदि न हो तो बालक के लिए माता के दूध से बढ़ कर और कोई भोजन हो ही नहीं सकता है। यदि भोजन ठीक मिलता रहे और जल भी पर्याप्त मात्रा में मिलता रहे तो माता के दूध भी अवश्य ही ठीक उतरता है। स्तन पर कड़ा और सख्त कपड़ा नहीं बाँधना चाहिए। बालक के चूसने से ही स्तन से स्वाभाविक ढंग से दूध का प्रवाह होता है। ऐसा करने में देर होने पर दूध उतरना कठिन भी हो जाता है। प्रायः दूध तीसरे, चौथे अथवा पाँचवें दिन ठीक से उतरता है। प्रसव के बारह घंटे तथा एक दिन पश्चात् बच्चे को दोनों ही स्तन तीन-तीन चार-चार घंटे बाद देना चाहिए। पहले दिन दो मिनट तक बालक को दूध देना चाहिए और फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाना चाहिए और एक समय में १० मिनट से अधिक एक स्तन नहीं देना चाहिए। कमज़ोर अथवा समय से पूर्व उत्पन्न हुए बच्चे को जल्दी-जल्दी दूध देना चाहिए। रात को साधारणतया एक बार दूध देना चाहिए किन्तु डाक्टर के आदेशानुसार अधिक बार भी दिया जा

सकता है। अच्छा तो हो कि हर बार स्तन-पान से पूर्व और पश्चात् स्तन को भली प्रकार धोया जाय। स्तन से दूध टपकते रहना अच्छा नहीं होता है। उससे बालक को दस्त आदि भी हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में डाक्टर से भी राय ली जा सकती है।

दूध पिलाने वाली माता के भोजन की चर्चा तो हम यथास्थान कर ही चुके हैं। दूध पिलाने के समय तक यथासम्भव माता को चिन्ता, क्रोध, उत्तेजना, थकान से बचना चाहिए तथा दूध पिलाते समय शान्त होना चाहिए तथा एकान्त में ही बच्चे को दूध पिलाना चाहिए। दूध पिलाते समय बातचीत भी नहीं करना ही अच्छा रहता है। बालक को गोद में ले कर दूध पिलाना ही ठीक होता हैं।

प्रायः बालक को थोड़े-थोड़े काल पश्चात् तौलते रहना चाहिए। तौल की कुछ माप तो हम पहले दे ही चुके हैं। साधारणतया चार से आठ आउंस तक प्रति सप्ताह बालक का शरीर-भार बढ़ना चाहिए। यदि इसमें अधिक अन्तर हो तो तुरन्त डाक्टर को दिखाना चाहिए।

प्रायः बालक अपनी आवश्यकता के अनुसार दूध पाँच से ले कर दस मिनट तक में पी लेते हैं अतः उसे २० मिनट से अधिक देर तक दूध नहीं पिलाना चाहिए किन्तु दुर्बल अथवा समय से पूर्व उत्पन्न बच्चों के लिए डाक्टर की सम्मति पर निर्भर रहा जा सकता है। आवश्यकता से अधिक दूध पीने अथवा दूध पीते हुए वायु निगल जाने से अपाचन हो सकता है। शरीर भार के बहुत अधिक बढ़ जाने का कारण आवश्यकता से अधिक दूध पी लेना और पीते ही रहना हो सकता है। कुछ काल पश्चात् ऐसी दशा में भार बहुत ही कम बढ़ने लगता है तथा कभी-कभी तो घटने भी लगता है। क्योंकि अपाचन कुछ काल पश्चात् अपना रूप दिखाने लगता है। यूँ कुछ अधिक स्वस्थ बालकों का शरीर-भार प्रति सप्ताह ८ आउंस से अधिक भी कभी-कभी बढ़ सकता है और वह चिन्ता का कारण नहीं भी हो सकता है।

दूध पीने के पश्चात् एक आध चम्मच वमन आ जाना अथवा दूध निकल जाना चिन्ता की बात नहीं है क्योंकि यह वायु भीतर चले जाने से हो

सकता है। अपाचन में तो पेट में दर्द, बेचैनी और नींद न आना दिखाई देता है। कभी-कभी दिन में अकारण ही बहुत से दस्त आने लगते हैं। यूँ दिन में तीन बार मल त्याग करना स्वाभाविक होता है। भारी हरे दस्त अथवा सफेद फटा दूध सा मल में निकलना अपाचन के कारण ही होता है।

दूध आवश्यकता से कम देना भी हानिकर होता है। ऐसी अवस्था में बालक को कोष्ठबद्धता का शिकार होना पड़ता है और कभी-कभी तनिक से हरे दस्त भी आते हैं। शरीर-भार कम बढ़ता है अथवा बढ़ता ही नहीं है। बालक दूध का समय होने से आधे घंटे पूर्व ही ज़ोर से रोने-चिल्लाने लगता है। कभी-कभी अँगूठा भी इसीलिए चूसता है और फिर ऐसी दशा में केवल थपकने, गोद में लेने अथवा पानी पिलाने से चुप नहीं होता है। दूध रहित स्तन को चूसते रहने से भी वमन हो जाता है तथा पेट में वायु हो जाती है।

माता को अपना दूध यदि कम होता हो तो उसे बढ़ाने का उपाय करना चाहिए। उसे अच्छा भोजन तो करना चाहिए किन्तु बहुत अधिक नहीं खा जाना चाहिए। चिन्ता, क्रोध आदि से तो बचना ही चाहिए बहुत अधिक परिश्रम करके थकान भी नहीं ले लेनी चाहिए। दूध पिलाने के बाद तथा अन्य समय जब भी अवकाश हो लेटना चाहिये। सूर्य के प्रकाश और स्वच्छ वायु में जहाँ तक हो सके रहना तथा मन को शान्त रखना चाहिये तथा छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होने की आदत त्याग देनी चाहिए। दूध प्रतिदिन नियमित रूप से पिलाते रहना चाहिए। एक आध बार छोड़ देने से भी दूध कम उतरने लगता है। यदि बच्चे के लिए पूरा दूध नहीं उतरता है तो पहले बच्चे को दोनों स्तन पिला देने चाहिये फिर तुरन्त ही ऊपर का दूध देना चाहिये।

बालक यदि ऊपर का दूध पी सकता हो तो उसे चम्मच से ही पिलाना चाहिये। दूध की बोतल से पिलाने का स्वभाव डालना अच्छा नहीं होता है। बोतल का स्वभाव पड़ जाने पर बालक माता का दूध पीना भी कभी-कभी पसन्द नहीं करता है अतः ऊपर का दूध पिलाना ही हो तो चम्मच से ही पिलाना चाहिए। दो-तीन बार दूध पिलाने के पश्चात् स्तनों को बारी-बारी से गर्म और ठंडे पानी से धो कर मालिश करना अच्छा रहता है। पाँच मिनट

तक धो कर नीचे से स्तन की घुंडी की ओर मालिश करनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो तनिक सा ओलिव तेल अँगुलियों की पोरों में लगा लेना चाहिए। यदि बालक को दूध पीने में कठिनाई होती है तो डाक्टर को दिखाना चाहिये। यदि बालक एक दम कुछ सैकेंड जोर से दूध पी कर फिर बिलकुल छोड़ देता है तो भी डाक्टर को दिखा लेना अच्छा ही है।

यदि स्त्री पुनः गर्भवती हो गई हो तो उसे बालक को दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि रजस्वला होने पर भी बालक को दूध न पिलाया जाए।

ऊपर का दूध—यद्यपि माता का दूध ही बच्चे के लिए सर्वोत्तम भोजन है किन्तु कभी-कभी माता के रोगी हो जाने पर अथवा कुछ अन्य कारणों से बालक को ऊपर का दूध देना पड़ता है। ऐसी अवस्था में गाय का ताजा दूध अन्य पशुओं के दूध की अपेक्षा अधिक ठीक रहता है।

बालक को उसके शरीर के भार के प्रत्येक पाउंड के लिए २½ आउन्स के हिसाब से दूध २४ घंटे में मिलना चाहिए। कुल मिला कर दिन भर में उसे अपने शरीर-भार के पाउंड की गिनती से २½ आउंसों की गिनती में दूध मिलना चाहिए। यह दूध ४, ५ अथवा ६ बार में देना चाहिए। आरम्भ में ६ बार और फिर धीरे-धीरे ५ और ४ बार कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ—८ पाउंड शरीर-भार वाले बालक को ८ × २½ = २० आउंस दूध २४ घंटे में मिलना चाहिए। यदि उसे दूध ४ घंटे पश्चात् दिया जाता है तो ५ बार दिया जायेगा। एक बार रात्रि में और चार बार दिन में। प्रत्येक बार उसे ४ आउंस दूध दिया जायेगा।

२½ आउन्स दूध बनाने के लिए गाय का ताजा दूध उबाल कर १½ आउंस ले लीजिए उसमें एक आउंस उबाल कर पानी मिला दीजिए और एक चाय के चम्मच भर चीनी मिला दीजिए। यदि डाक्टर के आदेशानुसार 'कौडलिवर आयल' आदि कुछ और देना हो तो वह पृथक् से ही देना चाहिए।

दूध छुड़ाना—बालक को दूध छुड़ाने से पूर्व थोड़ा कुछ अन्य भोजन देना आरम्भ कर देना चाहिए जैसे फलों का रस। यदि बालक को माता का दूध

नहीं मिलता है तो भी उसे प्रति दिन फलों का रस मिलना चाहिए। पहले मास में बालक को प्रति दिन एक चम्मच भर सन्तरे का रस दिया जा सकता है और धीरे धीरे छटे मास तक तीन चम्मच तथा एक वर्ष तक ६ चम्मच किए जा सकते हैं। एक चम्मच सन्तरे का रस एक चम्मच पानी में मिला कर दिन में दो-तीन बार दूध पिलाने से आधे घंटे पहले देना चाहिए।

कौड-लिवर आयल भी डाक्टरों के मतानुसार दिया जाता है। ½ छोटा चम्मच पहले मास में और १ चम्मच दूसरे मास में दे सकते हैं तथा ९ वें मास तक २ चम्मच तक ले जा सकते हैं। इसे भी दिन में तीन-चार बार थोड़ा-थोड़ा करके देना चाहिये।

तरकारियों का सूप भी थोड़ा-थोड़ा दिया जा सकता है किन्तु यह ६ मास पश्चात् देना चाहिए। ६ मास पश्चात् तो तनिक सा चावल अथवा लखरी रोटी का छोटा सा टुकड़ा भी चूसने को दिया जा सकता है। इससे दाँत निकलने में भी सहायता मिलती है।

दूध छुड़ाने में चार-पाँच सप्ताह तो लग ही जाते हैं। ऊपर का दूध बोतल से न दे कर चम्मच और कटोरी में देना चाहिये। पहले ऊपर का दूध उसी प्रकार बना कर देना चाहिए जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। कुछ काल पश्चात् दूध ६ आउंस और पानी २ आउंस के हिसाब से दिया जा सकता है। फिर धीरे-धीरे पानी का भाग कम करते जाना चाहिए।

पाँचवें मास से बालक को माता के दूध के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ तनिक सी खीर आदि देना आरम्भ करना चाहिए। लगभग ९ वें मास तक बालक भली प्रकार पका हुआ चावल तथा अन्य अन्न, केला आदि भी तनिक सा खाने लगता है। ६ मास के आसपास से बालक को चबाने की वस्तु देनी चाहिए क्योंकि यह दाँत निकालने में सहायक होती है। दूध छुड़ाते समय माता को जल कुछ कम पीना चाहिए तथा प्रातःकाल थोड़ा सा नमक खा लेना चाहिए।

बालक का शरीर—प्रायः नवजात शरीर की अस्थियाँ, उसकी त्वचा आदि अत्यन्त कोमल होती हैं। बच्चे की अस्थियों के सिरे भी उपास्थियों से बने होते हैं। बालक की कलाई और पैर की अस्थियाँ अधबनी ही होती हैं और

उसके कपाल की अस्थियाँ भी अधबनी एवं कोमल होती हैं। कपाल में ६ स्थानों पर तो अस्थियों के स्थान पर केवल झिल्लियाँ ही होती हैं। जन्म के समय बालक के सिर का घेरा ही शरीर भर में सब से अधिक होता है। वक्ष का घेरा प्रायः उससे आधा इंच कम होता है किन्तु धीरे-धीरे वक्ष का घेरा सिर के घेरे से बढ़ जाता है। पेट और वक्ष का घेरा प्रायः एक ही सा होता है। उसके सिर के कोमल बाल गिर जाते हैं और दूसरे नवीन बाल उनके स्थान पर आ जाते हैं। यूँ भी सिर के बाल मुंडन कर्म करके मुँड़वा देने का प्रचलन भी है।

नवजात शिशु की सब ही इन्द्रियाँ अत्यन्त कोमल और बाह्य जगत के वातावरण के लिए अनभ्यस्त होती हैं। प्रथम कुछ सप्ताह तो बच्चा प्रकाश सहन ही नहीं कर पाता है क्योंकि उसके नेत्र बहुत ही कोमल होते हैं। प्रथम सप्ताह के अन्त तक वह प्रकाश को कुछ कुछ सहन करने लगता है और चौथे मास तक तो सब कुछ देखने लगता है।

प्रायः २४ घंटे तक बालक सुन नहीं पाता है किन्तु धीरे-धीरे तीसरे अथवा चौथे मास तक शब्द सुनने अर्थात् उसकी ध्वनि-दिशा जानने लगता है।

स्पर्श-शक्ति बालक में जन्मकाल से ही थोड़ी बहुत होती है। सम्भवतः यह शक्ति उसके होठ और जिह्वा में अधिक होती है क्योंकि इन्हीं से वह चूसने का काम करता है।

सम्भवतः वह स्वाद और गन्ध का अनुभव बहुत ही शीघ्र करने लगता है। बालक की गरदन चौथे मास से टिकने लगती है और वह वस्तुओं को पकड़ने का यत्न करने लगता है। प्रायः छठे मास में शिशु बैठने लगता है और नवें मास में सहारा ले कर खड़ा होने लगता है। फिर धीरे धीरे १०, ११ मास तक चलना सीखने लगता है। प्रायः इसी काल में वह बोलना भी आरम्भ करता है और दूसरे वर्ष के अन्त से पूर्व ही थोड़ा बहुत बोलने लगता है।

हमारे देश में प्रायः बालक जन्म के समय ६ या ७ पौंड का होता है। प्रथम तीन दिन में उसका शरीर भार नहीं बढ़ता है किन्तु फिर ५ अथवा ६ मास तक कम से कम ५-८ औंस के हिसाब से उसका शरीर-भार बढ़ता जाता है। पाँच मास पश्चात् बालक का शरीर-भार जन्मकाल से दुगना और एक